महाकवि भारवि कृत

# किरातार्जुनीय महाकाव्य

[मूल पाठ, अन्वय, मूलानुगामी अर्थ, सरलार्थ एव गूढ भावो तथा काव्य-सौन्दर्य को सुस्पष्ट करने वाली सक्षिप्त टिप्पणी समेत]

अनुवादक एव सम्पादक
**श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री**

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-६

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज वाराणसी के
स्वनामधन्य प्राध्यापक विश्वविश्रुत
प्रकाण्ड वैयाकरण दिवंगत गुरु-
देव देवनारायण त्रिपाठी जी
( तिवारी जी ) की पावन
स्मृति में, उन्हीं के एक
स्नेहाङ्कित अन्तेवासी
की सप्रेम सादर
श्रद्धाञ्जलि ।

●

# विषय सूची


| | |
|---|---|
| कवि और काव्य परिचय | १ |
| किरातार्जुनीय की कथा | ६ |
| कवि परिचय | ३४ |
| जीवनवृत्त सम्बन्धी दन्तकथा | ३६ |

---

प्रथम सर्ग

| | |
|---|---|
| युधिष्ठिर के पास वनेचर का आगमन | १ |
| वनेचर का युधिष्ठिर से दुर्योधन का वृत्त निवेदन | ३ |
| युधिष्ठिर का द्रौपदी समेत अपने भाइयो से वनेचर द्वारा प्राप्त रहस्य का कथन | १६ |

द्वितीय सर्ग

| | |
|---|---|
| भीमसेन का युधिष्ठिर से वार्तालाप | २७ |
| युधिष्ठिर का भीमसेन को समझाना | ३६ |
| वेदव्यास का पाण्डवो के समीप आगमन | ५२ |

तृतीय सर्ग

| | |
|---|---|
| युधिष्ठिर द्वारा वेदव्यास का स्वागत और वेदव्यास का उपदेश | ५५ |
| वेदव्यास द्वारा अर्जुन को इन्द्र की उपासना करने का आदेश | ६४ |
| द्रौपदी का अर्जुन को तपस्या करने के लिए प्रेरित करना | ७१ |

चतुर्थ सर्ग

| | |
|---|---|
| अर्जुन का तपस्या के लिए प्रस्थान और शरद वर्णन | ८० |

पञ्चम सर्ग
हिमालय वर्णन ... ... ६६
कैलास वर्णन ... ... १११

षष्ठ सर्ग
इन्द्रकील पर्वत का वर्णन ... ... १२१
अर्जुन की तपश्चर्या का प्रारम्भ ... ... १२७
अनुचरो का इन्द्र से अर्जुन के तप का वर्णन और इन्द्र द्वारा अर्जुन की परीक्षा लेने का निश्चय ... ... १३२

सप्तम सर्ग
इन्द्र के आदेश से अप्सराओ का गन्धर्वों के साथ अर्जुन की परीक्षा के लिए प्रस्थान ... ... १४०

आठवाँ सर्ग
गन्धर्वों के साथ अप्सराओ का वन विहार ... ... १५७
अप्सराओ और गन्धर्वों की जलक्रीडा ... ... १६६

नवाँ सर्ग
सन्ध्या वर्णन ... ... १८१
चन्द्रोदय वर्णन ... ... १८७
रति-क्रीडा वर्णन ... ... १६४

दसवाँ सर्ग
प्रभात वर्णन ... ... २१३
अप्सराओं का अर्जुन का दर्शन करके मुग्ध होना तथा वसन्त वर्णन २१६
अप्सराओ का पराजित होना ... ... २२८

ग्यारहवाँ सर्ग
इन्द्र का अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत होना और वार्तालाप ... २३८

अर्जुन का उत्तर ... ... २५१
इन्द्र द्वारा अर्जुन को शकर की उपासना करने का आदेश २६६

बारहवाँ सर्ग

अर्जुन द्वारा शङ्कर की उपासना का आरम्भ ... २६८
मुनियो द्वारा भगवान शङ्कर से अर्जुन के तप तेज का कथन २७५
भगवान शङ्कर का किरात वेष धारण करना ... २८०

तेरहवाँ सर्ग

शूकर वेषधारी दानव को देखकर अर्जुन की आशका • २८६
अर्जुन और किरात वेषधारी शङ्कर का शूकर पर एक साथ ही प्रहार २६३
अर्जुन और शङ्कर के दूत किरात का कलहपूर्ण वार्तालाप २६६

चौदहवाँ सर्ग

किरात की बातो से अर्जुन का उत्तेजित होना • ३१३
अर्जुन के ऊपर किरात-सेना द्वारा आक्रमण ... ३२३
अर्जुन का क्रोधित होना और भयकर युद्ध करना ... ३३०

पन्द्रहवाँ सर्ग

किरात सेना का पलायन ... ... ३३७
स्वामिकार्तिकेय द्वारा किरातो की भर्त्सना ·· ... ३४०
भगवान शङ्कर और अर्जुन का भयङ्कर युद्ध··· ... ३५१

सोलहवाँ सर्ग

अर्जुन का क्रोधित और चिन्तित होना ... ... ३६०

सत्रहवाँ सर्ग

अर्जुन द्वारा अत्यन्त वेग से युद्ध आरम्भ ... ... ३८३

अठारहवाँ सर्ग

अर्जुन और शङ्कर का मल्लयुद्ध ... ... ४०७

भगवान शङ्कर का अपने असली रूप मे प्रकट होना ... ४१२
अर्जुन द्वारा शङ्कर की स्तुति और वरदान की याचना ... ४१४
भगवान शकर और अन्य देवताओ द्वारा अर्जुन को वरदान और
दिव्यास्त्रो का प्रदान करना ... ... ४२४
किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग मे आए हुए कुछ वन्धो के चित्र ४२७
किरातार्जुनीय महाकाव्य के श्लोको की अकारादिक्रमानुसार सूची ४२९

# कवि और काव्य-परिचय

*किरातार्जुनीय संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकाव्यों में से अन्यतम है।* इसे महाकाव्यों की 'वृहत्त्रयी' में प्रथम स्थान प्राप्त है। महाकवि कालिदास की कृतियों के अनन्तर संस्कृत-साहित्य में भारवि के किरातार्जुनीय का ही स्थान है। यद्यपि कालिदास कृत रघुवंश महाकाव्य सर्ग आदि की दृष्टि से किरातार्जुनीय से लघुकाय ग्रंथ नहीं है, तथापि उसे वृहत्त्रयी में स्थान नहीं दिया गया है। कदाचित् इसका कारण यही है कि काव्य-कला के शिल्प विधान की दृष्टि में किरातार्जुनीय रघुवंश महाकाव्य से उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण है। *एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के* समान सरल, कोमल कान्त, ज्ञेय पदावली विमंडित, काव्य के सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों से समन्वित ओजस्वी महाकाव्य दूसरा नहीं है। वृहत्त्रयी में दूसरे महाकाव्य शिशुपाल वध की भाँति इसमें न तो जटिल एवं कर्णकटु शब्दों की भरमार है और न नैषध की भाँति क्लिष्ट कल्पनाओं का विकट घटाटोप है। छोटे-छोटे समस्त पदों की सुललित कर्णप्रिय ध्वनि से गूँजते हुए मनोहर अर्थ-गौरव से विभूषित किरातार्जुनीय के सैकड़ों श्लोक अथवा श्लोकार्ध संस्कृत प्रेमी समाज के आज भी कंठहार बने हुए हैं। *सम्भवतः लोकप्रियता में भी किरातार्जुनीय का स्थान मेघदूत एवं कुमारसम्भव के बाद ही आता है।* काव्य रसास्वादन करने वाले सहृदय जनों के लिए तो यह एक मनोहर काव्य-ग्रंथ है।

प्राचीन काव्य-प्रेमी पंडितों की मान्यता के अनुसार कालिदास, भारवि, माघ और दण्डी के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध तुलनात्मक सम्मति इस प्रकार है—

> उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्
> दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः ।

अर्थात् उपमा मे कालिदास, अर्थ-गौरव मे भारवि, पदलालित्य मे दडी तथा इन तीनो दृष्टियो से माघ श्रेष्ठ कवि हैं। माघ के प्रति प्राचीन पडितो की यह सम्मति अनेक आलोचको की दृष्टि से पक्षपातपूर्ण हैं, क्योकि उन्हे कालिदास की मनोहारिणी उपमाओ एव भारवि की अर्थ-गौरव से भरी ललित पदावली का दर्शन माघ की रचना शिशुपाल-वध मे बहुत कम मिलता है। यह प्रसङ्ग किसी विवाद मे पडने का नही है किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीन पडितो की इस तुलनात्मक सम्मति मे उसके पाडित्यपूर्ण समालोचक का अहभाव ही अधिक मुखरित है। माघ मे काव्य रसास्वादन की सहृदयता कालिदास एव भारवि के महाकाव्यो की अपेक्षा निर्बल है यद्यपि माघ की प्रखर प्रचड काव्य प्रतिभा एव असाधारण वैदुष्य की छटा ऐसी है कि सहसा कोई भी पडितमानी उन्हे सर्वश्रेष्ठ मानने से रुक नही सकता। यह सत्य है कि उतना असाधारण काव्य-शिल्प विधान किसी अन्य महाकाव्य मे सुलभ नही है, किन्तु कविता-कान्त कालिदास की निसर्ग मनोहारिणी उपमाएँ तथा स्वल्प सुललित शब्दो मे विपुल अर्थ-गाम्भीर्य से पूर्ण एव काव्य-कला माधुरी से विमडित महाकवि भारवि की रचना-चातुरी की छटा सचमुच माघ की रचना मे दुर्लभ है। किरातार्जुनीय का 'अर्थ-गौरव' सस्कृत साहित्य का एक उज्ज्वल गुण है। कविवर कृष्ण ने बडी गहराई तक विचार करके ही यह निम्नलिखित सूक्ति रची होगी—

> प्रदेशवृत्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयती रसमादधाना।
> सा भारवे सत्पथदीपिकेव रम्या कृति. कैरिवनोपजीव्या॥

विशद एव महान अर्थो स बोझिल, रसबोझ के विह्वल, सत्पथावलबन की दीपिका भारवि की निसर्ग मनोहर छटा को यदि दूसरे कवि गण उपजीव्य बनाते हैं, तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? स्वय महाकवि माघ ने भी भारवि की न केवल कथा-पद्धति एव रचना-शैली को ही अपना आदर्श अथवा उपजीव्य बनाया है, वरन् कहना तो यह चाहिये कि माघ के शिशुपाल-वध की अधिकाश सामग्री किरातार्जुनीय को सामने रखकर ही प्रणीत ज्ञात होती

है। इस प्रकार सभी बातो म विचार करने पर भारवि सस्कृत के अन्यान्य महाकवियो मे अग्रणी दिखाई पडते हैं।

किरातार्जुनीय मे महाकवि भारवि की कविता सम्बन्धी मान्यताएँ देखकर यह कहना पडता है कि उनकी समग्र कविता उनकी मान्यताओ के अनुसार ही निर्मित है। किरातार्जुनीय के चौदहवें सर्ग मे अपने कथा-नायक अर्जुन के मुख से वह कविता के सम्बन्ध मे एक मनोहर सूक्ति कहलाते हैं :—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुति प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणाम् प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥

सर्ग १४, ३

अर्थात् स्पष्ट वर्ण रूपी आभरणो से मनोहर, सुनने मे कानो को सुख देने वाली, शत्रुओ के हृदय को भी प्रसन्नता मे विभोर कर देने वाली, सहज प्रसाद गुण पूर्ण एव गम्भीर अर्थों से युक्त पदो से समलकृत वाणी, (सुन्दर पत्नी की भाँति) यथेष्ट पुण्य न करने वालो को नही प्राप्त होती। किरातार्जुनीय मे उनका यह उक्ति पदे-पदे चरितार्थ होती है। उनके पदा म यथाशक्ति दीर्घ समासान्त कर्कश पदावली नही आने पायी है, प्रत्युत इसके विपरीत का ही यत्न स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। शब्द वे ही रखे गये हैं, जो बहु प्रसिद्ध, सगीतात्मक ध्वनि से गुम्फित, श्रुतिमधुर तथा पाठक एव श्रोता के अन्तस्थल म स्वय ठुमुकते हुए प्रवेश करने वाले हैं। पदा मे प्राय समास छोटे-छोटे और सीधे-सादे हैं, माघ की भाँति व्याकरण के सूत्रो की शरण लेकर अनेकार्थक सस्कृत की अप्रसिद्ध धातुओ का प्रयोग अथवा अप्रचलित कठिन कृदन्त एव तद्धितीय प्रत्ययो से युक्त शब्दा का प्रयोग भारवि ने प्राय प्रयत्नपूर्वक वर्जित रखा है। जैसे शब्दो के आडम्बर मे पडकर अर्थ के गौरव को क्षीण करना भारवि को कथमपि सह्य नही था। कविता के प्रति लोकरुचि की चर्चा करते हुए एक अवसर पर भारवि ने अपना यह काव्यादर्श प्रकट भी किया है —

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पद विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चित।
इति स्थितायां प्रतिपूरुष रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिर:॥

सर्ग १४, ५

'कुछ लोग अर्थ सम्पत्ति की प्रशसा करते है, और कुछ केवल शब्दो की ही छटा को बखानते है, इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य मे भिन्न-भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी (कविता) बहुत ही दुर्लभ है, जो सब को एक समान मनोहारिणी मालूम पडती हो, अथवा जो अर्थ-गौरव एव शब्द-सौन्दर्य—दोनो ही से समलकृत हो।' किन्तु जहाँ तक भारवि की वाणी का प्रश्न है, वह सचमुच इन दोनो ही सद्गुणो से समलकृत है। इसका परिचय तो उनके किरातार्जुनीय के किसी भी श्लोक से आसानी से मिल जाता है। काव्य के शब्दार्थ-उभय गुणो के सम्बन्ध मे अपनी इस मान्यता की चर्चा उन्होने एक दूसरे प्रसग मे भी इस प्रकार से की है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

सर्ग २, २७

इस श्लोक मे भी उक्त मत का ही प्रकारान्तर से कवि ने प्रतिपादन किया है। समूचे किरातार्जुनीय मे उसके कवि की इन्ही मान्यताओ के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

मानव जीवन मे उच्च कोटि की नैतिकता, सदाचरण मर्यादा किरातार्जुनीय का प्रिय प्रतिपाद्य विषय है। सदाचरण मूलक लोकनीति तो जैसे कवि जीवन की परम प्रिय सगिनी रही है। कठिन से कठिन प्रसगो पर भी उनके त्रो के मुख से दहकते हुए अगारे नही निकलते, जैसे उनके मस्तिष्क और दय मे भागीरथी का शीतल प्रवाह हो और मुख पर आर्य मर्यादा की दृढ र्गला। उनके पात्र जो कुछ कहते हैं, सुविचारित, शान्तिपूर्ण, अनुद्वेजित, और क्तियुक्त। नैतिकता की चरम सीमा और उज्ज्वल आदर्श की स्पृहणीय आभा करातार्जुनीय की अपनी विशेषता है। यद्यपि यत्र-तत्र कथा प्रसग के कारण से अनेक अवसर उपस्थित होते हैं जहाँ पात्रो के भटकने और मर्यादाहीन ने की स्थिति स्वाभाविक दिखाई पडती है, तथापि ऐसे अवसरो को भी कवि बडी ही काव्य-निपुणता से निभाया है। कविता-कामिनी के शृगार के समान

ही नैतिकता एव सदाचार मूलक आर्य सस्कृति के स्वरूप की रक्षा की ओर भी कवि सदैव सजग रहा है।

किरातार्जुनीय राजनीति प्रधान महाकाव्य है। क्रूर एव छली शत्रु से बदला चुकाने के लिए ही इसका आरम्भ हुआ है, और उसी कार्य के सम्पन्न हो जाने पर इसकी समाप्ति भी हो गई है। राजनीति वीररस से अछूती क्यो कर हो सकती है ? फलत. इसका प्रधान रस 'वीर' है। सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय के सम्बन्ध मे निम्नलिखित श्लोक कहकर उसके सभी प्रमुख अङ्गो का सक्षिप्त परिचय दे दिया है :—

> नेता मध्यमपांडवो भगवतो नारायणस्यांशज-
> स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
> श्रृङ्गारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,
> शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

वीर रस के उपयुक्त ही इसके नायक मध्यम पाण्डव अर्जुन हैं, जो भगवान् नारायण के अशभूत नर के अवतार माने जाते हैं। अर्जुन यद्यपि तपस्या मे निरत हैं और समाधि मे ऐसे मग्न हैं कि दिव्य सुन्दरी अमराङ्गनाओ के आकर्षक प्रलोभन भी उन्हे विचलित नही कर पाते तथापि उन्हे अपने शस्त्रास्त्रों का इतना मोह है कि उन्हें त्याग भी नही पाते। वीरता की इस निशानी को वे समाधि दशा में भी धारण करते हैं। प्रधान वीर रस के अङ्ग रूप मे शृंगार एव शान्त रस का भी अद्भुत वर्णन कवि ने किया है। और सब से बडी विशेषता उसकी यह है कि रसो के अनुकूल भाषा और वृत्तो का भी उसने चुनाव किया है। यद्यपि किरातार्जुनीय मे अनेक प्रकार के छन्दो का प्रयोग कवि ने किया है तथापि वशस्थ और मालिनी छन्द उसे विशेष प्रिय हैं। प्राय. वीर रस के प्रसग मे तो उसने वशस्थ का ही प्रयोग किया है और सर्गों की समाप्ति पर मालिनी छन्द का। क्षेमेन्द्र ने वीर रस के लिए वशस्थ छन्द का ही प्रयोग किए जाने की बात लिखी है :—

पाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

यही नही उन्होंने भारवि के वशस्थ की प्रशसा करते हुए अपने सुवृत्त तिलक मे यहाँ तक लिख दिया है :—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिको कृता ॥

भारवि के इन छन्दो की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे श्रुतिमधुर, सगीत-पूर्ण, सरस एव कोमल शब्दो तथा पद-विन्यासो से युक्त होते हुए भी बहुधा प्रसाद गुण युक्त एव सहृदय पाठक की चेतना को तत्क्षण अन्तर्मुखी बना देने मे समर्थ हैं। शाब्दिक एव कृत्रिम अलङ्कार विधान अथवा ओजपूर्ण शब्द सचयन तो उनमे बहुत कम है, पूरे महाकाव्य मे श्लेष, यमक अथवा अनुप्रास बहुत अधिक नही आने पाये हैं, जब कि अन्य महाकाव्यकारो ने पाडित्य-प्रदर्शन के लिए विपुलता से इनका प्रयोग किया है। यद्यपि भारवि मे भी पाडित्य-प्रदर्शन की लालसा का परिचय कुछ प्रसगो पर आवश्यक रूप से मिलता है, तथापि ऐसे अवसरो पर भी उनके गभीर कवि कर्म की यथेष्ट रक्षा हुई है। अन्य कवियो की अपेक्षा उनके ऐसे स्थल भी कम हृदयग्राही नही हैं।

## किरातार्जुनीय की कथा

जैसा कि नामकरण से ही स्पष्ट है, किरातार्जुनीय मे किरात वेशधारी शकर जी और अर्जुन के युद्ध का प्रमुख रूप से वर्णन है। अपनी उत्कट तपस्या द्वारा शिव को सन्तुष्ट करने के अनन्तर अर्जुन को अपनी सहिष्णुता तथा साहसिकता का भी परिचय देना पडा है, और तब उन्हे अपने अभिमत फलदायी पाशुपतास्त्र की प्राप्ति होती है। यह कथा महाभारत के वन पर्व से ली गयी है और इस महाकाव्य मे काव्याग के लिए उपयोगी समस्त वस्तुओ के मनोहर अलङ्करण के साथ उसी का पल्लवन किया गया है।

महाकाव्य का आरम्भ इस प्रकार से हुआ है, जैसे किसी नाटक का रग-मच पर अभिनय आरम्भ हो रहा हो। कौरवो की कपट द्यूत-क्रीडा से पराजित पाण्डव जब द्वैत वन मे निवास कर रहे थे तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि दुर्योधन

का शासन किस प्रकार से चल रहा है, इसका पता लगाना चाहिए। क्योंकि अवश्य ही वह अपने क्रूर और कपटी स्वभाव वाले सहयोगियों के कारण प्रजाजन का विद्वेषी सिद्ध हुआ होगा और ऐसी स्थिति में उसके शासन के विरुद्ध प्रजा में बहुत गहरा असन्तोष भी पैदा हुआ होगा। प्रजा के आन्तरिक असन्तोष के कारण किसी भी राजा का शासन दीर्घ-कालव्यापी नहीं हो सकता। अतः किसी प्रकार से हस्तिनापुर के लिए एक गुप्तचर भेजकर वहाँ की स्थिति की जानकारी प्राप्त करनी ही चाहिये। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक वनवासी किरात को चुना, जो ब्रह्मचारी का वेश धारण कर हस्तिनापुर गया और वहाँ कुछ काल तक रहकर सब बातें अपनी आँखों से देखकर लौट आया। उसने युधिष्ठिर से बताया कि—

"दुर्योधन अब बड़ी योग्यता तथा तत्परता से अपना शासन-कार्य चला रहा है। वह निपुण राजनीतिज्ञ बन गया है, न्यायपरायण हो गया है और प्रजा का बड़ी निष्ठा तथा सहृदयता से पालन कर रहा है। अपने बन्धु-बान्धवों तथा अधीनस्थ राजाओं को भी उसने अपने प्रति अनुरक्त बना लिया है, उसकी सेना उस पर प्राण देती है, वह शत्रु और पुत्र—सब के साथ धर्मशास्त्रानुसार दण्ड की व्यवस्था रखता है। उसके राज्य में कृषि कर्म भी खूब उन्नत स्थिति में है। दुःशासन को युवराज बनाकर वह स्वयं यज्ञादि के सदनुष्ठानों में निरत रहता है और प्रजा वर्ग में भी उसके प्रति अतिशय प्रेम है अतएव अब उसे आप को उसके जीतने के लिए आपको कोई प्रबल उपाय करना चाहिए।"

हस्तिनापुर का यह सब समाचार सुनाकर जब वह किरात पारितोषिक पाकर चला गया तब युधिष्ठिर ने यह सब बातें द्रौपदी को कह सुनायी। संयोगात् उस अवसर पर भीमसेन भी मौजूद थे। अपने सहज वैरी दुर्योधन का उत्कर्ष सुनकर भीमसेन आगबबूला हो उठे, और द्रौपदी का रक्त खौलने लगा। द्रौपदी ने युधिष्ठिर की शिथिलता, शान्तिप्रियता तथा सहनशीलता को लक्ष्य कर बड़ी मार्मिक एवं व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्हें बहुत कुछ खरी-खोटी बातें कह सुनाईं, निन्दा की और अपने ऊपर किए गए अत्याचारों तथा पाण्डवों पर आन वाली विपदाओं का सजीव वर्णन कर भीमसेन को और अधिक क्षुब्ध कर दिया।

युधिष्ठिर की शान्तिपरायणता तथा क्षमाशीलता को ही सम्पूर्ण आपदाओ की जड बतलाकर उसने दुर्योधन के विरुद्ध तत्काल शस्त्र धारण करने के लिए उत्तेजित किया। भीमसेन पहले ही से भरे बैठ थे, द्रौपदी की उत्तेजक वाणी ने उन्हे और भी उत्तेजित कर दिया। फलत उन्होने भी क्षुब्ध वाणी मे द्रौपदी के कथन की पुष्टि करते हुए बहुत जोर लगाकर कहा कि—हमे अविलब ही दुर्योधन से अपने राज्य की प्राप्ति के लिए युद्ध आरम्भ कर देना चाहिए।

भीमसेन और द्रौपदी की उद्वेजक वाणी को धर्मराज युधिष्ठिर ने बडी शान्ति से ग्रहण किया। पहले तो उन्होने भीमसेन और द्रौपदी की वक्तृता की उचित प्रशसा की, किन्तु धीरे-धीरे नम्रवाणी मे उन्हे राजनीति के रहस्यो से परिचित कराते हुए कहा कि—हम क्षत्रिय हैं, हमे अपनी प्रतिज्ञा का पालन सब प्रकार से करना ही चाहिए। हमने तेरह वर्ष तक वनवास की जो प्रतिज्ञा ले ली है उसकी रक्षा करना हमारा परम धर्म है। हमे प्रतिज्ञात समय की अवश्य प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसी समय जैसा कुछ उचित होगा, हम करेंगे।

बातचीत चल ही रही थी कि उसी अवसर पर कृष्ण द्वैपायन भगवान् व्यासदेव का वही पर पदार्पण होता है। सभी पाडव उनके इस शुभागमन से कृतार्थ हो जाते हैं और हृदय खोलकर उनका खूब स्वागत-समादर करते हैं। व्यास जी पाडवो के प्रति सहज भाव से सहानुभूति और कृपा रखते थे। उन्होंने कहा—सचमुच ही आप लोगो के साथ कौरवो ने भीषण अत्याचार किए हैं। यद्यपि न्याय से तेरह वर्ष की वनवास-अवधि बीत जाने के बाद आप लोगो को राज्य मिल जाना चाहिए तथापि हमे तो लक्षणो से यही ज्ञात होता है कि दुर्योधन अनायास प्राप्त हुए राज्य को सीधे ढङ्ग से वापस नही करेगा। वह युद्ध अवश्य छेडेगा और जो जीतेगा उसी को राज्य मिलेगा। और यदि युद्ध छिडता है तो आप लोगो की विजय मे भी हमे सन्देह दिखाई पडता है, क्योंकि भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि देश के बडे-बडे शस्त्रविद्याविशारद दुर्योधन की ओर रहेंगे और आप लोग अकेले होंगे। अतएव ऐसी स्थिति मे एक उपाय करने का हम परामर्श देते हैं। अर्जुन को हम इन्द्र को प्रसन्न करने वाली एव मन्त्र-विद्या की दीक्षा दे देते हैं, वह सशस्त्र होकर इन्द्रकील पर्वत पर जाकर उसका सविधि

अनुष्ठान करें। देवराज इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुन को ऐसे शस्त्रास्त्र प्रदान करेंगे कि फिर उनके द्वारा युद्ध में अर्जुन अपने शत्रुओ पर अवश्य ही विजय-लाभ करेंगे। इतना कहकर व्यास जी ने अर्जुन को उक्त मत्र-विद्या की दीक्षा दी और इन्द्रकील पर्वत का मार्ग दिखाने के लिए एक यक्ष को भी उनके साथ कर दिया। यक्ष ने अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचा दिया।

यद्यपि अपने भाइयो तथा द्रौपदी से वियुक्त अर्जुन का चित्त बहुत विचलित था तथापि व्यासदेव के कथनानुसार अपनी भावी विजय के लिए वह सब कुछ न्यौछावर करने के लिए तैयार हो गये। उस पर्वत पर देवराज इन्द्र का ही अधिकार था। अर्जुन की भारी तपस्या देखकर पर्वत के रक्षक घबरा गये। उन्होने सोचा, सम्भवत यह तपस्वी अपनी इस विकट तपस्या के द्वारा हमारे स्वामी का सिंहासन प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि प्रकृति भी इसके सर्वथा अनुकूल दिखाई पडती है। इसे वृक्ष अपने आप फल फूल दे जाते हैं, वायु शीतल, मन्द, सुगन्धि का वितरण करता है, सहज विरोधी वन्य जीव-जन्तु भी इसके प्रभाव से प्रभावित दिखाई पडते है, अवश्य ही यह कोई महान् तपस्वी है। निदान पर्वत के रक्षको ने जाकर देवराज इन्द्र की गुहार लगाई, और उनसे इस नवीन एव विकट तपस्वी की तपश्चर्या का पूरा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया। इन्द्र को सारी परिस्थिति समझने मे देर नही लगी। अपने प्रिय पुत्र अर्जुन की सफलता का वृत्तान्त उन्हे रुचिकर लगा। वह मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु बाहर से लोक-व्यवहार की रक्षा एव अपनी उच्च मर्यादा को बचाने के लिए उन्होंने अप्सराओ को बुलाकर आज्ञा दी कि—जैसे भी हो सके तुम लोग गन्धर्वो के साथ जा कर उस तपस्वी की तपस्या को भग करो।

देवराज इन्द्र की नगरी अमरावती से देवागनाओ और गन्धर्वो का यूथ का यूथ अर्जुन की तपस्या को भग करने के लिए इन्द्रकील पर्वत की ओर चल पडता है। मार्ग मे खूब मनोरजन और क्रीडाएँ होती हैं और इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन के आश्रम के समीप ही वे सब अपना डेरा डाल कर अर्जुन की तपस्या को भग करने के विविध आयोजन आरम्भ कर देते हैं। किन्तु उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ, सारे अनुभूत प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। अर्जुन अपने योगासन

से टस से मस नही होते और अप्सराओ को तथा गन्धर्वों को अपना-सा मुंह लेकर वापस लौट जाना पडता है।

अप्सराओ और गन्धर्वो की अनेक मोहक चेष्टाओं का तपस्वी अर्जुन के मन पर तनिक भी प्रभाव नही पडता और वे पूर्व की अपेक्षा और अधिक निष्ठा से अपनी तपस्या मे निरत रहते है। विफलप्रयत्न होकर अप्सराओ और गन्धर्वों के अमरावती वापस लौट जाने पर इन्द्र अपने प्रिय पुत्र अर्जुन को देखने के लिए स्वयमेव प्रस्थान करते हैं। पहले वह एक जर्जर वृद्ध ब्राह्मण का दयनीय वेश धारण कर अर्जुन के समीप आते हैं और अनेक प्रकार से अर्जुन की मनोहर आकृति, प्रबल युवा शरीर, उग्र तेज तथा कठोर तपस्या की प्रशसा करते है और फिर अन्त मे परीक्षा लेने के लिए अर्जुन से कहते है—युवक तपस्वी ! तुम्हारी इस कठोर तपस्या से तो तुम्हे वह मुक्ति सुगमता मे प्राप्त हो सकती है, जो योगियो और मुनियो के लिए भी दुर्लभ है। तब फिर तुम किस मोह मे पडकर अस्त्र-शस्त्र लिए हुए तपस्या कर रहे हो। तुम्हारे लक्षणो से तो मुझे यही मालूम पड रहा है कि तुम कैवल्य की नही किन्तु किसी तुच्छ लौकिक सिद्धि के लिए यह कठोर तपस्या कर रहे हो। कैसी विडम्बना है यह ! ऐसे तुच्छ एव विनश्वर सुख-भोग के लिए ऐसी कठोर साधना ! तुम यह कुत्सित कामना छोड दो युवक ! शस्त्रास्त्रो को फेंक दो और कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति की साधना मे लग जाओ, जिससे फिर कभी पछताना न पडे।

अर्जुन ने बडी युक्तियों और तर्कों के साथ अपनी तथा अपने भाइयो की वर्तमान दुरवस्था की चर्चा करते हुये उस वृद्ध ब्राह्मण को समझाने की चेष्टा की। कहा—ब्राह्मण देवता ! हम गृहस्थ हैं, आप जिस उत्कट साधना का उपदेश हमे दे रहे है, उसके हम अधिकारी नही है। आपको ज्ञात नही है कि हमारे प्रचड शत्रुओ ने हमारी कितनी दुर्दशा कर रखी है। उनके अत्याचारो और अपकारो को स्मरण कर हम मारे ग्लानि से गलने लगते है। अपने गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए अपने शत्रुओ से बदला चुकाना मेरा सबसे बडा कर्त्तव्य है और उसी की पूर्ति के लिए मैं इस कठोर साधना मे निरत हूँ।

अर्जुन की युक्ति एवं तर्कों से पूर्ण विनीत वाणी को सुनकर देवराज परम प्रसन्न हुये और उन्होंने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। उन्होंने दिव्यास्त्र की प्राप्ति के निमित्त शिव जी की आराधना करने के लिए अर्जुन को परामर्श दिया। अब देवराज इन्द्र की आराधना के अनन्तर अर्जुन ने वहीं रह कर शिव जी की आराधना आरम्भ कर दी। इस प्रथम सफलता ने उनके उत्साह को द्विगुणित कर दिया था। वह तन-मन की सुधि भूलकर तपोमय हो गए। उन्होंने ऐसी उत्कट तपश्चर्या की कि उनके तेज से आस-पास के सिद्ध एवं तपस्वी गण जलने से लगे। उन्हें यह अपूर्व अनुभव हुआ और वे दौड़ कर आशुतोष शंकर की शरण में पहुँच कर अपने भुलसे हुए शरीरों को दिखलाते हुए अपनी मनोवेदना प्रकट करने लगे। शिव जी को सब कुछ मालूम हो गया, उन्होंने कहा—साधको! वह कोई साधारण तपस्वी नहीं है। वह पाडुपुत्र अर्जुन है, उसे साक्षात् नारायण का अंश समझो। चलो, मैं तुम लोगों को उसके अतुलित बल-पौरुष एवं अद्भुत कष्टसहिष्णु स्वभाव का परिचय दिलाता हूँ। इस काम के लिए यह अच्छा अवसर है। मूक नामक दानव को अर्जुन की इस विकट तपस्या का पता लग गया है। वह समझ गया है कि अर्जुन की इस तपस्या के सफल हो जाने से सत्पुरुषों को लाभ और दुष्ट-दुरात्माओं की अपार स्वार्थहानि होगी। अतएव वह क्रूर दानव मायामय वराह का रूप धारण कर अर्जुन को मारने के लिए दौड़ा जा रहा है। चलो, वह तमाशा भी तुम लोगों को हम दिखा दें।

यह कह कर भगवान् शङ्कर ने अपने गणों के सङ्ग किरातों के सेनापति का वेश धारण किया। उनके असङ्ख्य प्रमथ गण भी किरात वेश में उन्हीं के साथ-साथ चल पड़े। शिव जी की वह सेना गङ्गा के किनारे उतर पड़ी, जहाँ से अर्जुन का आश्रम बहुत समीप था। इसी बीच पर्वताकार वराह का वेश धारण कर वह मूक दानव अर्जुन की ओर तीव्रता से दौड़ पड़ा। पहले तो अर्जुन ने यह समझ कर उपेक्षा करनी चाही कि यह कोई साधारण वराह होगा, किन्तु जब वह बहुत समीप आने लगा और उसकी विकराल हिंस्र चेष्टा प्रकट होने लगी तब अर्जुन ने उसे असाधारण वराह समझ कर उस पर बाण-प्रहार किया।

इधर मे शिव जी ने भी उसी क्षण उस पर वाण मारा। वराह तो तत्क्षण ही गिरकर मर गया, किन्तु वह किसके वाण से मरा, इस प्रश्न को लेकर वडा झगडा उठ खडा हुआ, क्योकि शिव जी का वाण उसे छेदकर धरती मे घुस गया था और अर्जुन का वाण उसके शरीर मे निकल कर वही पर गिर पडा था। विचित्र स्थिति थी। अर्जुन ने उस मृतक वराह के शरीर के पास जाकर ज्यो ही अपना वाण उठाना चाहा त्योही शिव जी की प्रेरणा से उनका एक सैनिक दूत वहाँ आकर उपस्थित हो गया। उसने वडे व्यग्य पूर्ण शब्दो मे कहा— यह मेरे स्वामी किरात सेनापति का वाण है, उन्होने तुम्हारे प्राण बचाने के लिए ही दयाभाव से इस वराह को मारा था। तुम मे इतनी शक्ति कहाँ थी, जो तुम इस भयङ्कर जीव को मार सकते। यदि समय रहते मेरे स्वामी ने इस भीषण वराह को न मार दिया होता तो यह तुम्ही को अब तक अपना शिकार बना चुका होता। तुम कितने अकृतज्ञ हो, जो अपने प्राण बचाने वाले का वाण भी चुरा लेना चाहते हो। धिक्कार है, तुम्हे।

अर्जुन को किरात सैनिक की ये धृष्ठतापूर्ण वाते सुनकर वडा आश्चर्य और क्रोध हुआ। उन्होने भी वडे तीव्र स्वर मे खूब खरी-खोटी सुनाते हुए कहा— तुम एक जगली और असभ्य आदमी हो, यही समझकर मैंने तुम्हारी कठोर बातें सह ली हैं, क्योकि विवाद तो अपने समकक्ष से ही करना उचित है। तू यहाँ से कुशलतापूर्वक शीघ्र चला जा। कहाँ है तेरा स्वामी, वडा वाण वाला बनता है। नही देते वाण। यह तो मेरा वाण है, तू देखता भी नही। यदि तेरे स्वामी मे वल है तो जाकर कह दे कि आ जायें और मुझसे स्वय छीन लें। किन्तु यह भी कह देना कि यदि वे सचमुच इसे छीनने की चेष्टा करेंगे तो उनकी वही दशा होगी जो विकराल सर्प के शिर से उसकी मणि छीनने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति की होती है। आदि, आदि।

कठोर एव मर्म पर आघात पहुँचाने वाली ऐसी बातो का सिलसिला बढता ही गया और परिणाम युद्ध पर आ पहुँचा। दूत के मुख से अर्जुन की उद्धत बातें सुनकर किरात-सेनापति वेशधारी शिव जी अपने प्रमथो की सेना लेकर अर्जुन के सम्मुख युद्धार्थ जुट गये। घनघोर युद्ध हुआ। अर्जुन ने अपने

तीक्ष्ण वाणो से प्रमथो की सेना को ऐसा बीध डाला कि वह भाग खडी हुई, उसे यह भी होश नही रहा कि शिव जी यहाँ सामने ही खड़े हुए हैं। शिव जी के ज्येष्ठ पुत्र स्वामिकार्त्तिकेय के बहुत समझाने-बुझाने और धिक्कारने पर भी प्रमथो को लौटने का साहस जब नही हुआ तब शङ्कर जी ने अपना कर्त्तव्य निभाया। उन्होने अपने रण-कौशल से अपने सैनिको मे यह विश्वास भरने का यत्न किया कि लौट चलो, शङ्कर जी तो हैं ही। फिर तो किरात सेना वापस लौट पडी और सबका अर्जुन के सङ्ग खूब घनघोर युद्ध होने लगा।

शिव जी ने अपने चुने हुए वाणो से अर्जुन के शरीर को छेद कर जर्जर बना डाला। जब अर्जुन ने देखा कि ये साधारण अस्त्र इस किरात सेनापति पर बहुत कुछ कार्य नही सिद्ध कर पा रहे हैं तो उन्होने अपना प्रस्वापन नामक अस्त्र छोडा, जिसके प्रभाव से शिव जी की वह समूची सेना चेतनाविहीन हो गयी। अपनी सेना की यह दयनीय दशा देखकर शिव जी ने अपने ललाट स्थल से ऐसा पिंगल वर्ण तेज प्रकट किया, जिससे उनकी सारी सेना पुन चैतन्य हो गयी और उसकी मूर्च्छा बीत गई। अपने इस अमोघ अस्त्र को व्यर्थ होते देखकर अर्जुन ने सर्पास्त्र का सधान किया जिससे युद्ध क्षेत्र मे स्थित प्रमथो के चारो ओर भयङ्कर सर्प ही सर्प दिखाई पडने लगे। उन भयङ्कर सर्पो के फूत्कार से सूर्य-मडल आच्छादित हो गया और दिशाएँ विवर्ण हो गयी। तदनन्तर शङ्कर जी ने अपने गारुडास्त्र से अर्जुन के उस वाण को भी जब विफल कर दिया तब अर्जुन ने आग्नेयास्त्र चलाया, जिससे समूचा ससार जलने-सा लगा। प्रमथ गण आग की लपटो के भय से फिर युद्धभूमि छोडकर भागने लगे और चारो ओर भयङ्कर हाहाकार मच गया। शिव जी ने वारुणास्त्र से अर्जुन के इस कौशल को भी विफल बना दिया, अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो गयी और अर्जुन को बडा विस्मय हुआ कि आखिर यह कैसा किरात सेनापति है, जिसके आगे मेरे ऐसे ऐसे अमोघ वाण भी विफल होते जा रहे हैं।

किन्तु फिर भी अर्जुन हताश नही हुये, और अपने रण-कौशल से उन्होंने शिव जी की सेना को इतना आतंकित कर दिया कि शिव जी भी परेशान-से हो गये।

निदान इस प्रकार के सीधे युद्ध मे विपक्षी को अपराजेय समझकर शिव जी ने अपनी माया मे अर्जुन के दोनो तरकसो को जब बाण रहित कर दिया और धनुप को भी काट डाला तब अर्जुन ने अपनी तलवार का सहारा लिया। किन्तु थोडी ही देर मे शिव जी ने उस तलवार को भी काट कर गिरा दिया। तब निरस्त्र अर्जुन शिव जी पर पत्थर बरसाने लगे और बडे-बडे वृक्षो को उपार कर शिव जी और उनकी सेना पर प्रहार आरम्भ कर दिया। किन्तु शिव जी ने अपने बाणो से उन सब प्रहारो को भी जब व्यर्थ सिद्ध कर दिया तब अर्जुन हताश होकर मल्ल युद्ध करने पर उतर आये और शिव जी की टाँगो को पकडकर उन्होने उन्हे धरती पर पटक देने का कठोर उपक्रम किया। समूची प्रमथ सेना हैरान थी। अर्जुन जैसे भयङ्कर पराक्रमी से जीवन मे पहली बार उसका सामना हुआ था।

अर्जुन के इस भयङ्कर किन्तु उत्कट पराक्रम को देखकर आशुतोष शिव जी परम प्रसन्न हुए और उन्होने अपना कृत्रिम किरातवेश छोड कर प्रकृत रूप धारण किया। अर्जुन को परम प्रसन्नता हुई और उन्होने गद्‌गद् कठ से शिव जी की बहुतेरी स्तुति की, अपना अपराध क्षमा कराया, और अपनी दीन स्थिति का सक्षिप्त परिचय देते हुए अभीष्ट वरदान की याचना की। शिव जी ने अर्जुन को अपना अद्वितीय पाशुपतास्त्र प्रदान किया, जिसके सम्मुख ससार की कोई भी शक्ति अपराजेय नही हो सकती थी। फिर तो उसी अवसर पर शिव जी की आज्ञा से इन्द्रादि दिक्पालो ने भी अर्जुन को अनेक अमोघ शस्त्रास्त्र प्रदान किए। और तदनन्तर कृतकार्य अर्जुन उस तपोवन से अपने ज्यष्ठ बन्धु युधिष्ठिर के पास वापस लौट आये और उन्हे सादर प्रणाम किया।"

इस प्रकार "श्रिय कुरुणामधिपस्य" के प्रसङ्ग से आरम्भ किरातार्जुनीय की विचित्र कथा "धृतगुरुजयलक्ष्मी धर्मसूनु ननाम" से समाप्त हो जाती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह कथा महाभारत के वन पर्व से ली गई है और बहुत कुछ उसी के अनुसार चली भी है। किन्तु यह इतनी छोटी-सी कथा है, और इसका विषय-विस्तार इतना स्वल्प है कि उसी के आधार पर एक महाकाव्य का प्रणयन किसी भी कवि के लिए पर्याप्त असुविधाजनक है।

क्योंकि किसी भी महाकाव्य मे जीवनव्यापी घटनाओ के क्रमबद्ध वर्णन के साथ ही उसके वृहत्तर आकार प्रकार की भी सीमा निर्दिष्ट की गई है। उसमे प्रकृति के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ ही दिन रात, सूर्य चन्द्रमा, जङ्गल-पहाड, नदी-सरोवर जलक्रीडा, वन विहरण, मद्यपान आदि प्रसगो का भी वर्णन अपेक्षित है। स्पष्ट ही तपस्यानिरत एव कुछ दिनो के लिए अपने परिवारवालो से वियुक्त वीरवर अर्जुन के प्रसग मे ऐसे सन्दर्भो का प्रस्तुत करना कुछ स्वाभाविक नही लगता। किन्तु ऐसा लगता है कि आचार्यों की महाकाव्य सम्बन्धी कठोर परिभाषा के अनुसार महाकवि भारवि को भी अपने इस महाकाव्य मे उन समस्त प्रसगो का स्वाभाविक एव कहीं-कही कुछ अस्वाभाविक वर्णन करना ही पडा। इसी से इसके ऐसे कतिपय प्रसग कथावस्तु को देखते हुए कृत्रिम से मालूम पडते हैं और उनमे भारवि की सहज कवित्व प्रतिभा का उचित विकास नही हो पाया है।

किरातार्जुनीय की उपर्युक्त सम्पूर्ण कथावस्तु एक छोटे-से खड काव्य की सीमा मे बाँधी जा सकती है किन्तु महाकाव्योचित उपर्युक्त प्रसङ्गो के कारण ही उसका इतना विकास हुआ है कि उसे वृहत्त्रयी के महाकाव्यो मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

किरातार्जुनीय के ऐसे प्रसगो की सजीवता यद्यपि कम नहीं हुई है, जिनमे उन्होने महाकाव्य के लक्षणो की पूर्ति की है तथापि सम्पूर्ण कथा प्रवाह म इनसे बाधा तो अवश्य पडी है। इन्द्र के आदेशानुसार कहाँ तो अप्सराएँ गन्धर्वों के साथ अर्जुन को लुभाने के लिए जा रही थी और कहाँ बीच मार्ग मे ही उन्हें मदिरा के नशे मे चूर हो कर जङ्गल मे मङ्गल मनाने के लिए विवश होना पडा है। उनकी जल-क्रीडा तथा वन विहार का यह प्रसङ्ग मूल कथा प्रवाह म नितान्त अस्वाभाविक तथा असम्बद्ध-सा लगता है। एक पूरे सर्ग का सर्ग ही भारवि न इसी अस्वाभाविक प्रसङ्ग म रग दिया है। इसी प्रकार प्रकृति वर्णन के लिए भी उन्हे मूल कथावस्तु के साथ विक्षेप करना पडा है। यद्यपि पर्वत और नदी के वर्णन नितान्त स्वाभाविक तथा कथा वस्तु के उपकारक हैं, तथापि युद्ध का लबा प्रसङ्ग तो इतना विस्तृत है कि सामान्य पाठक का जी ऊब जाता

है । अठारह सर्गों के महाकाव्य मे पूरे पांच सर्ग अर्जुन के युद्ध-प्रसङ्ग से पूर्ण हुए हैं । सभवत एक वीर रस पूर्ण महाकाव्य के लिए तथा अर्जुन जैसे महान् शूरवीर नायक की प्रतिष्ठा-रक्षा के लिए महाकवि को इतने बडे युद्ध वर्णन की आवश्यकता दिखाई पडी होगी, किन्तु कुछ भी हो, काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह वृहत् सन्दर्भ वहुत कुछ अनावश्यक एव जी उबाने वाला प्रतीत होता है ।

किन्तु यह सब होते हुए भी किरातार्जुनीय अपने ढङ्ग का अद्वितीय महाकाव्य है । एक लघु-कथा सन्दर्भ को महाकाव्य के जिस मनोहर ढाँचे मे भारवि ने ढाल दिया है उसे देखकर यह मानना पडता है कि उनमे कवित्व का कितना अविरल स्रोत था। कितनी महान् उनकी कल्पनाशक्ति थी और कथा वस्तु के विकास के कितने साधन उन्हे ज्ञात थे । वे न केवल एक रससिद्ध कवीश्वर थे वरन् अलकारिक दृष्टि से भी अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न एव समर्थ थे । क्या शब्द-सौन्दर्य एवम् क्या अर्थ गौरव सब मे उनकी समान गति थी । थोडे शब्दो मे अधिक से अधिक भावो को व्यक्त करने मे तो वह अद्वितीय ही थे । साधारण वात को भी वे इस ढङ्ग से प्रस्तुत करते थे कि विना कुछ देर तक विचार किये हुए उनकी उक्तियो का गूढ आशय हृदयङ्गत नही होता। और हैं वे इतनी हृदय ग्राही कि यदि एक वार हृदय मे बस गयी तो फिर उनको सहज ही दूर भी नही किया जा सकता ।

जीवन की गहरी अनुभूतियो का भारवि की कविता मे इतना गाढा रग है कि उन्हे इस दिशा मे भी अद्वितीय मानना चाहिये । किरातार्जुनीय मे यथाप्रसङ्ग उन्होंने जितने अर्थान्तरन्यासो का विधान किया है, सभवत किसी दूसरे काव्य-ग्रन्थ मे उसके आधे भी नही मिलेंगे। भारवि की दर्जनो मधुर सूक्तिया आज भी सस्कृतज्ञ-समाज के कठो मे विराजमान हैं और समय-समय पर सुधी जन उनका सदुपयोग भी करते रहते हैं । उनकी कतिपय सरस-सरल सूक्तियो के नमूने ये हैं —

१—हित मनोहारि च दुर्लभ वच ।

२—स कि सखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्नय सश्रृणुते स कि प्रभु ।

३—सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिर. ।

४—वर विरोधोऽपि सम महात्मभि ।
५—व्रजन्ति ते मूढधिय पराभव भवन्ति मायाविषु ये न मायिन ।
६—सता हि वाणी गुणमेव भाषते ।
७—अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदा भवन्ति वश्या स्वयमेव देहिन ।
८—सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
९—अविभिद्य निशाकृत तम प्रभया नाशुमताऽप्युदीयते ।
१० शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छला श्रिय ।
११—विपदता ह्यविनीतसम्पद ।
१२—न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।
१३—भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता ।
१४—प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्री ।
१५—विश्वासयत्याशु सता हि योग ।
१६—मात्सर्यरागोपहतात्मना हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ।
१७—सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितु प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसगमे ।
१८—न दूषित शक्तिमता स्वयग्रह ।
१९—न ह्रीङ्गितज्ञोऽवसरेऽसवीदति ।
२०—कमिवेशते रमयितु न गुणा ।
२१—भवन्ति गोमायुसखा न दतिन ।
२२—न तितिक्षा सममस्ति साधनम् ।
२३—सुदुर्ग्रहात करणा हि साधव ।
२४—दुलक्ष्यचिह्ना महता हि वृत्ति ।
२५—न्यायाधारा हि साधव ।
२६—दिशत्यपाय हि सतामतिक्रम ।
२७—व्रताभिरक्षा हि सतामलक्रिया ।
२८—भवत्यपाये परिमोहिनी मति ।
२९—प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधव ।
३०—मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलित मन ।

३१—नातिपीडयितु भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ।
३२—गुणसहते. समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ।

इस प्रकार की सैकडो मनोहर सूक्तियाँ भारवि की रचना मे स्थान-स्थान पर पायी जाती है, जिनमे सासारिक जीवन के गम्भीर अनुभवो के साथ-साथ नीति और उपदेश के मनोहर पुट है ।

भारवि की रचना मे यद्यपि राजनैतिक चेतना का प्रभाव अधिक है और स्थान-स्थान पर कूटनीति भी वर्णित है तथापि कवित्व के उत्कृष्ट गुणो का तो परिचय उसमे पदे-पदे मिलता है। उनके प्राकृतिक दृश्यो के वर्णनो मे जितनी सजीवता है उतनी ही स्वाभाविकता उनके सवादो मे भी है। तर्क और न्यायशास्त्र की बारीकियो की उन्हे जितनी जानकारी है उतनी ही निपुणता पशुओ और पक्षियो के स्वभावो के सम्बन्ध मे भी उन्हे है । राजाओ तथा सेनापतियो के दैनिक व्यवहारो की भाँति ही उन्हे कृषको, गोपालो तथा धान रखानेवाली स्त्रियों के जीवन का भी गहरा ज्ञान है । पर्वतो एव नदियो के नैसर्गिक दृश्यो के समान ही विचित्र एव विरोधी स्वभाव वाले मनुष्यो के अन्त करण का भी उन्होने विधिवत् अध्ययन किया है । राज-समाज अथवा विद्वत्परिषद् की मान्य परम्पराओ मे भी उन्हे दक्षता प्राप्त है और कोल-किरातो अथवा वनवासियो के रहन-सहन एव वेश-भूषा की ही नही उनके जीवन की समस्याओं तथा गूढ गुत्थियो की भी उन्हे जानकारी है । प्राचीन शस्त्रास्त्रो के भयकर युद्धो की प्रचलित परम्पराओ के समान ही वह शास्त्रार्थ चिन्तन की परम्पराओं के भी प्रवीण पारखी हैं और यह भी जानते हैं कि अपने प्रतिपक्षी को किन-किन उपायो द्वारा परास्त किया जाता है । तात्पर्य यह है कि सासारिक जीवन के प्रत्येक अचल से उनकी प्रतिभा ने अपेक्षित सामग्रियो का सचयन किया था और सबके द्वारा मनोहर कवित्व शक्ति की प्राप्ति की थी। देश और काल की सीमा से विहीन काव्य के जिन अमरतत्वो को प्राप्त करना एक प्रकृत कवि का धर्म बताया गया है, भारवि ने उन सब का बडे मनोयोग से अद्वितीय सग्रह किया था ।

भारवि के चरित्रा की अपनी विशेषताएँ हैं। वे इतने सजीव, सहृदय, बुद्धि-

वादी, स्वाभिमानपूर्ण तथा विदग्ध है कि महाभारत के रचयिता व्यासदेव के चरित्रों से भी कहीं-कहीं उत्कृष्ट बन गये हैं। वेदव्यास की द्रौपदी में अपमान की ज्वाला से जलती हुई भारवि की द्रौपदी जैसी अमद तेजस्विता नहीं आ सकी है और न महाभारत के अर्जुन में भारवि के अर्जुन के समान अपार कष्टसहिष्णुता, दुराराध्य तप.शीलता तथा अप्रतिम वीरता ही आ सकी है। यही दशा भारवि के युधिष्ठिर की भी है। यद्यपि युधिष्ठिर और भीम के व्यक्तित्व को कवि ने केवल संवादों के रूप में ही चित्रित किया है तथापि भारवि के युधिष्ठिर शान्ति, न्याय-परायणता तथा अविचलता में ऐसे अद्वितीय बन गए हैं कि संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र उनकी ऐसी मनोरम झाँकी नहीं मिलती है। कवि को अपने छोटे-से महाकाव्य में अवसर बहुत कम मिला है, किन्तु उतने ही में उसने अपने पात्रों को जो मोहन स्वरूप, जो आकर्षक व्यक्तित्व एवं जो सजीवता प्रदान कर दी है, वह देखने के योग्य है और उसकी समानता अन्यत्र वर्णित चरित्रों से नहीं की जा सकती। वेदव्यास के सम्बन्ध में भारवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ कितनी मनोहर हैं :—

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥१॥
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुः प्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥२॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥३॥

सर्ग ३, १–३

तदनन्तर शरद के चन्द्रमा के समान आनन्ददायी प्रभापुञ्ज से अति उन्नत, श्यामल शरीर पर पीले रंग की जटा धारण करने के कारण बिजली से युक्त मेघ की भाँति, प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त लोकोत्तर शरीर-सौंदर्य से अपरिचितों के हृदय में भी अपने सम्बन्ध से उच्च भाव पैदा कराने वाले, अपनी परम शान्त आकृति से अन्तःकरण की स्वच्छ पवित्र भावनाओं को प्रकट करते हुए से व्यास जी अपने अत्यन्त सहज सौम्य मधुर एवं विश्वासदायी अवलोकन

से ही अपरिचित लोगो मे यह भाव पैदा कर रहे थे कि मानो वे उनके साथ बहुत पहिले भी कभी सम्भाषण कर चुके है ।

व्यास देव के इस स्वरूप-वर्णन मे न केवल उनके शारीरिक सौदर्य एवं वाह्य उपकरणों की चर्चा की गई है, प्रत्युत उनकी महानुभाविता तथा आन्तरिक निर्मलता की भी मनोहर भाँकी है । जैसे कवि ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञतापूर्ण अगाध श्रद्धा को ही मूर्त रूप प्रदान किया हो ।

कवि की ऐसी ही निपुणता युधिष्ठिर के गुप्तचर किरात तथा शिव के सन्देश वाहक किरात के वर्णनो मे भी पाई जाती है । जैसे कवि की सर्वतोमुखी प्रतिभा के ये जीते-जागते पुतले उसके सम्पूर्ण महाकाव्य को सजीव बनाने के लिए ही अवतरित किए गए हो । चेतन एव मुखर चरित्रो के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के समान ही भारवि के अचेतन चरित्रो मे भी मोहकता तथा सजीवता के नमूने देखने योग्य हैं ।

> उपारता पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितु जवेन गाम् ।
> तमुत्मुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवा गणाः प्रस्नुतपीवरौधस. ॥
> परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।
> ददर्श पुष्टि दधतं स शारदी सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥
> विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
> शरन्नदीना पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जंघनैरिवादधे ॥

सर्ग ४, १०–१२

गोचर भूमि मे रात भर रह कर सवेरे अपने निवास की ओर लौटने वाली गौओ की अपने बछडो के प्रति जाग्रत उत्कण्ठा का सजीव चित्रण प्रथम श्लोक मे जिस स्वाभाविकता से किया गया है उसी के समान सजीवता एव स्वाभविकता द्वितीय श्लोक मे वर्णित उस बलीवर्द के वर्णन मे भी कवि ने दिखाई है, जो शरदऋतु की पुष्टि धारण कर नदी के तटवर्ती प्रदेश का विदारण करते हुए विजयश्री से विभूषित तथा मूर्तिमान अभिमान की तरह दिखाई पड रहा है । तृतीय श्लोक मे हिम-सदृश धवल गौओ के उन भुण्डो का रोचक वर्णन है, जो नदी तट से कुछ दूर हट कर चर रहे है और

इस प्रकार उनके किंचित् दूर हो जाने पर नदी का वालुका-मय तट-प्रान्तर रमणियों के वस्त्रहीन जघन-स्थल के समान मनोरम सुशोभित हो रहा है।

गौओं को चराने वाले ग्रामीण ग्वालों के सजीव वर्णन में भारवि के सहज कवित्व का नमूना कितना मनोहर बन पड़ा है :—

गतान् पशूना सह जन्मबन्धुता गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डव कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥

सर्ग ४, १२

पशुओं—गायों, बछड़ों और बैलों—में भाई जैसा प्रेम रखने वाले एवं जङ्गल में भी घर जैसा आनन्दानुभव करने वाले उन ग्वालों की सरलता एवं सेवा भावना को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है, मानो उन्होंने गौओं की सहज सरलता को ही सोलहों आने अपने जीवन में उतार लिया है।

गौओं के सम्बन्ध में भारवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ न केवल भारतीय विचारधारा का ही सुन्दर प्रतिनिधित्व करती हैं प्रत्युत उनमें कितनी अगाध श्रद्धा और भक्ति का पुट है, इसे देखिये। व्रजभूमि के समीप बछड़ों समेत गौओं के झुण्डों को देखकर वह कहते हैं—

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठ तनयैरुपेयुषी।
द्युति समग्रा समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः॥

सर्ग ४, ३२

मन्त्रोच्चारण से युक्त हवन संसार को पवित्र बनाने वाला और परम्परा में संसार की उत्पत्ति का कारण भी है। इस प्रकार का मन्त्रपूत हवन जिस प्रकार से सुशोभित होता है वैसे ही बछड़ों से युक्त व्रजभूमि के समीप गौओं का समूह भी शोभायमान हो रहा है। गौओं में संसार को पवित्र करने एवं सुख-समृद्धि उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकार करने वाले भारवि में गौओं के प्रति भारतीय भावना का जितना समादर है उतना ही तर्कसंगत दृष्टिकोण भी। गाय के दुग्ध एवं घृत से ही हवन का समारम्भ होता है और अग्नि में डाली गई आहुति ही आदित्य को प्राप्त होकर वृष्टि का कारण बनती है, और यही वृष्टि अन्न की उत्पादिका है, जिसके द्वारा जगत् का जीवन चलता है—

अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न तत प्रजा. ॥

भारवि की कवि प्रतिभा का सहज प्रस्फुटन इस काव्य मे यद्यपि पदे पदे है, तथापि उनके प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन महाकवि कालिदास के वर्णनो के समान ही सहज आकर्षक, स्वाभाविक अथवा आडम्बरविहीन हैं। अपने सीधे-सादे चित्रों म प्रकृति की मोहक छटा का जो हृदयग्राही वर्णन भारवि न प्रस्तुत किया है, उसकी बानगी कालिदास को छोडकर अन्य सस्कृत कवियो की कृतियो मे कठिनाई से मिलती है। भारवि के शरद्ऋतु के सक्षिप्त वर्णन मे से कुछ नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

उपैति शस्य परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपकता महीम् ।
नवैर्गुणै सम्प्रतिसस्तवस्थिर तिरोहित प्रेम घनागमश्रिय ॥
पतन्ति नास्मिन् विशदा पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपक्तय ।
तथापि पुष्णाति नभ श्रिय परा न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥
सर्ग ४, २१–२२

धान पक गये हैं, अत बहुत सुन्दर लग रहे हैं। नदियो म वर्षा काल की उद्धतता नही रह गई, पृथ्वी पर कीचड-कांदा का पता नही है। वर्षा ऋतु की मनोहर छटा के प्रति मानव हृदय मे जो अत्यन्त परिचय होने के कारण स्थिर प्रेम हो गया था, उसे भी यह शरद्ऋतु अपने नूतन गुणो से दूर कर दे रही है। अर्थात् इसके नूतन गुणो ने वर्षा की शोभा को बिल्कुल ही भुला दिया है। वर्षा ऋतु मे श्वेत बगुला की पक्तियाँ आकाश मे उडा करती हैं, और रग-बिरगी इन्द्र धनुप से भी उसकी शोभा बढ जाती है। ये दोनो ही चीजें यद्यपि शरद्ऋतु मे नही हैं, न तो बगुलों की पक्तियाँ ही आकाश मे उडती हैं और न बादला की पक्तिया के बीच इन्द्र धनुप ही शोभायमान है, तथापि वह शरद् आकाश म सर्वश्रेष्ठ रमणीयता का सम्पादन कर रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वभावत सुन्दर वस्तु को अलकरण की अपेक्षा नही होती।

यद्यपि अपनी इस मान्यता के अनुसार भारवि ने अपनी सहज सुन्दरी कविता मे अलकारो को ठूँसने की चेष्टा नही की है तथापि उनकी उत्प्रेक्षाएँ

मनोरम कल्पनाओं से कितनी जीवन्त बन गयी हैं, इसका एक ही उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

शरद्ऋतु का सुहावना समय है। जड़हन धान के खेतों में जल लबालब भरा हुआ है। वह कितना सुन्दर मालूम पड रहा है, कवि इसका वर्णन कर रहा है :—

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः॥
सर्ग ४, २७

उस जल में जड़हन के नीचे-नीचे कमलिनियाँ फैली हुई हैं, जिनके हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमलिनियों के हरे पत्तों की शोभा के साथ जल की हरी छटा बिल्कुल एक हो गयी है। ऊपर के पके धानों की बालियाँ हवा के मन्द-मन्द झोंकों से हिल-डुल रही हैं, उनकी पीली-पीली परछाईं उस निर्मल जल को पीला बना रही है। उस क्षण खेत का वह जल इस प्रकार से दिखायी पड रहा है, मानो देवराज इन्द्र का रंग-बिरंगा धनुष ही गलकर पानी के रूप में नीचे फैल गया है।

इसी प्रकार कवि की सहज उपमाओं में भी कल्पना की अनोखी मनोहारिता है। सुहावनी शरद्ऋतु में पके हुए जड़हन धान की बालियों को लेकर सुग्गों की कितारें उड़ रही हैं। कवि को वहाँ भी इन्द्र-धनुष की मोहक छटा दिखाई पड़ रही है—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥
सर्ग ४, ३६

आकाश में उड़ती हुई शिरीष के पुष्प की तरह कोमल हरे रंग वाले सुग्गों की पंक्तियाँ मूँगे के टुकड़ों के समान अपने लाल चंचुओं में जड़हन धान की पकी हुई पीली-पीली बालियों को लिए इस तरह उड़ी जा रही हैं जैसे आकाश में इन्द्र का धनुष उगा हुआ हो।

इन्द्रकील पर्वत के वर्णन-प्रसंग में कवि की इस मोहक प्रतिभा का प्रसाद

पदे पदे प्राप्त होता है। मानो ईश्वर प्रदत्त समग्र सुविधाओं से सम्पन्न प्रकृति के उस मुक्त-प्रागण मे पहुँच कर वह आनन्द-समुद्र की हिलोरें ले रहा है। यद्यपि शृगार के उद्दीपन विभावो के रूप मे ही उसने अधिकाश प्राकृतिक प्रसगो का चित्र खीचा है तथापि उसके चित्रो की छटा शाश्वतिक एव सजीव है। कोरी कल्पना की ऊँची उडानो का न केवल अभाव है, प्रत्युत रग एव रेखाएँ भी वही प्रयुक्त हुई है, जो सहृदय रसज्ञो के लिए पूर्व परम्परा से प्राप्त एव अभ्यस्त होते हुए सहज विमोहिनी हैं। मनोमोहक प्राकृतिक छटा को छिटकाने वाले एव उच्चारण के साथ ही सगीत की लहरी उत्पन्न करने वाले कवि के कुछ श्लोक ये है —

> विकचवारिरुहं दधत सरः सकलहसगण शुचि मानसम् ।
> शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलह सगण शुचिमानसम् ॥
> ग्रहविमानगणानभितो दिव ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
> मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षप त्रिपुरदाहमुमापतिसेविन ॥
> विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभि. ।
> दधतमुन्नतसानुसमुद्धता धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥
>
> सर्ग ५, १३–१५

प्रसग हिमालय वर्णन का है —

नित्य विकसित होनेवाले कमलो से सुशोभित तथा राजहसो से युक्त निर्मल मानस सरोवर को एव किसी कारण से कदाचित् कुपिता पार्वती से साथ कलह करने वाले, अपने गणो समेत अविद्यादि दोषो से रहित भगवान् शकर को ( यह हिमालय ) धारण किए हुए है।

यह हिमालय आकाशस्थित चन्द्र-सूर्यादि ग्रहो एव देवयानो को सुप्रकाशित करते हुए अपनी औषधियो से उत्पन्न अग्नि द्वारा प्रत्येक रात्रि मे भगवान् शकर के सेवको अर्थात् गणो को त्रिपुरदाह का वारम्बार स्मरण दिलाता है।

यह हिमालय अपने समुन्नत शिखरो पर गगा जी को धारण करता है, जो पत्थरो की विशाल चट्टानो से धारा के रुक जाने पर जब उनके ऊपर से बहने

लगती हैं तब अनन्त जलकणो के ऊपर फौवारे की तरह छूटने से ऐसा मालूम होता है मानो वह श्वेत चामर धारण किए हुए है ।

किरातार्जुनीय मे राजनीति एव कूटनीति के साथ-साथ लोकव्यवहार एव नैतिकता की भी विपुल चर्चा की गई है । प्राय प्रत्येक पात्र मे वक्तृत्व कला एव लोकनीति का सुन्दर सामजस्य देखने को मिलता है । जब कोई पात्र बोलता है तो उस समय उसी की बातचीत मे श्रेष्ठता एव वर्त्तव्य का भान होने लगता है किन्तु ज्यो ही उसके मत के खण्डन का अवसर कवि को मिलता है त्यो ही पूर्ववक्ता की वार्ता मे निस्सारता प्रकट होने लगती हैं । महाकाव्य के आरम्भ मे वटु वेशधारी किरात द्वारा दुर्योधन के शासन एव राज्य प्रबन्ध की चर्चा सुनाने के अनन्तर द्रौपदी एव भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर की गभीरता एव नैतिकता की निन्दा करते हुए दुर्योधन पर तत्काल ही अभियान करने का जो युक्तिसगत मत प्रकट किया है वह अपने ढग का अद्वितीय है । उसमे पूर्वापर के सन्दर्भो की ही विशद विवेचना नही है, प्रत्युत देश, काल एव परिस्थिति के अनुसार उस समय सब प्रकार का औचित्य भी उसी मे दिखाई पडता है, किन्तु धीर-गम्भीर धर्मराज युधिष्ठिर ज्यो ज्यो उसका मधुर खण्डन करते हुए अपना मत प्रकट करने लगते है, त्यो-त्यो द्रौपदी एव भीमसेन की सभी युक्तियाँ स्वत निरस्त होने लगती हैं । द्रौपदी एव भीमसेन ने युधिष्ठिर के ऊपर जो-जो आक्षेप किए थे युधिष्ठिर द्वारा उन सबका युक्तियुक्ति समाधान देखकर यह मान लेना पडता है कि महाकवि भारवि की प्रतिभा, शास्त्रीय ज्ञान गरिमा एव *लोकव्यवहार-चातुरी अद्वितीय थी ।*

यही स्थिति इन्द्रकील पवत पर तपस्यानिरत अर्जुन और देवराज इन्द्र के सवादो मे भी दर्शनीय है । वृद्ध ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र के मुख मे हम उस अवसर पर सुनते है कि —

य करोति वधोदर्का नि श्रेयस्करी क्रिया ।
ग्लानिदोषच्छिद स्वच्छा स मूढ पङ्कयत्यप ॥
मूल दोषस्य हिंमादेरर्थकामौ स्म मा पुष. ।
तौ हि तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ सर्ग ११, १९–२०

अर्थात् "जो मनुष्य मोक्ष को देनेवाली तपस्या आदि सत्क्रियाओं को हिंसामय ढंग से पूर्ण करता है वह प्यास को शान्त करने वाली पुण्य जलराशि को गदा करके पीने वाला मूर्ख है। क्योंकि हिंसादि अवगुणों के मूल अर्थ और काम है, इन्हीं के कारण मनुष्य हिंसा आदि दुष्कर्मों मे लीन होता है। अतएव इनकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। ये दोनो अर्थ और काम तत्त्वबोध के ऐसे लुटेरे हैं जिनको दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है।" आदि, आदि।

इस प्रकार के अनेक तीखे व्यग्यो मे तपस्या के साथ हिंसभावना का परित्याग करने के लिए देवराज इन्द्र ने जो-जो उपदेश दिए हैं, उन्हें देखकर प्रत्येक पाठक की सहानुभूति इन्द्र के साथ हो जाती है और हृदय म यह बात बैठ जाती है कि अर्जुन का मन्तव्य अच्छा नही है, किन्तु ज्योही गाण्डीव एव कृपाणधारी अर्जुन का उत्तर हम सुनने लगते है, त्योंही हमारी सहानुभूति पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिए द्विगुणवेग से उमड पडती है। उस समय 'दुराचारियों को उनके दुष्कर्मो का बदला अवश्य देना चाहिए।'—यह भावना हमारे हृदय मे इतनी प्रबल हो उठती है कि देवराज के सभी तर्क और युक्तियाँ निस्सार दिखाई पडने लगती हैं। अपने पाँचो वीर भाइयो के सम्मुख भरी सभा मे पाँचाली की करुण वस्त्रा-पहरण की चर्चा करते हुए जब अर्जुन कहते हैं कि —

> न सुख प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम्।
> नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्त ब्रह्मण पदम्॥
> प्रमार्ष्टुमयश पङ्कमिच्छेय छद्मना कृतम्।
> वैधव्यतपितारातिवनितालोचनाम्बुभिः॥

सर्ग ११, १६-१७

अर्थात् न तो मैं किसी सुख की कामना से यह विकट तपस्या कर रहा हूँ, और न धन की ही लिप्सा मुझे है क्योंकि धन तो समुद्र की चचल लहरो के समान है। यही नही, मैं इस शरीर की अनित्यता अथवा क्षणभगुरता रूपी वज्र से भयभीत होकर मुक्ति की भी कामना नहीं करता। मुझे यह कुछ नहीं चाहिए, हमारे क्रूर शत्रुओ ने हमारे साथ छल-कपट करके अपयश रूपी कीचड से जो हमे कलुषित कर दिया है, उसी कीचड को मैं वैधव्य की दु सह व्यथा

से पीड़ित वैरियों की स्त्रियों के नेत्रों से गिरे हुए जल से धो डालना चाहता हूँ। बस, हमारी कोई इच्छा है तो यही है।

वीरवर अर्जुन की इस दर्पोक्ति के प्रति मे पाठकों की सहज सहानुभूति जाग उठती है।

इसी प्रकार का एक तीसरा प्रसग भी उल्लेखनीय है। वराह के वध प्रसग पर जब किरात सैनिक अपने पक्ष को उपस्थापित करता है तो उस समय ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके तर्कों को खडित करने की शक्ति अर्जुन को कहाँ से प्राप्त होगी, किन्तु ज्यो ही अर्जुन अपना वक्तव्य प्रारम्भ करते हैं, त्यो ही उनके कथन की अखडनीयता पर पाठक चमत्कृत हो उठता है। इन सभी सन्दर्भों मे महाकवि ने अपनी वक्तृत्व-प्रतिभा का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। किसी भी विषय के पक्ष-प्रतिपक्ष मे कहने के लिए उनके पास अकाट्य युक्तियाँ थी, अप्रतिम तर्क थे और सब वादी को भी मूक बना देने की निर्मल प्रतिभा थी। जिस अवसर पर वह जो कुछ कहते या कहलाते हैं, उस अवसर पर वही समीचीन मालूम पडने लगता है। भारवि को इस निपुण वक्तृत्व कला के प्रति अतिशय अनुराग था। प्रस्तुत महाकाव्य के अनेक सन्दर्भों पर उन्होंने न केवल अच्छे वक्ता की प्रशसा ही की है वरन् वक्तृत्व कला की सूक्ष्म विशेषताओं का रहस्योद्घाटन भी किया है।

राजनीति के अनेक गूढ सन्दर्भों पर भारवि की मार्मिक उक्तियों को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमे राज-काज की बारीकियो को परखने की अच्छी क्षमता थी और लोकनीति के सभी प्रसगो को प्रस्तुत करने का भी निजी विशाल अनुभव था। मातृप्रेम, पतिप्रेम, सेवक-स्वामिधर्म, तपस्या एव यज्ञाराधन की पावन परम्परा, मुनिधर्म, शृगार, वात्सल्य, कृषिकर्म आदि गृहस्थोपयोगी व्यवहारों का भी उत्कृष्ट रूप उन्हें ज्ञात था। आर्य धर्मशास्त्रों की महती मर्यादाओं के समान ही आदर्श एव प्रेमपूर्ण गृहस्थ जीवन की अनुभूतियाँ भी उनके पास थी।

उनकी गृहस्थ जीवन सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध मे नीचे के कतिपय श्लोक सुन्दर प्रमाण स्वरूप हैं—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः ।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥
या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः ।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव सम्पदः ॥

सर्ग ११, २१-२२

इन श्लोको मे लक्ष्मी की भर्त्सना ही नही की गई है, आगे चलकर उसकी विकरालता का परिचय देते हुए कवि ने यहाँ तक कहा है—

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ।

सर्ग ११,२४

काम-क्रोधादि विकारो की चर्चा करते हुए कवि कहता है—

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥

सर्ग ११,६५

स्वाभिमान हीन जीवन की तृण-तुल्य कल्पना कवि के शब्दो मे सुनिए—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निस्सारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥
तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥

सर्ग ११, ५९-६१

निरन्तर अभ्युन्नति की आकाक्षा करने वालो के लिए कवि ने एक स्वाभाविक कारण की उद्भावना इस प्रकार की है—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसी मागान्महता केन तुङ्गता ॥

सर्ग ११, ६०

भारवि के आदर्श पुरुष एव पुरुषार्थ की परिभाषा निम्नलिखित श्लोको मे देखिए—

ग्रसमानमिवौजासि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥

सर्ग ११, ७३

इसी प्रकार भारवि ने सभ्य पुरुष की परिभाषा भी इस प्रकार की है ।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चिता मनोगत वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गमीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥

सर्ग १४, ४

समूचे किरातार्जुनीय महाकाव्य मे इस प्रकार की नीतिमूलक सूक्तियो की सख्या सस्कृत के अन्य महाकाव्यो की अपेक्षा अत्यधिक है । यहाँ तक कि सस्कृत के प्राय सभी सूक्ति-सग्रहो मे भारवि के सैकडो श्लोक उद्धृत किए गए है और परवर्ती अनेक महाकवियो ने भारवि के इन भावो को आत्मसात् करने मे कोई सकोच नही किया है। पण्डितम्मन्य माघ कवि पर भारवि की इस समादृत रचना का इतना गहरा प्रभाव पडा था कि उन्होने न केवल भारवि के अनेक श्लोको के भावो को ही आत्मसात् किया है वरन् किरातार्जुनीय के कथा-प्रबन्ध का भी अनुकरण करने मे तनिक सकोच नही किया है। नीचे हम किरातार्जुनीय के अनुकरण पर माघ की रचना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

किरातार्जुनीय के आरम्भ मे भारवि ने श्री शब्द का प्रयोग करके प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर श्री अथवा लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है । माघ ने भी अपने महाकाव्य के आरम्भ मे श्री शब्द का तथा प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर भी श्री शब्द का प्रयोग किया है । भारवि ने किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग मे दुर्योधन द्वारा होने वाली विपदाओ की चर्चा करके युधिष्ठिर को तत्काल युद्धार्थ प्रेरणा देने की कथा ग्रथित की है तथा द्वितीय एव तृतीय सर्गों मे राजनीति के दाँव-पेंचो को विविध प्रकार से पल्लवित किया है, तो माघ ने भी अपने ग्रन्थ के

आरम्भ मे शिशुपाल द्वारा होने वाली विपदाओ की चर्चा कर भगवान् श्रीकृष्ण को तत्काल युद्धारम्भ करने की प्रेरणा देते हुए उसके द्वितीय सर्ग मे राजनीति एव कूटनीति के प्रपञ्चो का पल्लवन बहुत कुछ भारवि की शैली मे ही प्रस्तुत किया है। यही नही, भारवि के अनेक श्लोको के तात्पर्य माघ के इस प्रसग के श्लोको मे ज्यो के त्यो मिलते हैं। किरातार्जुनीय मे द्रौपदी तथा भीमसेन के उत्तेजनात्मक वक्तव्यो का खडन करते हुए युधिष्ठिर ने यदि सामनीति को अपनाकर उपयुक्त समय आनेपर अभियान करने का मन्तव्य प्रकट किया है तो माघ ने भी बलराम के इसी प्रकार के उत्तेजक वक्तव्यो का खडन कर उद्धव ने भी सामनीति को ही श्रेयस्कर बताया है। किरातार्जुनीय के तृतीय सर्ग मे भारवि ने अर्जुन के द्वैतवन से इन्द्रकील पर्वत स्थित तपोवन-गमन का वर्णन किया है तो माघ ने भी अपने महाकाव्य के तृतीय सर्ग मे भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारका से बहिर्गमन का प्राय वैसा ही वर्णन किया है।

इस प्रसग पर दोनो ही कवियो ने आत्मीय जनो की मार्मिक व्यथाओ का मनोहर वर्णन किया है। भारवि ने अपने किरातार्जुनीय के चतुर्थ एव पचम सर्गों मे नगाधिराज हिमालय एव ऋतुओ का मनोमोहक वर्णन किया है, उसी का अनुकरण माघ ने भी अपने महाकाव्य शिशुपाल-वध के चतुर्थ एव पचम सर्गों मे रैवतक पर्वत एव ऋतुओ के वर्णन प्रसग पर किया है। इस स्थल के वर्णन भी दोनो महाकवियो के बहुत कुछ मिलते-जुलते चलते हैं, यहाँ तक कि दोनो मे छन्द भी समान ही रखे गए हैं। इसी प्रकार भारवि के किरातार्जुनीय के सातवें तथा आठवें सर्ग मे सुन्दरियो की जलक्रीडा का जो प्राजल वर्णन है उसी का अनुकरण माघ ने भी शिशुपाल-वध के सातवें तथा आठवें सर्ग मे किया है। इस सन्दर्भ मे भी दोनो महाकवियो की अनेक उक्तियाँ एक-सी मालूम पडती हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय के नवें तथा दसवें सर्ग म सायकाल, चन्द्रोदय, मधुपान, रतिक्रीडा, प्रणयालाप आदि का जो घटा-टोप वर्णन किया गया है उसके अनुकरण का लोभ माघ नही सवरण कर सके है। एक मे यदि अप्सराओ का सन्दर्भ है तो दूसरे मे यादव सुन्दरियो का। प्राकृतिक

दृश्यो तथा उद्दीपन विभावो के वर्णन मे दोनो ही महाकवि एक ही परम्परा के अनुगामी हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय मे धनजय की कठोर तपस्या का जो सजीव किन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन भारवि ने किया है, उसकी पूर्ति माघ ने धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सागोपाग वर्णन मे की है। दोनों ही महाकवियो के ये सन्दर्भ अत्यधिक मोहक और आकर्षक हुए हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय मे भारवि के युद्ध स्थल के सागोपाग वर्णन के समान ही शिशुपाल वध का भी युद्ध-प्रसग अत्यन्त रोमाचकारी तथा युद्ध के विभिन्न प्रकारो से अतिरजित है। दोनो ही महाकवियो के युद्ध-वर्णन सस्कृत के विकट चित्रबन्धो से विभूषित हैं। प्रकट है कि भारवि की उत्कृष्ट पण्डितमन्यता का व्यापक प्रभाव माघ पर भी कम नही पडा था। भारवि के काव्य-शिल्प विधानो को अपना आदर्श मानकर चलने मे उन्हे कोई सकोच नही हुआ।

माघ जैसे महान् पडित तथा उत्कट-कल्पना-शक्ति-सम्पन्न कवि द्वारा किरातार्जुनीय अथवा भारवि की इस अनुकृति का फलितार्थ यही निकला है कि उस समय सस्कृत-समाज पर भारवि की कवित्व प्रतिभा का एक मात्र आधिपत्य था। उनका किरातार्जुनीय निश्चय ही उस समय के सस्कृत के उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थो मे सर्वश्रेष्ठ हो चुका था।

भारवि के विकट चित्रबन्धो मे यद्यपि काव्य की आत्मा रस का पूर्ण परिपाक नही हुआ है, तथापि तात्कालिक सस्कृतज्ञ-समाज की अभिरुचि के आग्रह से उन्हे ऐसा करना पडा होगा। क्योकि इन विकट चित्रबन्धो की रचना किसी सामान्य काव्य-कौशल की बात नही है। भारवि के गोमूत्रिका बन्ध, अर्धभ्रमक, सर्वतोभद्र, एकाक्षर पाद, एकाक्षर श्लोक, द्वयक्षर श्लोक, निरौष्ठ्य, समुद्गक, पादान्तादियमक, पादादि यमक, प्रतिलोमानुलोमपाद, प्रतिलोमानुलोमार्द्ध आदि विकट बन्धो को देखकर सामान्य बुद्धि को विस्मित हो जाना पडता है। सस्कृत जैसी अनेकार्थ धातुओ से युक्त भाषा मे ही ये विकट बन्ध सहलता से सभव हो सकते हैं। किन्तु सामान्य कवित्व प्रतिभा के द्वारा यह सभव भी नही है। सस्कृत के बहुत कवियो ने इन निबन्धो की रचना मे कृतकार्यता प्राप्त की है किन्तु किरातार्जुनीय का समूचा पन्द्रहवाँ सर्ग मानो इसी अद्भुत पाण्डित्य-

प्रदर्शन के ही लिए रचा गया हो। एक श्लोक तो आपने ऐसा भी दिया है जिसके भिन्न-भिन्न तीन अर्थ होते है तथा इसी प्रकार एक श्लोक जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऐसा भी दिया है, जिसमे केवल एक अक्षर 'न' का प्रयोग हुआ है। दोनो के नमूने नीचे दिए जा रहे हैं।

अर्थ त्रयवाची श्लोक —

जगती शरणे युक्तो हरिकान्त सुधासित ।
दानवर्षी कृताशसो नागराज इवाबभौ ॥

देखिये सर्ग १५, ४५

एकाक्षर श्लोक —

न नोन नुन्नो नुन्नानो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

सर्ग १५, २४

इसमे अन्तिम अक्षर हलन्त तकार को अक्षर नही समझना चाहिए, क्योंकि इस चित्रबन्ध मे अन्तिम अक्षर के हलन्त होने की शर्त स्वीकार्य है और फिर यह अतिम हलन्त तकार है भी तो न का समानस्थानी।

इसी प्रकार भारवि के काव्य शिल्प का उत्कृष्ट नमूना हम निम्नलिखित सर्वतोभद्र बन्ध मे भी देखते हैं।

| दे | वा | का | नि | नि | का | वा | दे |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वा | हि | का | स्व | स्व | का | हि | वा |
| का | का | रे | भ | भ | रे | का | का |
| नि | स्व | भ | व्य | व्य | भ | स्व | नि |

इस सर्वतोभद्र वन्ध की विशेषता यह है कि इसे जिस ओर से भी पढ़िये पूरा श्लोक बन जाता है। श्लोक का वास्तविक स्वरूप निम्नलिखित है जो आठो कोष्ठको के चतुष्टय मे क्रमश चारो ओर से बन जाता है।

देवाकानि निकावादे वाहिकास्व स्वकाहिवा।
काकारेभभरे काका निस्वभव्य व्यभस्वनि॥

सर्ग १५, श्लोक २५

नीचे हम भारवि का एक महायमक उद्धृत कर रहे है, जिसके चारो चरणो का पाठ एक ही समान है।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा.॥

सर्ग १५, श्लोक ५१

इस श्लोक के शब्दो अथवा वाक्यो मे भी समानता दिखाई पड रही है, किन्तु अर्थ सबके पृथक्-पृथक् हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विकट छन्दो के निर्माण मे महाकवि भारवि ने कितना कठोर परिश्रम, समय तथा प्रतिभा व्यय की होगा।

भारवि के ऐसे विकट वन्धो ने उनकी अर्थ-गौरव से युक्त काव्य-वाणी को ऐसे स्थलो पर और भी अधिक क्लिष्ट तथा गम्भीर बना दिया है। आज तो ऐसे श्लोको का अनुवाद कार्य भी कथमपि सुगम न होता यदि मल्लिनाथ जैसे प्रकाड पडितो की टीकाएँ हमारे सम्मुख न होती। निश्चय ही भारवि को अपने इन विकट वन्धो के तात्पर्यो को तात्कालिक सस्कृतज्ञ समाज मे स्वयमेव प्रकट करना पडा होगा, जिसकी परम्परा मल्लिनाथ के समय तक चलती आई होगी। किन्तु यह तो कहना ही पडेगा कि विशुद्ध काव्य-रसिक की दृष्टि से भारवि के इन विकट प्रयत्नो ने उनके महाकाव्य की लोकप्रियता मे थोडी-बहुत कमी अवश्य कर दी है। सामान्य-जन की पहुँच से दूर जाकर कोई भी काव्य-रचना अपनी लोक-

प्रियता तो नष्ट कर ही देती है। इस दृष्टि से भारवि के ये दुर्गम प्रयत्न उनके दोष ही माने जायेंगे। आलकारिकों के पाश मे बँधकर उनकी मौलिक कवि-प्रतिभा का यह चमत्कार जितना मनोरञ्जक और कुतूहलवर्धक है उतना सहृदय-सवेद्य तथा रसानुप्राणित नहीं है। यही नहीं, ऐसे सन्दर्भ भी प्रकृत विषय से बहुत कुछ स्वच्छन्द हो गए है।

भारवि की कविता मे प्रसादगुण का यद्यपि अभाव नही है तथापि मल्लिनाथ के शब्दो मे उसे नारिकेल के मीठे जल की समानता मे तो रखा ही जा सकता है। ऊपर से रूक्ष और अत्यन्त क्लिष्ट आवरण मे छिपे हुए नारिकेल के रस जैसी माधुरी किरातार्जुनीय के श्लोकों मे भी है। जब तक उसके ऊपर के आवरण को तोडा नही जाता अर्थात् क्लिष्ट शब्दो के भीतर प्रविष्ट नही हुआ जाता, तब तक उसके भीतर छिपे हुए रस का अवगाहन करना सरल नही है। महाकवि कालिदास की निसर्ग प्रसादता तथा पदो के बाहर तक छलकती हुई रस-माधुरी की उसमे आशा करना उचित नही है। क्योंकि महान् टीकाकार मल्लिनाथ ने बहुत कुछ सोच-समझकर ही अपनी सम्मति निम्नलिखित श्लोक मे प्रकट की है।

नारिकेलफलसम्मित वचो भारवे सपदि यद् विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भर सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

## कवि परिचय—

सस्कृत के अन्य अनेक महाकवियो के समान ही भारवि के जीवन वृत्त की सामग्रियाँ भी इधर-उधर बिखरे रूप मे ही प्राप्त होती हैं, जिनकी एकसूत्रता बहुत कुछ अनुमानो के आधार पर ही निश्चित की जा सकती है। भारवि किस समय पैदा हुए और ये भारत के किस अञ्चल के निवासी थे, इन दोनों बातो के सम्बन्ध म प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव के कारण अनुमानो का ही सहारा लिया जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान हरमैन जैकोबी ने ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व भाग मे भारवि की स्थिति का अनुमान लगाते हुए अनेक साधार प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। दक्षिण भारत के बीजापुर जिले के ऐहोल अथवा आयहोली

नामक ग्राम मे प्राप्त एक प्राचीन शिलालेख के आधार पर भी भारवि का समय *ईसा की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध ही अनुमित होता है। उक्त शिलालेख सुप्रसिद्ध* जैन कवि रविकीर्ति के मन्दिर मे प्राप्त हुआ है। यह रविकीर्ति चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समसामयिक तथा आश्रित कवि थे, शिलालेख स्वय उन्ही द्वारा स्थापित तथा उन्ही के रचित पद्यो मे इस प्रकार है—

> प्रशस्तेर्वसतेश्चापि जिनस्य त्रिजगत् गुरो ।
> कर्त्ता कारयिता चापि रविकीर्ति कृती स्वयम् ।।
> त्रिशत्सु त्रिसहस्त्रेषु भारतादाहवादित.।
> सप्ताब्द शतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु ।।
> पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चाशतेषु च ।
> समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ।।

अर्थात् इस शिलालेख की प्रशस्ति की रचना करने वाला और इस त्रिजगत् गुरु जिन के मन्दिर का निर्माण करने वाला स्वय रविकीर्ति ही है। इस का निर्माण महाभारत युद्ध के ३७७५ और शक सवत् के ५५६ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ।

इस मन्दिर के शिलालेख मे रविकीर्ति ने अपने आश्रयदाता चालुक्य नरेश *पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रय के वश तथा स्वय उसी की लम्बी-चौडी प्रशस्ति भी* लिखी है और अन्त मे कविकुलगुरु कालिदास तथा भारवि के नामो का भी इस *प्रकार उल्लेख किया है* —

> येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
> स विजयता रविकीर्ति कविताश्रितकालिदासभारविकीर्ति ।।

अर्थात् जिस विद्वान् एव विवेकी रविकीर्ति ने इस जिन मन्दिर के निर्माण का आयोजन किया वह कवित्व के क्षेत्र मे भी कालिदास और भारवि के समान ही यशस्वी था। रविकीर्ति के आश्रयदाता पुलकेशी द्वितीय अथवा सत्याश्रय का राज्यकाल भी लगभग ६४२ ईस्वी के आस-पास था जो कि रविकीर्ति के शिला-

इस लेख के आरम्भ मे दाता राजा पृथ्वीकोगणि की वशावली दी गई है, जिसके वश में अविनीत नामक राजा का कोई दुर्विनीत नामक पुत्र था, जिसके विषय मे लिखा गया है :—

किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोङ्कारो दुर्विनीतनामधेयः

इसी दुर्विनीत की सात पीढियो के अनन्तर दाता राजा पृथ्वीकोगणि हुआ था। जैसा कि पहले उद्धृत है इस दानपत्र का समय ६९८ शक सवत अर्थात् ७७६ ईस्वी सन् होता है। अब यदि प्रत्येक पीढी के लिए कम से कम २० या २५ वर्ष हम रखें तो भी दुर्विनीत राजा का समय इसके १५०, १७५ वर्ष पूर्व अवश्य रखना होगा। इस हिसाब से ६०० ईस्वी सन् के आस-पास दुर्विनीत का राज्यकाल सिद्ध होता है, जो कि रविकीर्ति का भी समय था। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि ईस्वी सन् की सातवी शताब्दी के आरम्भ में ही दक्षिण भारत के लोग महाकवि भारवि और उनकी अनवद्य रचना किरातार्जुनीय से सुपरिचित हो चुके थे। अतएव यह कहने मे कोई अनौचित्य नही दिखाई पडता कि महाकवि भारवि का समय ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व ही था।

भारवि का जन्म स्थान—महाकवि भारवि की प्रसिद्धि एव उनकी रचना किरातार्जुनीय की लोकप्रियता के सम्बन्ध में हमें जितनी विपुल सामग्री दक्षिण भारत के अञ्चलो में प्राप्त होती है, उन्हे देखते हुए यह अनुमान सहज ही पुष्ट होता है कि इनकी जन्म-भूमि दक्षिण भारत थी। इस तर्क के पक्ष मे अन्य प्रमाण भी हैं। किरातार्जुनीय के अठारहवें सर्ग का उनका एक श्लोक इस प्रकार है :—

उरसि शूलभृत. प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टय.।
भृशरया इव सह्यमहीभृत पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मय.॥

यह प्रसग अर्जुन और शिव जी के द्वन्द्व युद्ध का है। शिव जी द्वारा शस्त्रास्त्रों के विफल कर दिये जाने पर अर्जुन ने मल्ल-युद्ध आरम्भ कर दिया

और लगे उनकी छाती मे तडातड घूंसे जमाने । उन घूंसो की तुलना कवि ने दाक्षिणात्य पर्वत सह्याद्रि के चरणो मे लगने वाले समुद्र की वडी-वडी लहरो के थपेडो से की है । कुछ लोगो का अनुमान है कि सह्याद्रि के इस नामोल्लेख से कवि की जन्म-भूमि का दक्षिण भारत मे होना युक्ति-सगत प्रतीत होता है ।

किन्तु भारवि ने जिस इन्द्रकील पर्वत का विपुल वर्णन का किया है, वह कुछ लोगो के मतानुसार आधुनिक सिक्किम राज्य की सीमा पर अवस्थित हिमालय का एक अङ्गभूत पर्वत है, और जो अव भी इसी नाम से विख्यात है । उस पर्वत के आस-पास भारवि के वर्णनानुसार किरातो अथवा आदि-वासियो की वस्ती आज भी पाई जाती है । अत इसके अनुसार उन्हे उत्तर भारत का निवासी भी माना जा सकता है । जैमा कि श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य का भी कथन है । किन्तु भारवि के उत्तर भारत निवासी होने के विपरीत अनेक युक्तियां हैं । अनेक शताब्दियो तक भारवि और उनकी अनुपम रचना किरातार्जुनीय के सम्वन्ध मे उत्तर भारत का नितान्त अपरिचित रहना तो यही सिद्ध करता है कि भारवि दाक्षिणात्य ही थे । किसी स्थल विशेष अथवा विषय विशेष का वर्णन कर देने मात्र से किसी कवि का उस स्थल को निवासी अथवा उस विषय का पूर्ण अधिकारी मान लेना उचित नही है । कालिदास प्रभृति महाकवियो ने समुद्र, हिमालय अथवा भूमडल के अनेक अञ्चलो मे फैले हुए प्रदेशो का वर्णन किया है, उसके अनुसार उन सभी के साथ उनका सम्वन्ध स्थापित करना उचित नही है । कवि क्रान्तदर्शी होता है, विधाता की सृष्टि के समान उसकी कल्पनाओ की सीमा पृथ्वी एव आकाश के भीतर सर्वत्र जा सकती है । अन्यथा भारवि के युद्ध एव राजनीति वर्णन को देखते हुए उनको एक सेनापति एव सम्राट के रूप मे भी हमे स्वीकार करना पडेगा ।

इसके अतिरिक्त भारवि यदि दक्षिण भारत के न होते तो बहुत दिनो तक मध्यवर्ती विन्ध्याचल की दुर्गम पहाडिया एव अरण्यानियो के कारण दक्षिण और उत्तर भारत के प्राचीन समय के यातायात साधना के अभाव से उनकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम दक्षिण भारत मे ही क्योकर होती, कालिदासादि की तरह उत्तर भारत मे ही सर्वप्रथम वे भी सुप्रसिद्ध हुए होते । अतएव यह मान लेना-युक्ति सगत है कि

भारवि दक्षिण भारत के ही किसी प्रदेश के निवासी थे और सभव है वे अवन्ति-सुन्दरी कथा के रचयिता आचार्य दडी के प्रपितामह दामोदर के मित्र भी रहे हो। भारवि की सहायता से ही दामोदर कवि को चालुक्यनरेश राजा विष्णु-धर्मन् की सभा मे सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ था।

## जीवन वृत्त सम्बन्धी दन्तकथा

भारवि के जीवन के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक तथ्यो का तो अभाव है किन्तु दन्तकथाओं की अधिकता है। इन दन्तकथाओ मे कितना सत्य है कितनी अतिरजना है—इसका निश्चय करना आज बडा कठिन है। अतएव हम इस सम्बन्ध की एक कथा को ज्यो का त्यो यहाँ रख देते हैं।

इस दन्तकथा के अनुसार महाकवि भारवि धारा नगरी के निवासी थे। उनके पिता का नाम श्रीधर तथा माता का नाम सुशीला था। भारवि का विवाह भृगुकच्छ अर्थात् आधुनिक भडौच के चन्द्रकीर्ति नामक एक सद्गृहस्थ की कन्या रसिकवती अथवा रसिका के साथ हुआ था।

भारवि के पिता व्याकरण और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे, किन्तु भारवि उनसे भी बढकर विद्वान हुए। अनेक राज-सभाओ मे उन्होंने सैकडो पडितम्मानी विद्वानो को पराजित कर अक्षय कीर्ति प्राप्त की, किन्तु इसका परिणाम सुखद नही हुआ। भारवि को अपने पाडित्य का दुरभिमान हो गया। अपने नवयुवक पुत्र के इस दुरभिमान से पडित श्रीधर को दुश्चिन्ता हुई, वे परम अनुभवी और बहुश्रुत व्यक्ति थे। पाडित्य ही नही, उन्नति का समूल उच्छेद करने वाले अपने पुत्र के गर्वाड्कुर को, जितनी शीघ्रता से हो सके, समूल उखाडने के लिए वे तत्पर हो गए। एक दिन उन्होंने अपने इस नवयौवनोद्धत एव दुरभिमानी पुत्र को एकान्त मे बुलाकर कहा—'पुत्र ! तुम्हारा दुरभिमान तुम्हारी उन्नति का शत्रु है। तुम पडितों का अपमान मत करो और अपने को ससार का अद्वितीय पडित मत समझो।' किन्तु भारवि को पिता की ये बातें पसन्द नहीं आईं और वे अपना अध्ययन-अध्यापन बद कर दिन-रात अपने दुरभिमान के नशे मे ही चूर रहने लगे।

श्रीधर को इससे विशेष चिन्ता हुई। फिर तो उन्होंने भारवि को गर्वमाधा-

रण के सम्मुख भी अपमानित करना आरम्भ कर दिया। जहाँ कही भारवि जाते वही श्रीधर भी पहुँच जाते और बिना अवसर-अनवसर का विचार किए उनकी तीव्र निन्दा तथा भर्त्सना करने लगने। उनकी युक्तियो को निस्सार बताकर उन्हे महामूर्ख तथा अभिमानी सिद्ध करते। पिता द्वारा पुत्र के अपमान की यह घटना यद्यपि सबको बडी विचित्र लगती तथापि श्रीधर दूसरो के मना करने पर भी अपने इस कठोर कर्त्तव्य से विमुख नही हुए। अब तो भारवि का कही आना-जाना भी कठिन हो गया। जहाँ कही वे जाते सर्वत्र उनके पिता श्रीधर उपस्थित मिलते।

अपने पिता के निन्दा एव भर्त्सना के कठोर बाणो को सहन करते-करते भारवि के धैर्य की सीमा नही रही। उन्होंने सोचा कि अन्यान्य पराजित पडितो के समान ही मेरा पिता भी मेरी निन्दा करता है तो उनके अमर्ष की सीमा न रही। क्रोधावेश मे वे अपने पिता को मार डालने पर उतारू हो गए। उन्होंने निश्चय किया कि रात्रि मे सोते समय तलवार के एक झटके से इस विद्वेषी पिता की इहलीला समाप्त कर देने मे ही हमारा कल्याण है। क्रोध विवेक का शत्रु होता है। भारवि को पिता के इस नृशस वध मे किसी भी प्रकार की त्रुटि नही दिखाई पडी और वे एक रक्तपिपासु दानव के समान दिनभर क्रोधावेग से मलिन मुख और विक्षुब्ध रह कर अँधेरी रात्रि की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ खाना पीना तो दूर पल-पल उनके लिए कठिन बीत रहा था।

अन्तत रात्रि आ गई। माता के कहने-सुनने पर भी भारवि ने कुछ भी नही खाया पिया। उनके पिता श्रीधर यद्यपि भारवि की इस चिन्ता से दु खी थे, तथापि उन्होने अपने कृत्रिम क्रोध को यथापूर्व बनाए रखने के लिए भारवि से खाने-पीने के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा। भारवि के दानव को इससे भी आहार मिला। वे एक कोने मे छिपकर द्विगुणित क्षोभ से माता पिता के सो जाने की दु खद प्रतीक्षा करने लगे।

रात्रि धीरे-धीरे बीत रही थी, किन्तु अपने सुयोग्य पुत्र को चिन्तातुर एव क्षुधा-तृषा से विह्वल स्थिति मे छोडकर सुख की निद्रा मे सोना किस माता पिता को भाएगा। भारवि की दिन भर की दु खदायिनी उदासी और चिन्ता की चर्चा करते हुए उनकी ममतामयी जननी ने एकान्त मे उनके पिता से कहा—

क्या आपको ज्ञात नही कि आज भारवि ने भोजन ग्रहण करना तो दूर जल भी नही पिया। आज वह प्रात काल से ही बहुत चिन्तित, म्लान और विह्वल है।

पिता—मुझे ज्ञात तो है किन्तु इसका कारण क्या है, कुछ तुम्हे मालूम है ?

माता—कारण तो आपही हैं और पूछते मुझसे हैं। ऐसे सुयोग्य पुत्र की दिन-रात निन्दा करते रहते हैं और उसकी उदासी और चिन्ता का कारण मुझसे पूछते हैं। मुझे आप के इस रवैये से बडा दुख है। मैं तो समझ भी नही पाती कि आपने यह अकारण द्रोह पुत्र के साथ क्यो पैदा कर लिया है।

पिता—प्राणप्रिये। तुझे अपने हृदय की सारी वेदना कैसे बता सकता हूँ। मुझे स्वय वडी ग्लानि होती है किन्तु क्या करूँ, यदि कर्तव्य की कठोरता से मैं विचलित हो जाऊँ तो भारवि का भविष्य हमारी इच्छा के अनुसार नही होगा।

माता—मेरी तो समझ मे नही आता कि आप यह सब क्या कह रहे हैं। जिसकी रात-दिन सब के सामने निन्दा और भर्त्सना किया करते हैं, उसके भविष्य की चिन्ता आप को क्यो है ? मैं तो समझती हूँ कि आप भी मेरे पुत्र के पांडित्य से ईर्ष्या करते हैं नाथ !

माता की वाणी आगे नही बढ सकी और वह अपने आन्तरिक दुखो के आवेग से विह्वल होकर सिसक-सिसक कर रोने लगी।

श्रीधर किंकर्त्तव्यविमूढ-भाव से कियत्क्षण चुप रहे। फिर अपनी चारपाई से उठकर बैठ गए और पत्नी को समझाते हुए बोले—

'आर्ये ! तुम्हारी चिन्ता को मैं समझता हूँ और मैं यह भी समझता हूँ कि पिछले कुछ दिनों से मैं किस प्रकार भारवि के समान महान् पडित पुत्र को अपमानित करने मे लगा हुआ हूँ किन्तु इसमे भी मेरा कुछ दूसरा ही उद्देश्य है। तुम उसे समझ जाओगी तो मेरे अपराधों को भूल जाओगी।'

माता की चिन्ता थोडी दूर हुई। वह बोली—'प्राणनाथ ! क्या मैं आपके उस सदुद्देश्य के बारे मे कुछ जान सकती हूँ ?'

श्रीधर बोले—'क्यो नहीं। अच्छा ही हुआ, जो तुमने अपनी वेदना प्रकट

कर मुझे यह रहस्य प्रकट करने का अवसर दिया। मैं भी भारवि को महान् पंडित मानता हूँ, किन्तु मैं चाहता हूँ कि वह इससे भी बढकर विद्वान् और पंडित बने। इधर राज-सभाओ मे अनेक पंडितो को पराजित करने के बाद उसे यह दुरभिमान हो गया है कि उसके समान इस ससार मे कोई दूसरा पंडित नही है। जब से उसके मन मे यह कुबुद्धि उपजी तब से उसने शास्त्रो का अध्ययन करना छोड दिया है। तुम जानती हो शास्त्र किसी विद्वान् के सेवक नही है। जो इनकी दिन-रात सेवा करता है, ये उसी के अधीन रहते हैं। जब भारवि कुछ अध्ययन-अध्यापन करेगा ही नही तो उसकी सारी विद्या नष्ट हो जायगी। तुम तो जानती ही हो कि अभिमानी की उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। मैं नही चाहता कि मेरे ऐसे सुयोग्य और प्राणप्रिय पुत्र की उन्नति रुक जाय। उसकी अधिगत विद्याएँ विस्मृत हो जायँ और उसकी उज्ज्वल कीर्ति-कौमुदी त्रिभुवन मे व्याप्त हुए बिना ही अभिमान के घनान्धकार मे तिरोहित हो जाय।

यही कारण है प्रिये ! जो मैं रात-दिन उसे सत्पथ पर लाने के लिये निन्दा एव भर्त्सना रूपी क्रूर अकुशो का प्रयोग करता हूँ। मुझे भी इनके प्रयोग से असह्य पीडा होती है, किन्तु क्या करूँ, कोई अन्य उपाय भी तो इसके लिए मैं नही सोच पाता हूँ।'

इतनी बातें करते-करते श्रीधर का कठ करुणोद्रेक से बोझिल हो उठा और एकात निशीथ के घनान्धकार मे छिपे हुए भारवि को भी यह समझने मे देर नहीं लगी कि उसके विद्वान् एव हितैषी पिता की आँखो मे उसकी उन्नति की चिता से जलती हुई आँसुओ की धारा नीचे की ओर अनवरत प्रवाहित हो रही है।

स्नेहिल पिता की अपार करुणा और हितेच्छा से विह्वल इन बातो को सुन-कर भारवि का दुर्दान्त दानव अपने आप ही दूर भाग गया। उन पर वज्रपात-सा हुआ। अपने आराध्य पिता की अनुपम पुत्र-वत्सलता को देखकर उनका हृदय आँखो के रास्ते उमड पडा। रजनी के घनान्धकार मे गृह-कक्ष के एक कोने मे छिपे हुए उनके अवरुद्ध कठ की सिसकियाँ मर्यादा तोडकर बाहर फूट पडी और उनके माता-पिता को यह समझने मे विलम्ब नहीं लगा कि भारवि उनके समीप ही कहीं खडे होकर रो रहे हैं।

माता-पिता की सयुक्त ममता और करुणा की धारा म अभिषिक्त भारवि का मनस्ताप उत्तरोत्तर बढता गया। ऐसे स्नेही और वत्सल पिता की क्रूर हत्या के पाप का निश्चय करने के कारण उनका अनुताप किसी भी प्रकार से शान्त नही हो पा रहा था। उन्होने निर्मल और भाव भरे हृदय से अपने पिता और माता का हार्दिक अभिनन्दन करते हुये अपने दूषित और स्मरण मात्र से विकम्पित कर देने वाले इरादे को भी उनसे छिपा नही रखा और साथ ही इस घृणित और मानसिक अपराध का कठोर से कठोर प्रायश्चित्त करने का विधान भी अपने पिता से पूछा।

पिता ने पहले तो कुछ आना-कानी की और कलियुग मे किए गए पापो का ही प्रायश्चित्त करने का विधान शास्त्र-सम्मत बतलाया। किन्तु जब उन्होंने देखा कि बिना प्रायश्चित्त किए हुए भारवि को चैन नही है तो उन्होंने छ महीने तक ससुराल मे रहकर श्वसुर की गौएँ चराने का प्रायश्चित्त बतलाया। अनुताप की ज्वाला से दग्ध भारवि उसी रात अपने पिता तथा माता से अपने अपराधों की शतश क्षमा-याचना कर अपनी ससुराल की ओर चल पडे। सयोग से भारवि की पत्नी अपने पिता के ही घर थी। भारवि के आने पर उनका यथोचित स्वागत-समादर हुआ, किन्तु जब यह ज्ञात हुआ कि वे अब छह महीने तक ससुराल मे ही निवास करने के लिए पधारे हुए हैं तो स्वभावत आदर-भाव मे कमी हो गई। उन्हे गोचारण का इच्छित कार्य सौंप दिया गया और वे सच्चे मन से गोचारण मे लगकर अपने उस कठोर पाप का प्रायश्चित्त करते हुए ससुराल मे रहने लगे।

गौवों के प्रति भारवि के सहज आदर एव अपार प्रेम की यह भावना उनके किरातार्जुनीय मे स्पष्ट दिखाई पडती है। यही नहीं, उन्होंने गोपालो (चरवाहों) का जीवन्त वर्णन किया है, उसमे भी उनके गोचारक कवि का सहज स्वर ही प्रस्फुटित हुआ है। पर्वतीय एव मैदानी दृश्यो के साथ-साथ खेतों और खलिहानो तथा गोचर भूमि का वर्णन भी उनके इस जीवन-क्रम के अभ्यासी होने का सकेत करता है। अस्तु,

कहा जाता है कि वन मे गौओ के चारण के समय ही भारवि ने अपने इस प्रिय महाकाव्य किरातार्जुनीय का आरम्भ किया था। वे प्रतिदिन सवेरे अपने श्वसुर की गौएँ खोलकर वन मे ले जाते और सायकाल वापस लौटते। दिन भर वन मे सघन वृक्ष अथवा लता वितान के नीचे बैठकर किरातार्जुनीय की मनोहर रचना करते हुए गुन गुनाते रहते और जब श्लोक बन जाते तो उन्हे वृक्ष के पत्तो पर कांटो से छेदकर अंकित कर लेते। इस प्रकार सैकडो श्लोकांकित पत्ते उनके पास जमा हो गए। छिदे हुए पत्तो का यही समुदाय उनके इस महाकाव्य का आदिम रूप था।

भारवि थे तो ससुराल मे किन्तु अधिक दिनो के अवस्थान के कारण ससुराल वालो की दृष्टि मे इनका तथा इनकी पत्नी का आदर बहुत कम हो गया था। एक बार किसी कार्यवश इनकी पत्नी को पैसो की आवश्यकता पड गई। उसने भारवि से पैसो की याचना की। किन्तु भारवि का पैसो से क्या वास्ता था। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। पत्नी बहुत दुखी हुई। उसे खिन्न देखकर भारवि को चिन्ता हुई और उन्होने अपने द्वारा रचित महाकाव्य का एक श्लोकार्द्ध निकालकर पत्नी को दिया और कहा—'जा, इसे किसी सेठ-साहूकार के यहाँ गिरवी रखकर कुछ पैसे ले आ।' उस समय भारवि किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग की रचना कर रहे थे। उस सर्ग के तीसवें श्लोक का अर्द्धभाग बन चुका था। वही उनके हाथ मे आया, जिसे उन्होंने पत्नी को गिरवी रखकर कुछ पैसे ले आने के लिए दिया था। वह श्लोक इस प्रकार था—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम्"

भारवि की पत्नी रसिकवती इस श्लोकार्द्ध को लेकर एक ऐसी धनिक स्त्री के पास गयी, जिसका पति सेठ वर्द्धमान गत पन्द्रह वर्षों से परदेश गया हुआ था। उसे भारवि की विश्वविश्रुत विद्वत्ता ज्ञात थी। वह मन ही मन उनके गुणो का आदर भी करती थी। उसने इस श्लोकार्द्ध को सहर्ष गिरवी रखकर भारवि की पत्नी को यथेच्छ पैसे दे दिए। वर्द्धमान सेठ की पत्नी ने उस श्लोक को एक सुन्दर पट्ट पर लिखवाकर अपने सिरहाने की ओर एक खूँटी पर लटका दिया।

अपने विरह-विदग्ध जीवन मे वह इस श्लोकार्द्ध से प्रतिदिन प्रेरणा और सान्त्वना प्राप्त करने लगी।

जिस समय वर्द्धमान घर से वाणिज्य के लिए परदेश गया था, उस समय उसकी पत्नी अन्तर्वत्नी थी। उसे परदेश मे पन्द्रह वर्ष बीत गए थे। उसकी अनुपस्थिति में ही उसकी पत्नी को एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो रूप मे उसके पति के ही समान था। धनिक परिवार का बालक। खाने-पीने की कोई कमी नही। लालन-पालन अच्छे ढङ्ग से होता ही था, वर्द्धमान का पुत्र पन्द्रह वर्ष मे ही सुन्दर किशोरावस्था मे पहुँच गया।

सयोग की बात। भारवि की स्त्री का श्लोकार्द्ध गिरवी रखने के कुछ ही समय बाद वर्द्धमान परदेश से वापस आ गया। सायकाल हो चुका था। वर्द्धमान ने सोचा—मुझे घर से गए पन्द्रह वर्ष बीत गये हैं, अत गुप्तरीति से चलकर पहले स्त्री के आचरण की जाँच कर लेनी चाहिए। उसने सन्ध्या गाँव के बाहर ही बिता दी, जब रात्रि हुई तो चोर के समान अपने घर की ओर चला। घर मे पहुँचने पर उसने देखा कि उसकी स्त्री पलँग पर सो रही है और उसी की बगल मे एक सुन्दर युवा पुरुष भी सो रहा है। दोनों के ओढने के लिए एक ही चादर भी है। वर्द्धमान का रक्त दृश्य देखते ही खौल उठा और उसे पत्नी के सतीत्व के नष्ट होने पर बडा क्रोध हुआ। विचार करने का उसे अवसर भी नहीं था। उसे इतना क्रोध हो गया था कि स्त्री और उस पुरुष दोनों को एक ही बार मे समाप्त कर देने के लिए उसने तुरन्त म्यान से तलवार खीच ली।

सौभाग्यवश तलवार खीचते ही वर्द्धमान की दृष्टि स्त्री के सिरहाने पर टँगी हुई उस तख्ती पर पड गई जिस पर भारवि-रचित श्लोक का अर्धभाग सुन्दर अक्षरो मे लिखकर टाँगा हुआ था। तलवार की चोट से वह तख्ती झूलने लगी थी। वर्द्धमान ने उस श्लोकार्द्ध को ज्यो ही देखा त्यो ही उसका विचार बदल गया। उसने सोचा तलवार तो हाथ मे है ही, जल्दी क्या है। सोते हुए का मारना पाप है, इन दोनो को जगाकर ही मारना उचित होगा। ऐसा निश्चय कर उसने स्त्री को तलवार की नोक से ही जगा दिया। स्त्री जगते ही अपन

स्वामी को चिरकाल के अनन्तर आया देखकर हर्ष-विह्वल हो उठी और तत्क्षण उस दूसरे पुरुष को जगाते हुए उसने गद्‌गद् कठ से पुकारा—

'बेटा ! उठो, देखो तुम्हारे पिता जी आ गए है । तुम उन्हे रोज पूछते थे, देखो, आज वे आ ही गए ।'

पुत्र भी हडवडा कर उठ बैठा और उसने अपने पिता के पैरो पर गिर कर हर्ष विह्वल हृदय से साष्टाग प्रणाम किया । वर्द्धमान के हर्ष का ठिकाना न रहा । अपने देवोपम तरुण पुत्र को अको मे लगा कर वह प्रेमाश्रु बहाने लगा। अपने मन मे उसने सोचा कि आज परमात्मा ने बडी कृपा की, यदि सिरहाने पर लटकी हुई यह तख्ती न होती तो अपने प्राणोपम पुत्र और पत्नी दोनो को मैं मार चुका होता । वर्द्धमान ने अपनी पत्नी तथा पुत्र—दोनो से अपने भयकर निश्चय की बातें बताते हुए पूछा कि—प्राणप्रिये । यह श्लोकार्ध तुम्हे कहाँ मिला था । यह तो निश्चय ही हमारे परिवार के समान ही अनन्त काल तक सैंकडो परिवारो की अक्षय सुख-समृद्धि का कारण होगा ।

पत्नी ने सेठ को पूरी कथा कह सुनाई । दूसरे दिन प्रात काल होते ही सेठ वर्द्धमान ने भारवि को बुलाकर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया और उस श्लोकार्द्ध के शेप भाग को देने के लिए भी उनसे सानुरोध प्रार्थना की ।

भारवि उस श्लोक के अर्ध भाग की रचना तो कर ही चुके थे, वर्द्धमान के अनुरोध को अगीकार कर उन्होने शेप भाग को भी उसे लिखकर दे दिया, जो इस प्रकार है—

वृणुते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा. स्वयमेव सम्पद ।

सर्ग २, ३०

श्लोकार्ध का शेपाश प्राप्त कर वर्द्धमान ने भारवि को प्रभूत धन-सम्पत्ति प्रदान की । उसने बता दिया—'महाराज ! यदि आप की यह अमूल्य कृति हमारी दृष्टि मे न पडती तो आज हमारी यह सुखी और समृद्ध गृहस्थी नरक की ज्वाला मे भस्म हो जाती । मैं आप का परम अनुगृहीत हूँ ।' निश्चय ही भारवि को अपनी कृति की इस सफलता पर हार्दिक प्रसन्नता हुई होगी ।

इस दन्तकथा मे वर्णित तथ्य सत्य हो या असत्य किन्तु इतना तो इसका फलितार्थ निकलता ही है कि भारवि की इस अद्वितीय रचना किरातार्जुनीय मे ऐसी अनेक नीतिपूर्ण सूक्तियाँ भरी हुई हैं जो मानव-जीवन मे सुख, शान्ति एव सन्तोष की वृद्धि कर सकती हैं। उनकी सुन्दर हितकारी अनुभूतियो से भरे अनेक उपदेशप्रद वाक्य धर्मशास्त्र के वचनो के समान ही समादरणीय हैं।

किरातार्जुनीय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारवि को लोक-व्यवहार एव शास्त्र-चिन्तन दोनो क्षेत्रो मे निपुणता प्राप्त थी। राजनीति एव लोकनीति का गहराई से अनुभव था। उनकी रचनाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि ये वडे ही घुमक्कड, दानशील तथा परोपकारी जीव थे। राजाओ की सगति मे अधिक रहते थे तथा शास्त्रार्थ एव गोष्ठी-सुख का इन्हें व्यासग था। आयुर्वेद तथा धनुर्वेद की सूक्ष्म जानकारियो के सग सगीत एव नृत्यादि ललित कलाओ के भी ये पारखी थे।

कहा जाता है कि कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि को भी उज्जयिनी मे अपनी काव्य-परीक्षा देनी पडी थी, जिसके अनन्तर उनके काव्य का सार्वजनिक समादर किया गया। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोग वडे-वडे नगरो मे काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए विद्वानो की गोष्ठियाँ बुलाते थे, जिनमे सफल होने पर उसकी कृति या पाण्डित्य का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाता था। उज्जयिनी चिरकाल तक हमारे देश की सास्कृतिक चेतना का प्रेरणा स्रोत रही है। शकारि विक्रमादित्य के काल से ही उसमें कवियो, कलाकारो तथा पडितो की परीक्षाएँ हुआ करती थी।

भारवि ने यद्यपि किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग के आरम्भ तथा प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर श्री अथवा लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है तथापि उनकी कृति के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे परम शैव थे। शिव जी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी। अपने काव्य नायक अर्जुन के मुख से उन्होंने शिव जी की जो स्तुति कराई है, उसमे उनके हृद्गत भावो की मनोहर झाँकी मिलती है। आचार्य दडी रचित अवन्ति सुन्दरी कथा के निम्नलिखित उद्धरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि शैव थे।

"यत कौशिककुमारो ( दामोदर ) महाशैवं महाप्रभावं गवा प्रभवं प्रदीप्तभास भारवि रविमिवेन्दुरनुरुद्धच दर्श इव पुण्य कर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनो प्रणयमन्वबध्नात् ।"

इस कथा प्रसग का सकेत पहले किया जा चुका है। इसमे भारवि को महाशैव विशेषण से अलकृत किया गया है। महाशैव भारवि के लिए उच्च सदाचार एव नैतिक जीवन की मान्यताएँ सर्वथा स्वाभाविक थी। उनकी इस कृति मे जो सर्वत्र नैतिकता एव उच्च सदाचार की महिमा गाई गई है वह उनके महाशैव कवि की ही विशेषता है।

किरातार्जुनीय के अतिरिक्त भारवि के किसी अन्य ग्रथ का कोई सकेत कही नही मिलता। केवल इसी एक महाकाव्य की रचना कर वे महाकवि बन गए थे। अपने समस्त सद्‌गुणो एव अध्ययन-परिशीलन का उन्होंने अपनी इस अनवद्य कृति मे सुन्दर प्रयोग किया है। फलत उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ एव प्रवृत्तियो की छाप किरातार्जुनीय के पात्रो मे स्पष्ट दिखाई पडती है। उनके सवादो को देखने से यह पता लगता है कि उनमे वक्तृत्व कला का सुन्दर विकास हुआ था। धर्मशास्त्रो की मर्यादा के समान ही वे प्राकृतिक नियमो के भी विशेषज्ञ थे।

कट्टर आस्तिकता के साथ वह परोपकार-परायणता के भी पुजारी थे। वैदिक सनातन धर्म के प्रति उनकी गूढ निष्ठा थी। मानव-स्वभाव की विरोधी प्रवृत्तियो का उन्हे आज के मनोवैज्ञानिक से कम ज्ञान नही था। उनके चरित्रो मे धर्मभीरु, शान्त, न्यायपरायण, सत्यप्रिय और छल-छिद्र से सदैव विरत रहने वाले युधिष्ठर के सग उद्धत, जल्दबाज और अपने बल-विक्रम के सम्मुख त्रैलोक्य को तृण समझने वाले भीमसेन भी हैं। क्षात्र धर्म के अभिमानी, मनस्वी, तेजस्वी, धीर, वीर और परम जितेन्द्रिय अर्जुन के साथ महर्षि वेदव्यास, देवराज इन्द्र तथा आशुतोष शिव के पौराणिक परम्परा-प्रसूत उज्जवल चरित्रो की रक्षा भी भारवि ने बडी निपुणता से की है। इससे प्रकट होता है कि वे केवल देश और काल की सभी परिस्थितियो के अच्छे जानकार ही नही थे अपितु उनका अध्ययन और चिन्तन भी नितान्त गम्भीर था।

किरातार्जुनीय के चरित्रों में आदर्श भ्रातृ-प्रेम, पतिप्रेम, सेव्य-सेवक-धर्म एवं लोक-व्यवहार की अन्यान्य विशेषताएँ भारवि के अपने चरित्र का प्रतिबिम्ब भी हो सकती हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वे परम रसज्ञ एवं भावुक हृदय के होते हुये भी एक गम्भीर विवेचक तथा आर्य-मर्यादाओं के सजग रक्षक थे। अपने कविकर्म को उन्होंने सर्वथा निर्दोष रीति से निर्वाहित किया है। जिस किसी विषय पर उन्होंने लेखनी चलाई है, उसकी पराकाष्ठा प्रदर्शित कर दी है। शरद् ऋतु का वर्णन आरम्भ किया है तो उसके लिए पूरा का पूरा सर्ग ही लिख डाला है। पर्वत और वन्य प्रदेश का वर्णन करने लगे तो भी सर्ग का सर्ग पूरा कर दिया। यही नहीं, आकाश मार्ग में गमन करने वाली अप्सराओं की यात्रा के वर्णन में भी उनकी कल्पना को कोई कठिनाई नहीं हुई। घोड़ों और हाथियों का भी उन्होंने ऐसा ही स्वाभाविक वर्णन किया है जैसा गौओं, गोपालों और साँड़ों का। ऐसा लगता है मानों इन्हीं पशुओं के बीच ही उनके जीवन का अधिकांश भाग बीता हो। शान्त रस की कविता के वर्णन में लगने हैं तो मालूम होता है, योगाभ्यास एवं वैराग्य की चरम सीमा उनसे अज्ञात नहीं थी किन्तु इसके विपरीत उनके शृंगारिक वर्णनों को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस कला में भी वह पारंगत थे। अप्सराओं के हावों-भावों, कटाक्षों एवं मदोन्मत्तावस्था का उन्होंने ऐसा सजीव वर्णन किया है जिसकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है। युद्ध वर्णन के सन्दर्भ में उनकी वीर और रौद्र रस की कविता का चमत्कार तो और भी चोखा है। दूत, राजमन्त्री, राजा, प्रजा, मुनि, योगी, तपस्वी एवं देवताओं की कर्म-मर्यादा के साथ ही उन्हें वन-वासियों के जीवन का भी अच्छा अनुभव था।

ये सारी विशेषताएँ यह सिद्ध करती हैं कि भारवि अपने समय के एक सर्वश्रेष्ठ कवि ही नहीं थे उनकी प्रतिभा, अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों का प्रसार सर्वतोमुखी था। जीवन में अच्छे से अच्छे एवं बुरे से बुरे दिन उन्होंने देखे थे और उनका धैर्यपूर्वक डटकर सामना किया था। उनका जीवन दर्शनिष्ठ-सा था, वैराग्य एवं तपस्या के आदर्शों की रक्षा करते हुए भी वे अपने निजी

जीवन मे गृहस्थी के आदर्शों के पक्षपाती थे। कठिनाइयों से किस प्रकार लोहा लिया जाता है, इसे वे बखूबी समझते थे, पलायनवादी मनोवृत्ति को वे तनिक भी पसन्द नही करते थे। शिव जैसे समस्त सृष्टि के सहारकर्त्ता देवाधिदेव के साथ प्रमथों की असख्य सेना के सम्मुख निरस्त्र स्थिति मे दुर्बलाग एव असहाय अर्जुन को भिडा करके उन्होने अपने स्वभाव की इसी विशेषता को प्रकट किया है कि—"मनुष्य मे अपराजेय शक्ति भरी है। वह अपने उत्कट पराक्रम एव धैर्य के सम्मुख सहारकर्त्ता रुद्र को भी द्रवित करके यथाभिलषित प्राप्त कर सकता है।"

किन्तु इन विशेषताओं के सग भारवि के कुछ दुर्गुणो की छाया भी उनके इस महाकाव्य मे स्पष्ट देखी जा सकती है। वे किंचित् अभिमानी प्रकृति के पडितम्मानी व्यक्ति थे। अपने प्रगाढ पाडित्य को प्रकट करके लोगों को स्तम्भित करने की जैसे उनमे उद्दाम लालसा थी। अन्यथा एक प्रकृत कवि होकर भी वे युद्ध वर्णन के प्रसग मे अत्यन्त दुर्बोध विकट काव्य-बन्धों की रचना करने की ओर उन्मुख न हुए होते। ऐसा लगता है कि ससुराल मे अधिक दिनो तक रहने के कारण वे अपनी स्त्री के सम्मुख कुछ दबते थे। उसकी खरी-खोटी सुनने की उन्हे आदत-सी पड गई थी। द्रौपदी की उद्वेजक बातो को सुनकर भी धर्मराज युधिष्ठिर का चुपचाप रह जाना और उसे प्रकारान्तर से चुप करने का प्रयत्न करना इसी बात का सूचक है।

भारवि ने दीर्घायु के साथ सुन्दर, स्वस्थ शरीर भी पाया था, इसका सकेत हमे उनकी रचनाओ मे सर्वत्र मिलता है। नव-यौवन की उद्दाम लालसाओ के समान ही जराजीर्ण वृद्धो की लोलुप मनोवृत्तियो का भी इन्होंने स्वाभाविक वर्णन किया है। दुराराध्य रोगो और व्याधियो से उनके सभी पात्र दूर हैं और सब के ऊर्जस्वित शरीर मे बल-विक्रम के साथ स्वस्थ और सुप्रसन्न मन, भावना-प्रवण तथा सवेदनशील हृदय एव जागरूक मस्तिष्क विद्यमान है। मदिरा पान की उत्तुग विह्वलता मे भी उनके पात्रो की सज्ञा बनी रहती है। पात्रो की ये सभी विशेषताएँ निश्चय ही अपने रचनाकार के सुन्दर स्वास्थ्य एव मनो-

मोहक व्यक्तित्व की ही सूचना देने वाली हैं। सुलभ साधनो एव स्पष्ट प्रमाणो के अभाव मे केवल रचना मे ही रचनाकार का जितना व्यक्तित्व प्रतिम्बित हो सकता है, उनका साराश हमने ऊपर सकलित किया है। आशा है, इनके द्वारा हमारे पाठको को भारवि के कवि एव मानव-हृदय को समझने मे थोडी सहायता मिलेगी।

अपने अनुवाद के सम्बन्ध मे—हमारे इस अनुवाद के पूर्व भारवि के किरातार्जुनीय के अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे सर्वश्रेष्ठ अनुवाद है स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का। किन्तु द्विवेदी जी का यह अनुवाद मूलानुगामी अनुवाद नही है। उसे हम किरातार्जुनीय का भावानुवाद कह सकते हैं। यही नही, कही-कही तो उसका भाष्य एव फलितार्थ भी निकाला गया है, जिसे हम अनुवाद की कोटि मे रख ही नही सकते। वस्तुत द्विवेदी जी ने हिन्दी-प्रेमियो के बीच भारवि की इस उत्तम रचना का प्रसार करने के लिए ही अपना अनुवाद किया था। भारवि के काव्य गुणो को प्रकट करने के लिए उन्होने केवल भारवि के शब्दो को आधार नही माना है। भारवि के भावो को उन्होने अपने शब्दो मे पल्लवित किया है। निश्चय ही इस अनुवाद के द्वारा मूल सस्कृत के प्रेमी हिन्दी पाठको का परितोष सम्भव नही था।

द्विवेदी जी के अनुवाद के अतिरिक्त हिन्दी मे किरातार्जुनीय के जो अन्य अनुवाद उपलब्ध हैं उनकी गभीर आलोचना स्वय द्विवेदी जी ने ही की है। उनके कथन का साराश इतना ही है कि इन अनुवादो से हिन्दी-प्रेमियो का कोई लाभ नही हो सकता।

मैंने अपने अनुवाद मे न केवल भारवि के शब्दो की ही भरसक रक्षा की हैं, वरन् उनके भावो को भी सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। श्लोकों के साथ सस्कृत मे ही अर्थानुगामी अन्वय भी दे दिया है तथा उसके बाद भारवि के शब्दो द्वारा प्रकट होने वाला अर्थ दे दिया है। तदनन्तर सरलार्थ अथवा भावार्थ देकर भारवि के भावो की सुविस्तृत एव सुस्पष्ट व्याख्या कर दी है। सब के

वाद काव्य की विशेषताओं को प्रकट करने वाली टिप्पणी भी दे दी है। हमारा उद्देश्य है कि भारवि के इस सम्पूर्ण महाकाव्य का रसास्वादन करने वाले सामान्य संस्कृत-प्रेमी अथवा विद्यार्थी-वृन्द हमारे इस अनुवाद से यथेष्ट लाभ उठा सकें।

प्रकाश निकेतन, कृष्णनगर
इलाहाबाद
**श्रावणी, २०१४**

रामप्रताप त्रिपाठी

## नूतन संस्करण

यह नूतन सस्करण प्रथम मस्करण का मात्र पुनर्मुद्रण है। दूसरा प्रथम सस्ररण किताब महल इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। वर्षों तक जब दूसरा पुनर्मुद्रण नहीं हुआ तो हिन्दी जगत के यशस्वी प्रकाशक लोकभारती ने इसे प्रकाशित करने का विचार प्रकट किया जिसके फलस्वरूप यह सस्करण आपके हाथों में है। एतदर्थ अनुवादक लोकभारती का अनुगृहीत हैं।

कार्तिकी १५, २०२८

रामप्रताप त्रिपाठी

श्री गणेशाय नम॰

# किरातार्जुनीय महाकाव्य

## प्रथम सर्ग

श्रिय कुरूणामधिपस्य पालनी प्रजासु वृत्ति यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदित समाययौ युधिष्ठिर द्वैतवने वनेचर ॥१॥

अन्वय —कुरुणाम् अधिपस्य श्रिय पालनी प्रजासु वृत्तिम् वेदितुम् यम् अयुङ्क्त स वर्णिलिङ्गी विदित वनेचर द्वैतवने युधिष्ठिर समाययौ ॥१॥

अर्थ—कुरुपति दुर्योधन के राज्यलक्ष्मी की रक्षा करने मे समर्थ, प्रजावर्ग के साथ किये जाने वाले उसके व्यवहार को भली भाँति जानने के लिए जिस किरात को नियुक्त किया गया था, वह ब्रह्मचारी का ( छद्म ) वेश धारण कर, वहाँ की सम्पूर्ण परिस्थिति को समझ-बूझकर द्वैत वन मे ( निवास करने वाले ) राजा युधिष्ठिर के पास लौट आया ॥१॥

टिप्पणी—इस महाकाव्य की कथा का सदर्भ महाभारत से लिया गया है। जैसा कि सुप्रसिद्ध है, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, भीम एव अर्जुन आदि से धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि की तनिक भी नही पटती थी। एक बार फुसलाकर दुर्योधन ने युधिष्ठिर के साथ जुआ खेला और अपने मामा शकुनि की धूर्तता से युधिष्ठिर को हरा दिया। युधिष्ठिर न केवल राजपाट के अपने हिस्से को ही गँवा बैठे, प्रत्युत यह दाँव भी हार गये कि वे अपने सब भाइयो के साथ बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करेंगे। फल यह हुआ कि अपने चारो भाइयो तथा पत्नी द्रौपदी के साथ वह बारह वर्षों तक जगह-जगह ठोकर खाते हुए घूमते फिरते रहे। एक बार वह सरस्वती नदी के किनारे द्वैतवन मे निवास कर रहे थे कि उनके मन मे आया की किसी युक्ति से दुर्योधन का राज्य के प्रजावर्ग के साथ किस प्रकार का व्यवहार है, यह जाना जाय। इसी जानकारी को प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक चतुर वनवासी किरात को नियुक्त किया, जिसने ब्रह्म-

चारी का वेश धारण कर हस्तिनापुर मे रहकर दुर्योधन की प्रजानीति के सम्बन्ध म गहरी जानकारी प्राप्त की। प्रस्तुत कथा सदर्भ मे उसी जानकारी को वह द्वैतवन में निवास करने वाले युधिष्ठिर को वताने के लिए वापस लौटा है।

इस पूरे सर्ग मे कवि ने वशस्थ वृत्त का प्रयोग किया है, जिसका लक्षण है—"जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ।" अर्थात् जगण, तगण जगण और रगण के सयोग से वशस्थ छन्द वनता है। इस श्लोक की प्रथम पक्ति मे "वने वनेचर" शब्दो मे 'वने' की दो वार आवृत्ति होने से 'वृत्यनुप्रास' अलकार है, महाकवि ने मागलिक 'श्री' शब्द से अपने ग्रथ का आरम्भ करके वस्तुनिर्देशात्मक मगलाचरण किया है।

कृतप्रणामस्य मही महीभुजे जिता सपत्नेन निवेदयिष्यत ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रिय प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिण ॥२॥

अन्वय—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जिता मही महीभुजे निवेदयिष्यत तस्य मन न विव्यथे। हि हितैषिण मृषा प्रिय प्रवक्तु न इच्छन्ति ॥२॥

अर्थ—उस समय के लिए उचित प्रणाम करने के अनन्तर शत्रुओ (कौरवो) द्वारा अपहृत पृथ्वीमण्डल (राज्य) की यथातथ्य बातें राजा युधिष्ठिर से निवदन करते हुए उस वनवासी किरात के मन को तनिक भी व्यथा नही हुई। (ऐसा क्यो न होता) क्योकि किसी के कल्याण की अभिलाषा करने वाले लोग (सत्य बात को छिपा कर केवल उसे प्रसन्न करने के लिये) झूठ-मूठ की प्यारी बातें (बना कर) कहने की इच्छा नही करते ॥२॥

टिप्पणी—क्योकि यदि हितैषी भी ऐसा करने लगें तो निश्चय ही कार्यहानि हो जाने पर स्वामी को द्रोह करने की सूचना तो मिल ही जायगी। इस श्लोक मे भी 'मही मही' शब्द को पुनरावृत्ति से वृत्यनुप्रास अलकार है और वह अर्थान्तरन्यास से ससृष्ट है।

द्विषा विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृत ।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

अन्वय—रहसि स द्विषा विघाताय विधातुम् इच्छत भूभृत अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम् विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे ॥३॥

अर्थ—एकान्त मे उस वनवासी किरात ने शत्रुओ का विनाश करने के लिए प्रयत्नशील राजा युधिष्ठिर की आज्ञा प्राप्तकर सरस सुन्दर शब्दो मे असदिग्ध अर्थ एव निश्चित प्रमाणो से युक्त वाणी मे इस प्रकार से निवेदन किया ।।३।।

**टिप्पणी**—इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि उक्त वनवासी किरात केवल निपुण दूत ही नही था, एक अच्छा वक्ता भी था । उसने जो कहा, सुन्दर मनोहर शब्दो मे सुस्पष्ट तथा निश्चयपूर्वक कहा । उसकी वाणी मे अनिश्चयात्मकता *अथवा सन्देह की कही गुन्जाइश नही थी । उसके शब्द सुन्दर थे और अर्थ* स्पष्ट तथा निश्चित ।

इसमे सौष्ठव और औदार्य—इन दो विशेषणो के साभिप्राय होने के कारण 'परिकर' अलकार है, जो 'पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग' से अनुप्राणित है । यद्यपि 'आङ्' उपसर्ग के साथ 'दा' धातु का प्रयोग लेन के अर्थ मे ही होता है किन्तु यहाँ पर सन्दर्भानुरोध से कहने के अर्थ म ही समझना चाहिय ।

[ किरात को भय है कि कही मेरी अप्रिय कटु बातो से राजा युधिष्ठिर अप्रसन्न न हो जायें अत वह सर्वप्रथम क्षमा-याचना के रूप मे निवेदन करता है । ]

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीया प्रभवोऽनुजीविभि ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हित मनोहारि च दुर्लभ वच ।।४।।

अन्वय—(हे) नृप ! क्रियासु युक्तै अनुजीविभि चारचक्षुष प्रभव न वञ्चनीया । अत असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि । हित मनोहारि च वच दुर्लभम् ।।४।।

**अर्थ**—कोई कार्य पूरा करने के लिए नियुक्त किए गए (राज) सेवको का यह परम कर्त्तव्य है कि वे दूतो की आँखो से ही देखने वाले अपने स्वामी को ( झूठी तथा प्रिय बातें बता कर ) न ठगें । इसलिए मैं जो कुछ अप्रिय अथवा प्रिय बातें निवेदन करूँ उन्हें आप क्षमा करेंगे, क्योकि सुनने में मधुर तथा परिणाम म कल्याण देने वाली वाणी दुर्लभ होती है ।।४।।

**टिप्पणी**—दूत के कथन का तात्पर्य यह है कि मैं अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए ही आप से कुछ अप्रिय बातें करूँगा, वह चाहे आपको अच्छी लगें या बुरी। अत कृपा कर उनके कहने के लिए मुझे क्षमा करेंगे क्योंकि मैं अपने कर्त्तव्य से विवश हूँ।

इस श्लोक मे पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' अलकार है, जो चतुर्थ चरण मे आये हुये अर्थान्तरन्यास अलकार से ससृष्ट है। यहाँ अर्थान्तरन्यास को सामान्य से विशेष के समर्थन रूप मे जानना चाहिए।

स किसखा साधु न शास्ति योऽधिप हितान्न य सश्रृणुते स किप्रभु ।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रति नृपेष्वमात्येषु च सर्वसपद ॥५॥

**अन्वय**—य अधिप साधु न शास्ति स किसखा य हितात् न सश्रृणुते स. किप्रभु । हि सदा अनुकूलेषु नृपेषु अमात्येषु च सर्वसम्पद रति कुर्वते ॥५॥

**अर्थ**—जो मित्र अथवा मत्री राजा को उचित बातो की सलाह नही देता वह अधम मित्र अथवा अधम मत्री है तथा (इसी प्रकार) जो राजा अपने हितैषी मित्र अथवा मत्री की हित की बात नही सुनता वह राजा होने योग्य नहीं है। क्योंकि राजा और मत्री के परस्पर सर्वदा अनुकूल रहने पर ही उनमे सब प्रकार की समृद्धियाँ अनुरक्त होती हैं ॥५॥

**टिप्पणी**—दूत के कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय मैं जो कुछ निर्भय होकर कह रहा हूँ वह आपकी हित-चिंता ही से कह रहा हूँ। मेरी बातें ध्यान से सुनें।

इस श्लोक मे कार्य से कारण का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवा क्व भूपतीना चरित क्व जन्तव ।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्व नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

**अन्वय**—निसर्गदुर्बोधम् भूपतीनाम् चरितम् क्व। अबोधविक्लवा जन्तव क्व। मया विद्विषाम् निगूढतत्त्वम् नयवर्त्म यद् अवेदि अयम् तव अनुभाव ॥६॥

अर्थ—स्वभाव से ही दुर्बोध ( राजनीतिक रहस्यो से भरा ) राजाओ का चरित कहाँ और अज्ञान से बोझिल मुझ जैसा जीव कहाँ ? ( दोना मे आकाश पाताल का अन्तर है ) । ( अत ) शत्रुआ के अत्यन्त गूढ रहस्यो से भरी जो कूटनीति की बाते मुझे ( कुछ ) ज्ञात हो सकी है, यह तो ( केवल ) आपका अनुग्रह है ॥६॥

टिप्पणी—दूत की वक्तृत्व कला का यह सुन्दर नमूना है । अपनी नम्रता को वह कितनी सुन्दरता से प्रकट करता है । इस श्लोक म विषम अलकार है।

विशङ्कमाना भवत पराभव नृपासनस्योऽपि वनाधिवासिन ।
दुरोदरच्छद्मजिता समीहते नयेन जेतु जगती सुयोधन ॥७॥

अन्वय —नृपासनस्य अपि सुयोधन वनाधिवासिन भवत पराभव विशङ्कमान दुरोदरच्छद्मजिता जगतीम् नयेन जेतुम् समीहत ॥७॥

अर्थ—राज सिंहासन पर बैठा हुआ भी दुर्योधन ( राज्याधिकार स च्युत ) वन म निवास करनवाले आप से अपन पराजय की आशङ्का रखता है । अतएव जुए द्वारा कपट से जीती हुई पृथ्वी को ( अब) वह न्यायपूण शासन द्वारा अपन वश म करन की इच्छा करता है ॥७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन सर्व-साधन सम्पन्न है और आपक पास कोई साधन नही है, फिर भी आप से वह सदा डरता रहता है कि कही आपके न्याय-शासन स प्रसन्न जनता आपका साथ न दे द और आप उस राजगद्दी स न उतार दें । इसलिये वह यद्यपि जूआ मे समूचे राजपाट को आपस जीत चुका है, फिर भी प्रजा का हृदय जीतन के लिए न्यायपरायणता म तत्पर है । वह आपकी ओर से तनिक भी असावधान नहीं है, क्याकि आप सब का वह वनवासी होने पर भी प्रजावल्लभ होन के कारण अपन से अधिक बलवान समझता है । अत जनता का अपने प्रति आकृष्ट कर रहा है ।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार ।

[ किस प्रकार की न्यायबुद्धि से वह पृथ्वी को जीतना चाहता है—इस सुनिए—]

तथाऽपि जिह्म स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

अन्वय.—तथाऽपि जिह्म. सः भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्र यशः तनोति भूतिम् समुन्नयन् अनार्यसङ्गमात् महात्मभि. सम विरोध. अपि वरम् ॥८॥

अर्थ—आप से सशकित होकर भी वह कुटिल प्रकृति दुर्योधन आप को पराजित करने की अभिलाषा से दान-दाक्षिण्यादि सद्गुणो से अपने निर्मल यश का ( उत्तरोत्तर ) विस्तार कर रहा है क्योकि नीच लोगो के सम्पर्क से वैभव प्राप्त करने की अपेक्षा सज्जनो से विरोध प्राप्त करना भी अच्छा ही होता है ॥८॥

टिप्पणी—सज्जनो का विरोध दुष्टो की सङ्गति से इसलिए अच्छा होता है कि सज्जनो के साथ विरोध करने से और कुछ नही तो उनकी देखा-देखी स्पर्द्धा मे उनके गुणो की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने की प्रेरणा तो होती ही है । जब कि दुष्टो की सङ्गति तात्कालिक लाभ के साथ ही दुर्गति का कारण बनती है । क्योकि दुष्टो की सङ्गति से बुरे गुणो का अभ्यास बढेगा, जो स्वय दुर्गति के द्वार हैं ।

इस श्लोक मे सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जो पदार्थहेतुक काव्यलिंग से अनुप्राणित है ।

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥९॥

अन्वय.—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपा मानवीम् पदवीम् प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तदिव विभज्य नयेन पौरुषम् वितन्यते ॥९॥

अर्थ—( वह दुर्योधन ) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एव अहकार रूप प्राणियो के छहो शत्रुओ को जीतकर, अत्यन्त दुर्गम मनु आदि नीतिज्ञो की बनाई हुई शासन-पद्धति पर कार्य करने की लालसा से आलस्य को दूर भगा कर, रात-दिन के समय को प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग करके, नैतिक शक्ति द्वारा अपने पुरुषार्थ को सबल बना रहा है ॥९॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन अब वही जुआड़ी और आलसी दुर्योधन नहीं रह *गया है । उसने छहों दुर्गुणों को दूर करके स्वायम्भुव मनु के दुर्गम आदर्शों* के अनुरूप अपने को राजा बना लिया है । उसमें आलस्य तो तनिक भी नहीं रह गया है । दिन और रात—सब में उसके पृथक्-पृथक् कार्य नियत हैं । उसके पराक्रम को नैतिक शक्ति का बल मिल गया है, और इस प्रकार वह दुर्जेय बन गया है । परिकर अलंकार ।

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

*अन्वय*—गतस्मयः सः सन्ततम् साधु अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीन् इव सुहृदः बन्धुभिः समानमानान् बन्धुताम् कृताधिपत्याम् इव दर्शयते ॥१०॥

अर्थ—वह दुर्योधन अब निरहंकार होकर सर्वदा निष्कपट भाव से सेवा करने वाले सेवकों को प्रीतिपात्र मित्रों की तरह मानता है। मित्रों को निजी कुटुम्बियों की तरह सम्मानित करता है तथा अपने कुटुम्बियों को राज्याधिकारी की भाँति आदर देता है । ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उसमें अब वह पूर्व अभिमान नहीं है । वह *अत्यन्त उदार हृदय बन गया है । उसने पूरे राज्य में बन्धुता का विस्तार कर* दिया है, उसका यह व्यवहार सदा-सर्वदा रहता है, दिखावट की गुन्जाइश नहीं है । और उसके इस व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट होते हैं । वह ऐसा करके यह दिखाना चाहता है कि मुझमें अहङ्कार का लेश नहीं है । इसमें तीन श्रौती पूर्णोपमा हैं ।

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

*अन्वय*—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्परं न बाधते ॥११॥

अर्थ—यथोचित विभाग कर, किसी के साथ कोई विशेष पक्षपात न करके वह दुर्योधन अनासक्त भाव से धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, जिससे

ये तीनो भी उसके ( स्पृहणीय ) गुणो से अनुरक्त होकर उसके मित्र-से बन गये हैं और परस्पर उनका विरोध भाव नही रह गया है ॥११॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन धर्म, अर्थ, काम का ठीक-ठीक विभाग कर प्रत्येक का इस प्रकार आचरण करता है कि किसी मे आसक्त नही मालूम पडता। सब का समय नियत है, किसी से कोई पक्षपात नही है। उसके गुणो पर ये तीनो भी रीझ उठे है। यद्यपि ये परस्पर विरोधी हैं, तथापि उसके लिए इनमे मित्रता हो गई है और प्रतिदिन इनकी वृद्धि हो रही है। वाच्योत्प्रेक्षा।

निरत्यय साम न दानवर्जित न भूरि दान विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्त्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१४॥

अन्वय—तस्य निरत्यय साम दानवर्जितम् न, भूरि दान सत्क्रिया विरहय्य न। विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते ॥१२॥

अर्थ—उस दुर्योधन की निष्कपट साम नीति दान के विना नही प्रवर्तित होती तथा प्रचुर दान सत्कार के बिना नही होता और उसका अतिशय सत्कार भी विना विशेष गुण के नही होता। ( अर्थात् वह अतिशय सत्कार भी विशेष गुणी तथा योग्य व्यक्तियो का ही करता है। ) ॥१२॥

टिप्पणी—राजनीति मे चार नीति कही गई हैं। साम, दाम, दण्ड और भेद। दुर्योधन इन चारो उपायो को वडी निपुणता से प्रयोग करता है। अपने से वडे शत्रु को वह प्रचुर धन देकर मिला लेता है। उसका देना भी सम्मानपूर्वक होता है अर्थात् धन और सम्मान दोनो के साथ साम-नीति का प्रयोग करता है किन्तु इससे यह भी नही समझना चाहिए कि वह ऐरे-गैरे सभी लोगो को इस प्रकार धन सम्मान देता है। नही, केवल गुणियो को ही, सब को नही। पूर्ववर्ती विशेषणो से परवर्ती वाक्यो की स्थापना के कारण एकावली अलङ्कार इस श्लोक मे है।

[ अब दुर्योधन की दण्ड नीति का प्रकार कवि बतला रहा है। ]

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

*अन्वयः*—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न मन्युना न निवृत्तकारणः स्वधर्मः इति एव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ वा सुते अपि धर्मविप्लवं निहन्ति ॥ १३ ॥

*अर्थ*—इन्द्रियों को वश में रखनेवाला वह दुर्योधन न तो धन के लोभ से और न क्रोध से ( ही किसी को दण्ड देता है ) अपितु लोभादि कारणों से रहित होकर, इसे अपना ( राजा का ) धर्म समझ कर ही वह अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट ( शास्त्र सम्मत ) दण्ड का प्रयोग करके शत्रु हो या अपना निज का पुत्र हो अधर्म का उपशमन करता है ॥ १३ ॥

*टिप्पणी*—तात्पर्य यह है कि वह दण्ड देने में भी पक्षपात नहीं करता । न तो किसी को धन-सम्पत्ति या राज्य पाने के लोभ से दण्ड देता है और न किसी को क्रोधित होने पर । बल्कि दण्ड देने में वह अपना एक धर्म समझता है । शास्त्रों के अनुसार जिसको जिस किसी अपराध का दण्ड उचित है वही वह देगा । दण्डनीय चाहे शत्रु हो या अपना ही पुत्र क्यों न हो । दुष्ट ही उसके शत्रु हैं और शिष्ट ही उसके मित्र हैं ।

पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार ।
[ अब आगे दुर्योधन की भेदनीति का वर्णन है । ]

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

*अन्वयः*—शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति । क्रियाऽपवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञताम् वदन्ति ॥ १४ ॥

*अर्थ*—सर्वदा सशङ्क चित्त रहने वाला वह दुर्योधन सर्वत्र चारो ओर अपने आत्मीय जनों को रक्षक नियुक्त करके अपने को सब का विश्वास करने वाला प्रदर्शित करता है । कार्यों की सफल समाप्ति पर राज-सेवकों को पुरस्कार रूप में प्रदान की गयी धन-सम्पत्ति उसकी कृतज्ञता की सूचना देती है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन ने राज्य के सभी उच्च पदों पर अपने आत्मीय जनों को नियुक्त कर रखा है तथापि वह सर्वदा सशंक रहता है और प्रकट में ऐसा व्यवहार करता है मानो सब का विश्वास करता है। किसी भी कर्मचारी को वह यह ध्यान नहीं आने देता कि वह राजा का विश्वासपात्र नहीं है। यही नहीं, जब कभी उसका कोई कार्य सफल समाप्त होता है तब वह उसमें लगे हुए कर्मचारियों को प्रचुर धन सम्पत्ति पुरस्कार रूप में देता है। वही धन-सम्पत्तियाँ ही उसकी कृतज्ञता का सुन्दर विज्ञापन करती हैं। इस प्रकार के कृतज्ञ एवं उपकारी राजा में सेवकों की सच्ची भक्ति का होना स्वाभाविक ही है। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अन्वय—तेन सम्यक् विभज्य पदेषु लम्भिता विनियोगसत्क्रियाः उपायाः सङ्घर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पदः अनारतम् फलन्ति ॥ १५ ॥

अर्थ—उस दुर्योधन द्वारा भली भाँति समझ बूझकर यथायोग्य पात्र में प्रयोग किये जाने से सत्कृत साम, दान, दण्ड और भेद—ये चारों उपाय, एक दूसरे से परस्पर स्पर्द्धा करते हुये-से उत्तरोत्तर बढ़ने वाली धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य राशि को सर्वदा उत्पन्न किया करते हैं ॥१५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन साम दानादि नीतियों का यथायोग्य पात्र में खूब समझ-बूझकर प्रयोग करता है और इससे उत्तरोत्तर उसकी अचल धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती चली जा रही है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अन्वय—अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां मदः अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरम् भृशम् आर्द्रताम् नयति ॥१६॥

अर्थ—छितवन ( सप्तपर्ण ) के पुष्प की सुगन्ध के समान गन्ध वाले राजाओं द्वारा भेंट में दिए गए हाथियों के मद जल, अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरे हुए उसके ( दुर्योधन के ) सभा-भवन के प्रांगण को अत्यन्त गीला बनाये रखते हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन की सभा में देश-देशान्तर के राजा सर्वदा जुटे रहते हैं और उनके रथों, घोड़ों और हाथियों की भीड़ से उसके सभाभवन का प्रांगण गीला बना रहता है। अर्थात् उसका प्रभाव अब बहुत बढ़ गया है। उदात्त अलङ्कार।

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥१७॥

अन्वयः—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्या इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः चकासति ॥ १७ ॥

अर्थ—चिरकाल से प्रजा के कल्याण के लिए यत्नशील उस राजा दुर्योधन के कारण नदियों एवं नहरों आदि की सिंचाई की सुविधा से समन्वित कुरुप्रदेश की भूमि मानों वहाँ के किसानों के बिना अधिक परिश्रम उठाए हुए ही बड़ी सुविधा के साथ स्वयम् प्राप्त होने वाले अन्नों की समृद्धि से सुशोभित हो रही है ॥ १७ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन केवल राजनीति पर ही ध्यान नहीं दे रहा है, वह प्रजा की समृद्धि को भी बढ़ा रहा है। उसने समूचे कुरु प्रदेश को अब वर्षा के जल पर ही नहीं निर्भर रहने दिया है, नहरों एवं कुओं से सिंचाई की सुविधा कर दी है। समूचा कुरु प्रदेश धन धान्य से भरा-पूरा हो गया है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ १७ ॥

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

अन्वयः—उदारकीर्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयम् दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वयं प्रदुग्धे ॥ १८ ॥

**अर्थ**— महान् यशस्वी, परदु खकातर, समस्त उपद्रवो एव बाधाओ को शान्त कर प्रजावर्ग की सुरक्षा की सुव्यवस्था का सम्पादन करनेवाले, कुबेर के समान उस दुर्योधन के गुणो से रीझी हुई धरती ( नवप्रसूता दुधार गौ की भाँति ) धन धान्य ( रूपी दूध स्वय दे रही है । ) को स्वय उत्पन्न करती है ॥ १८ ॥

**टिप्पणी**—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के दया-दाक्षिण्य आदि गुणो ने पृथ्वी को द्रवीभूत-सा कर दिया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि समूचे कुरु प्रदेश की धरती मानो द्रवित होकर स्वयमेव दुर्योधन को धन-धान्य रूपी दूध दे रही है । समासोक्ति अलङ्कार । अतिशयोक्ति का भी पुट है ।

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृत सयति लब्धकीर्तय ।
नसहतास्तस्य नभिन्नवृत्तय प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभि समीहितुम ॥१९॥

**अन्वय**—महौजस मानधना धनार्चिता सयति लब्धकीर्तय नसहता नभिन्नवृत्तय धनुर्भृत तस्य असुभि प्रियाणि समीहितुम् वाञ्छन्ति ॥१९॥

**अर्थ**—महाबलशाली, अपने कुल एव शील का स्वाभिमान रखनेवाले, धन-सम्पत्ति द्वारा सत्कृत, युद्धभूमि मे कीर्ति प्राप्त करने वाले, परोपकार परायण तथा एक कार्य मे सब के सब लगे रहने वाले धनुर्धारी शूर वीर उस दुर्योधन का अपने प्राणा से ( भी ) प्रिय कार्य करने की अभिलाषा रखते हैं ॥१९॥

**टिप्पणी**—धनुर्धारियो के सभी विशेषणो के साभिप्राय होने से परिकर तथा पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार की समृष्टि इस श्लोक मे है ।

महीभृता सच्चरितैश्चरै क्रिया स वेद निश्शेषमशेषितक्रिय ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभि प्रतीयते धातुरिवेहित फलै ॥२०॥

**अन्वय**—अशेषितक्रिय स सच्चरितै चरै महीभृताम् क्रिया नि शेषम् वेद । तस्य धातु इव ईहित महोदयै हितानुबधिभि फलै प्रतीयते ॥२०॥

**अर्थ**—आरम्भ किए हुए कार्यों को समाप्त करके ही छोडने वाला वह दुर्योधन अपने प्रशसनीय चरित्र वाले राजदूतो के द्वारा अन्य राजाओ की सारी

कार्यवाहियाँ जान लेता है। ( किन्तु ) ब्रह्मा के समान उसकी इच्छाओं की जानकारी, उनकी महान् समाप्ति के फलो द्वारा ही होती है ॥२०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के गुप्तचर समग्र भूमण्डल मे फैले हुए हैं। वह समस्त राजाओ की गुप्त बातें तो मालूम कर लेता है किन्तु उसकी इच्छा तो तभी ज्ञात होती है जब कार्य पूरा हो जाता है।

काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अन्वय—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्, वा आननम् कोपविजिह्मम् न कृतम्, गुणानुरागेण अस्य शासनम् नराधिपैः माल्यमिव शिरोभिः उह्यते ॥२१॥

अर्थ—उस ( दुर्योधन ) ने कही भी अपने सुसज्जित धनुष को नहीं चढ़ाया, तथा ( उसने ) अपने मुँह को भी ( कही ) क्रोध से टेढा नही किया। ( केवल उसके ) दया-दाक्षिण्य आदि उत्तम गुणों के प्रति अनुरक्त होने के कारण उसके शासन को सभी राजा लोग माला की भाँति अपने शिर पर धारण किए रहते हैं ॥२१॥

टिप्पणी—दुर्योधन की नीतिमत्ता का यह फल है कि वह न तो कही धनुष का प्रयोग करता है और न कही मुँह से ही क्रोध प्रकट करने की उसे आवश्यकता होती है, किन्तु फिर भी सभी राजा उसके शासन को शिरसा स्वीकार करते हैं। *यह केवल उसके दया-दाक्षिण्य आदि गुणों का प्रभाव है।*

पूर्वार्द्ध मे साभिप्राय विशेषणो से परिकर अलङ्कार है तथा उत्तरार्द्ध मे पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है।

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

अन्वयः—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतम् दुःशासनम् यौवराज्ये निधाय मखेषु पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः हव्येन हिरण्यरेतसम् धिनोति ॥२२॥

अर्थ—अप्रतिहत आज्ञा वाला ( जिसकी आज्ञा या आदेश का पालन सब करते हैं ) वह दुर्योधन नवयौवन-सुलभ उद्दण्डता से पीडित दु.शासन को युवराज पद पर आसीन करके, स्वय पुरोहित की अनुमति से बडी तत्परता के साथ आलस्य छोडकर यज्ञो मे हवनीय सामग्रियो द्वारा अग्निदेवता को प्रसन्न करता है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् अब वह शासन के छोटे-मोटे कामो के सम्बन्ध मे भी निश्चिन्त है और धर्म-कार्यों मे अनुरक्त है। धर्म कार्य मे अनुरक्त ऐसे राजा का अनिष्ट भला हो ही कैसे सकता है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुव ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

अन्वय —स प्रलीनभूपाल स्थिरायति भुव मण्डल आवारिधि प्रशासत् अपि त्वत् एष्यती. भियः चिन्तयति एव। अहो बलवद् विरोधिता दुरन्ता ॥२३॥

अर्थ—वह दुर्योधन ( शत्रु ) राजाओ के विनष्ट हो जाने के कारण सुस्थिर भूमण्डल पर समुद्र पर्यन्त राज्य शासन करते हुए भी आप की ओर से आनेवाली विपदा के भय से चिन्तित ही रहता है। क्यों न ऐसा हो, बलवान् के साथ का वैर-विरोध अमङ्गलकारी ही है ॥२३॥

टिप्पणी—समुद्रपर्यन्त भूमण्डल का शत्रुहीन राजा भी अपने विरोधी से भयभीत है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कथाप्रसगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दु.सहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

अन्वय.—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् तव अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम. स. सुदु.सहात् मन्त्रपदात् उरग. इव नताननः व्यथते ॥२४॥

अर्थ—बातचीत के प्रसङ्ग मे लोगो द्वारा लिए जानेवाले आप के नाम से इन्द्रपुत्र अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम को स्मरण करता हुआ वह दुर्योधन ( विष की औषधि करने वाले मन्त्रवेत्ता द्वारा उच्चारित गरुड और वासुकि के नामो

से युक्त ) मन्त्रों के प्रचण्ड पराक्रम को न सह सकने वाले सर्प की भाँति नीचा मुख करके व्यथा का अनुभव करता है ॥२४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि आप का नाम सुनते ही उसे गहरी पीडा होती है। अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम का स्मरण करके वह मन्त्रोच्चारण से सन्त्रस्त सर्प की भाँति शिर नीचे कर लेता है। उपमा अलङ्कार।

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्रविधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥२५॥

अन्वय—तत् त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वताम्। मादृशाम् गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु ॥२५॥

अर्थ—अतएव आप के साथ कपट एवं कुटिलता का आचरण करने में उद्यत उस दुर्योधन के साथ उचित उत्तर देने वाली कार्यवाही आप शीघ्र करें। दूसरों की कही गई बातों को भुगताने वाले सन्देशहारी मुझ जैसे लोगों की बातें तो केवल परिस्थिति की सूचना मात्र देती है ॥२५॥

टिप्पणी—दूत का तात्पर्य यह है कि अब आप उस दुर्योधन के साथ क्या करना चाहिये, इसका शीघ्र निर्णय कर लें। इस सम्बन्ध में मेरे जैसे लोग तो यही कर सकते हैं कि जो कुछ वहाँ देखकर आये हैं, उसकी सूचना आप को दे दें। क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में सम्मति देने के अधिकारी हम जैसे लोग नहीं है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसंनिवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसंनिधौ वचः ॥२६॥

अन्वय—आत्तसत्क्रिये वनसंनिवासिनाम् पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा गते अथ महीभुजा कृष्णा सदनं प्रविश्य अनुजसंनिधौ तद् वचः आचचक्षे ॥२६॥

अर्थ—उपर्युक्त बातें कह कर, पारितोषिक द्वारा सत्कृत उस वनवासी चर के (वहाँ से) चले जाने के अनन्तर राजा युधिष्ठिर द्रौपदी के भवन में प्रविष्ट हो गये

और वहाँ उन्होंने अपने छोटे भाइया की उपस्थिति मे वे सारी बातें द्रौपदी को कह सुनाई ।।२६।।

टिप्पणी—वह वनवासी चर दुर्योधन की गोपनीय वातो की सूचना देकर उचित पुरस्कार द्वारा सम्मानित होकर जब चला गया, तब राजा युधिष्ठिर ने वे सारी बातें अपने छोटे भाइयो से तथा द्रौपदी से भी जाकर बता दी ।

पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार ।

निशम्य सिद्धि द्विपतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिर ।।२७।।

अन्वय —द्रुपदात्मजा द्विपता सिद्धि निशम्य तत ततस्त्या अपाकृती. विनियन्तुम् अक्षमा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनी गिर उदाजहार ।।२७।।

अर्थ—द्रुपदसुता शत्रुओ की सफलता सुनकर, उनके द्वारा होने वाले अपकारो को दूर करने में अपने को असमर्थ समझ कर राजा युधिष्ठिर के क्रोध को प्रज्ज्वलित करने वाली वाणी मे (इस प्रकार) बोली ।।२७।।

टिप्पणी—स्त्रियो को पति के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली कला खूब आती है । दुर्योधन के अभ्युदय की चर्चा सुन कर द्रौपदी को वह सब विपदायें स्मरण हो आईं, जो अतीत मे भोगनी पडी थी । उसने अनुभव किया कि ये हमारे निकम्मे पति अभी तक उसका प्रतिकार भी नही कर सके । अत उसने युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने वाली वातें कहना आरम्भ किया ।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार ।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदित भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तु व्यवसाययन्ति मा निरस्तनारीसमया दुराधय ।।२८।।

अन्वय —भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेप इव भवति । तथाऽपि निरस्तनारीसमया दुराधय मा वक्तुम् व्यवसाययन्ति ।।२८।।

अर्थ—( यद्यपि ) आप जैसे राजाओ के लिए स्त्रियो द्वारा कही गई अनुशासन सम्बन्धी वातें ( आप के ) तिरस्कार के समान हैं तथापि नारी

जाति मुलभ शालीनता को छुड़ानेवाली ( छोड़ने के लिए विवश करने वाली ) ये मेरी दुष्ट मनोव्यथाएँ मुझे बोलने के लिए विवश कर रही हैं ॥२८॥

टिप्पणी—द्रौपदी कितनी बुद्धिमती थी। उसकी भाषण-पटुता देखिए। कितनी विनम्रता से वह अपना अभिप्राय प्रकट करती है। उसके कथन का तात्पर्य यह है कि दुःखी व्यक्ति के लिए अनुचित कर्म भी क्षम्य होता है।

काव्यलिङ्ग और उपमा की संसृष्टि।

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अन्वय—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डम् धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता ॥२९॥

अर्थ—इन्द्र के समान पराक्रमशाली अपने वंश में उत्पन्न होनेवाले भरत आदि राजाओं द्वारा चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से धारण की हुई इस धरती को तुमने मद चुवाने वाले ( मदोन्मत्त ) गजराज द्वारा माला की भाँति अपने ही हाथों से ( तोड़फोड़ कर ) त्याग दिया है ॥२९॥

टिप्पणी—भरत आदि पूर्ववंशजों के महान् पराक्रम की याद दिलाकर द्रौपदी युधिष्ठिर को लज्जित करना चाहती है। कहाँ वे वह लोग और कहाँ हो तुम कि इतने बड़े साम्राज्य को अपने ही हाथों से नष्ट कर दिया। अपने ही अवगुणों से यह अनर्थ हुआ है। उपमा अलङ्कार।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अन्वय—ते मूढधियः पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति। हि शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिताः इषवः इव प्रविश्य घ्नन्ति ॥३०॥

अर्थ—वे मूर्ख बुद्धि के लोग पराजित होते हैं जो ( अपने ) मायावी ( शत्रु ) लोगों के साथ मायावी नहीं बनते क्योंकि दुष्ट लोग उस प्रकार के

सीधे-सादे निष्कपट लोगो मे, उघाडे हुए अगो मे तीक्ष्ण बाणो की भाँति प्रवेश करके उनका विनाश कर देते है ॥३०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मायावी दुर्योधन को जीतने के लिए तुम को अपनी यह धर्मात्मापने की नीति छोडनी होगी । तुम्हे भी उसी की तरह मायावी बनना होगा । जिस तरह उघाडे शरीर मे तीक्ष्ण बाण घुस कर अगो का नाश कर देते है, उसी तरह से निष्कपट रहनेवालो के बीच मे उसके कपटी शत्रु भी प्रवेश कर लेते है और उसका सत्यानाश कर देते हैं ।

अर्थान्तरन्यास से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार ।

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधन. कुलाभिमानी कुलजां नराधिप' ।
परैस्त्वदन्य. क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥३१॥

अन्वय —अनुरक्तसाधन कुलाभिमानी त्वदन्य क नराधिप गुणानुरक्ताम् कुलजाम् मनोरमाम् आत्मवधूम् इव श्रियम् परै अपहारयेत् ॥३१॥

अर्थ —सब प्रकार के साधनो से युक्त एव अपने उच्च कुल का अभिमान करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा होगा, जो सन्धि आदि (सौन्दर्य आदि ) राजोचित गुणो से ( स्त्रियोचित गुणो से ) अनुरक्त, वश परम्परा द्वारा प्राप्त (उच्च कुलोत्पन्न) मन को लुभानेवाली अपनी पत्नी की भाँति राज्यलक्ष्मी को दूसरो से अपहृत करायेगा ॥३१॥

टिप्पणी—स्त्री के अपहरण के समान ही राज्यलक्ष्मी का अपहरण भी मानहानिकारक है । तुम्हारे समान निर्लज्ज ऐसा कोई दूसरा राजा मेरी दृष्टि मे नही है, जो अपने देखते हुए अपनी पत्नी की भाँति अपनी राज्यलक्ष्मी को अपहरण करने दे रहा है । मालोपमा अलङ्कार ।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव ! वर्त्मनि ।
कथ न मन्युर्ज्वलयत्युदीरित शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिख ॥३२॥

अन्वयः—नरदेव ! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानम् भवन्तम् उदीरित मन्यु शुष्क शमीतरुम् उच्छिख अग्नि इव कथ न ज्वलयति ॥३२॥

अर्थ—हे राजन् ! ऐसा विपत्ति का समय आ जाने पर भी, वीर पुरुषो के लिए निन्दनीय मार्ग पर खडे हुए आप को (मेरे द्वारा) बढाया हुआ क्रोध, सूखे हुए शमी वृक्ष को अग्नि की भाँति क्यो नही जला रहा है ॥३२॥

टिप्पणी—अर्थात् आप को तो ऐसी विपदावस्था मे उद्दीप्त क्रोध से जल उठना चाहिए था। शत्रु द्वारा उपस्थित की गई ऐसी दुर्दशाजनक परिस्थिति में भी आप कायरो की भाँति शान्तचित्त हैं, इसका मुझे आश्चर्य हो रहा है। उपमा अलङ्कार।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अन्वय.—अवन्ध्यकोपस्य आपदा विहन्तु देहिनः स्वयम् एव वश्या. भवन्ति। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरा न, वा विद्विषादरः न ॥३३॥

अर्थ—जिसका क्रोध कभी निष्फल नही होता—ऐसे विपत्तियो को दूर करने वाले व्यक्ति के वश मे लोग स्वय ही हो जाते है (किन्तु) क्रोध से विहीन व्यक्ति के साथ प्रेम भाव पैदा होने से मनुष्य का आदर नही होता और न शत्रुता होने से भय ही होता है ॥३३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य मे अपने अपकार का बदला चुकाने की क्षमता नही होती उसकी मित्रता से न कोई लाभ होता है और न शत्रुता से कोई भय होता है। क्रोध अथवा अमर्ष से विहीन प्राणी नगण्य होता है। मनुष्य को समय पर क्रोध करना चाहिए और समय पर क्षमा करनी चाहिए।

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषित ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

अन्वयः—लोहितचन्दनोचितः महारथ. रेणुरूषित. पदाति. अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अयम् वृकोदरः कच्चित् सत्यधनस्य मानस न दनोति ॥३४॥

अर्थ—( पहले ) लाल चन्दन लगाने के अभ्यस्त, रथ पर चलनवाले (किन्तु सम्प्रति) धूल से भरे हुए पैंदल—एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भ्रमण करने वाले यह भीमसेन क्या सत्यपरायण ( आप ) के चित्त को खिन्न नही करते है ? ॥३४॥

टिप्पणी—'सत्यपरायण' यहाँ उलहने के रूप मे उत्तेजना देने के लिए कहा गया है। छोटे भाइयो की दुर्दशा का चित्र खीच कर द्रौपदी युधिष्ठिर को अत्यन्त उत्तेजित करना चाहती है। उसके इस व्यग्य का तात्पर्य यह है कि ऐसे पराक्रमी भाइयो की ऐसी दुर्गति हो रही है और आप उन मायावियो के साथ ऐसी सत्यपरायणता का व्यवहार कर रहे हैं।

परिकर अलकार।

विजित्य य प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्य वसु वासवोपम ।
स वल्कवासासि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्यु न कथ धनञ्जय ॥३५॥

अन्वय—वासवोपम य उत्तरान् कुरुन् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यम् वसु अयच्छत्, स धनञ्जय अधुना वल्कवासासि आहरन् तव मन्यु कथ न करोति ॥३५॥

अर्थ—इन्द्र के समान पराक्रमी जिस ( अर्जुन ) ने सुमेरु के उत्तरवर्ती कुरुप्रदेशो को जीत कर प्रचुर सुवर्ण एव रजत राशि लाकर आपको दी थी वही अर्जुन अब वल्कलो का वस्त्र धारण कर तुम्हारे हृदय मे क्रोध को क्यो नही पैदा कर रहा है ? ॥३५॥

टिप्पणी—जिसने जीवनपर्यन्त सुखभोग के लिए पर्याप्त धनराशि अपने पराक्रम से जीत कर आपको दी थी, वही आप के कारण आज वल्कलधारी है, यह देख कर भी आप म क्रोध क्यो नही होता—यह आश्चर्य है।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथ त्वमेतौ धृतिसयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

अन्वय —वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं धृतिसयमौ बाधितुं कथं न उत्सहसे ॥३६॥

अर्थ—वन की विषम भूमि मे सोने से जिनका शरीर कठोर बन गया है, ऐसे चारो ओर बाल उलझाये हुए, जगली हाथी की भाँति, इन दोनो जुडवें भाइयो (नकुल और सहदेव) को देखते हुए, (तुम्हारे) धैर्य और सन्तोष तुम्हे छोडने को क्या नही तैयार होते ॥३६॥

टिप्पणी—भीम और अर्जुन की पराक्रम-चर्चा के साथ सौतेली माता के सुकुमार पुत्रो की दुर्दशा की चर्चा भी युधिष्ठिर को और अधिक उत्तेजित करने के लिए की गयी है। इसमे तो उनके धैर्य और सन्तोष की खुले शब्दो मे निन्दा भी की गई है कि ऐसा धैर्य और सन्तोष कही नही देखा गया।

उपमा अलङ्कार।

इमामहं वेद न तावकी धियं विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तय ।
विचिन्तयन्त्या भवदापद परा रुजन्ति चेत प्रसभ ममाधय ॥३७॥

अन्वय —अहम् इमाम् तावकीम् धियम् न वेद। चित्तवृत्तय विचित्ररूपा खलु। परान् भवदापदम विचिन्तयन्त्या मम चेत आधय प्रसभ रुजन्ति ॥३७॥

अर्थ—मैं ( इतनी विपत्ति मे भी आपको स्थिर रखनवाली ) आपकी बुद्धि को नही समझ पाती। मनुष्य-मनुष्य की चित्तवृत्ति अलग-अलग विचित्र होती है। आप की इन भयङ्कर विपत्तियो को (तो) सोचते हुए ( भी ) मेरे चित्त को मनोव्यथाएँ अत्यन्त व्याकुल कर देती हैं ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् आप जिम विपत्ति को झेल रहे हैं वह तो देखने वालो को भी परेशान कर देती है, किन्तु आप है जो बिल्कुल निश्चिन्त और निष्क्रिय हैं। यह परम आश्चर्य है।

पुराऽधिरूढ शयनं महाधनं विबोध्यसे य स्तुतिगीतिमङ्गलै ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थली जहासि निद्रामशिवै शिवारुतै ॥३८॥

अन्वय —य पुरा महाधनम् शयनम् अधिरूढ स्तुतिगीतिमङ्गलै विबोध्यसे सा अदभ्रदर्भाम् स्थलीम् अधिशय्य अशिवै शिवारुतै निद्राम् जहासि ॥३८॥

अर्थ—जो आप पहले अत्यन्त मूल्यवान शय्या पर सोकर स्तुति पाठ करनेवाले वैतालिको के मगल गान से जगाये जाते थे, वही आप अब कुशो से आकीर्ण वनस्थली मे शयन करते हुए अमगल की सूचना देनेवाली शृगालियो के रुदन शब्दो से निद्रा-त्याग करते है ॥३८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि भाइयो की विपदा ही क्यो आप की भी तो दुर्दशा हो रही है। विषम अलङ्कार।

पुरोपनीतं नृप ! रामणीयक द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिन पर परैति कार्श्यं यशसा सम वपु ॥३९॥

अन्वय —नृप ! यद् एतद् पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिन ते तद् वपु यशसा समम् परम् कार्श्यम् परैति ॥३९॥

अर्थ—हे राजन् ! आपका जो यह शरीर पहले ब्राह्मणो के भोजनादि से शेष अन्न द्वारा परिपोषित होकर मनोहर दिखाई पडता था, वही आज जगली फल-फूलो के भक्षण से, आपके यश के साथ, अत्यन्त दुर्बल हो गया है ॥३९॥

टिप्पणी—अर्थात् न केवल शरीर ही दुर्बल हो गया है, वरन् आपकी कीर्ति भी धूमिल हो गई है। सहोक्ति अलङ्कार।

अनारत यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिर स्रजा रज ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अन्वय —अनारतम् मणिपीठशायिनौ यौ राजशिर स्रजा रज अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् वनेषु निषीदत ॥४०॥

अर्थ—सर्वदा मणि के बने हुए सिंहासन पर विश्राम करनेवाले आप के जिन दोनो पैरो को ( अभिवादन के लिए झुकने वाले ) राजाओ के मस्तक की मालाओ की धूलि रँगती थी, ( अब ) वही दोना चरण हरिणो अथवा ब्राह्मणो के द्वारा छिन्न कुशो के वनो मे विश्राम पाते हैं ॥४०॥

टिप्पणी—इससे बढ़ कर विपत्ति अब और क्या आयेगी। विषम अलङ्कार।

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

अन्वयः—यद् इयम् दशा द्विषन्निमित्ता ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयति इव। परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् पराभवः अपि उत्सव एव ॥४१॥

अर्थ—आप की यह दुर्दशा शत्रु के कारण हुई है, इसलिए मेरा मन अत्यन्त क्षुब्ध-सा होता है। (वैसे) शत्रुओं द्वारा जिसके बल एवं पराक्रम का तिरस्कार नहीं हुआ है, ऐसे मनस्वियों का पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता है ॥४१॥

टिप्पणी—मानियों की विपदा बुरी नहीं है, उनकी मानहानि बुरी है। वही सब से बढ़ कर असहनीय है। उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों की समृष्टि।

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

अन्वयः—नृप! शान्तिम् विहाय तद् धाम विद्विषाम् वधाय पुनः सन्धेहि प्रसीद। निःस्पृहः मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिम् व्रजन्ति। भूभृतः न ॥४२॥

अर्थ—(इसलिए) हे राजन्! शान्ति को त्याग कर आप (अपने) उस तेज को शत्रुओं के विनाशार्थ पुनः प्राप्त करें तथा प्रसन्न हों। निःस्पृह मुनि लोग (ही) शत्रुओं (कामादि मनोविकारों) को तिरस्कृत कर के शान्ति के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति करते हैं, राजा लोग नहीं ॥४२॥

टिप्पणी—शान्ति द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षादि पदार्थों की भाँति राजलक्ष्मी शान्ति से नहीं प्राप्त होती, वह वीरभोग्या है। आपको तो अपने शत्रु का विनाश करने वाला तेज पुनः धारण करना होगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त! हता मनस्विता ॥४३॥

अन्वय —धामवताम् पुरःसरा यशोधना भवादृशा सुदुःसहम् ईदृशम् निकारम् प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत् हन्त ! मनस्विता निराश्रया हता ।।४३।।

अर्थ—तेजस्वियों म अग्रगामी, यश को सर्वस्व माननेवाले आप जैसे शूरवीर अत्यन्त कठिनाई मे सहने योग्य, इस प्रकार से शत्रु द्वारा होने वाले अपमान को प्राप्त करके यदि सन्तोष करते है तो हाय ! स्वाभिमानिता वेचारी निराश्रय होकर नष्ट हो गयी ।।४३।।

टिप्पणी—अर्थात आप जैस तेजस्वी तथा यश को ही जीवन का उद्देश्य माननेवाला भी यदि शत्रु द्वारा प्राप्त दुर्दशा को महन करता है तो साधारण मनुष्य के लिए क्या कहा जाय ? अत पराक्रम करना ही अब आपका धर्म है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ।।४४।।

अन्वय —अथ निरस्तविक्रम चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनम् पर्येषि । लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधर सन् इह पावक जुहुधि ।।४४।।

अर्थ—अथवा ( यदि अपनी पूव तेजस्विता का नही धारण करना चाहते और) अपने पराक्रम का त्याग कर चिरकाल तक शान्ति को ही सुख का कारण मानते हो तो राजचिह्नो से चिह्नित धनुष को फेंककर जटा धारण कर लो और इस तपोवन म अग्नि म हवन करो ।।४४।।

टिप्पणी—अर्थात् बलवानो के लिए भी यदि शान्ति ही सुखदायी हो तो विरक्तो की तरह बलवानो को भी धनुष धारण करने से क्या लाभ है ? उसे फेंक देना चाहिए ।

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ।।४५।।

अन्वय —निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्न ते समयपरिरक्षणम् न क्षमम् । हि विजयार्थिन क्षितीशा अरिषु सोपधिसन्धिदूषणानि विदधति ।।४५।।

अर्थ— नीचता पर उतारू शत्रुओं के रहते हुए आप जैसे परम तेजस्वी के लिए तेरह वर्ष की अवधि की रक्षा की बात सोचना अनुचित है, क्योंकि विजय के अभिलाषी राजा अपने शत्रुओं के साथ किसी न किसी बहाने से सन्धि आदि को भग कर ही देते है ॥४५॥

टिप्पणी—जो शक्तिमान होते हैं, उनके लिए सर्वदा अपना कार्य करना ही कल्याणकारी है, समय अथवा प्रतिज्ञा की रक्षा कायरों के लिए उचित है। काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सङ्कर। पुष्पिताग्रा छन्द।

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसहारजिह्म
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वा समभ्येतु भूय ॥४६॥

अन्वय —विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम् दीप्तिसहारजिह्मम् शिथिलवसुम् रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानम् त्वाम् दिनादौ दिनकृतम् इव लक्ष्मी भूय समभ्येतु ॥४६॥

अर्थ—दैव और कालचक्र के कारण अगाध विपत्ति समुद्र मे डूबे हुए, प्रताप के नष्ट हो जाने से अप्रसन्न, विनष्ट धन-सम्पत्ति वाले एव शत्रुरूपी अन्धकार को विनष्ट कर उदित होने वाले आप को प्रात काल के ( कालचक्र के कारण पश्चिम समुद्र मे निमग्न, प्रकाश एव आतप के नष्ट हो जाने से निस्तेज एव अन्धकार को दूर कर उदित होने वाले) सूर्य की भाँति राज्यलक्ष्मी ( कान्ति ) फिर से प्राप्त हो ॥४६॥

टिप्पणी—रात्रि भर पश्चिम के समुद्र मे डूबे हुए निस्तेज सूर्य को प्रात-काल उदित होने पर जिस प्रकार पुन उसकी कान्ति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार इतने दिनो तक विपत्तियो के अगाध समुद्र म डूबे हुए, निस्तेज एव निर्धन आप को भी आपकी राज्यलक्ष्मी जल्द ही प्राप्त हो—यह मेरी कामना है।

सर्ग का आरम्भ श्री शब्द से हुआ था और उसका अन्त भी लक्ष्मी शब्द से हुआ। मगलाचरण के लिए ऐसा ही शास्त्रीय विधान है। यह मालिनी छन्द है, जिसका लक्षण है, "ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै ।" छन्द मे पूर्णोपमा अलकार है।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य का प्रथम सर्ग समाप्त ॥१॥

# द्वितीय सर्ग

विहितांप्रियया मन.प्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ॥
उपपत्तिमदूर्जिताश्रय नृपमूचे वचन वृकोदर. ॥१॥

अन्वय:—अथ वृकोदर· प्रियया विहिताम् मन प्रियाम् गिर गरीयसीम् निश्चित्य नृपम् उपपत्तिमद् ऊर्जिताश्रयम् वचनम् ऊचे ॥१॥

अर्थ—द्रौपदी के कथन के अनन्तर भीमसेन प्रियतमा द्रौपदी द्वारा कही गई मन को प्रिय लगने वाली वाणी को अर्थ-गौरव से सयुक्त मानकर राजा युधिष्ठिर से युक्तियुक्त एव गम्भीर अर्थों से युक्त वचन ( इस प्रकार ) बोले ॥१॥

टिप्पणी—द्रौपदी की उत्तेजक बातो मे भीम मन ही मन प्रसन्न हुए थे, और उनमे उन्हे अर्थ की गम्भीरता भी मालूम पडी थी। अत· उसी का अनुमोदन करने के लिए वह तर्कसगत एव अर्थ-गौरव से युक्त वाणी मे आगे स्वय युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हैं। पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥२॥

अन्वय:—मानिनी स्नेहमयेन चक्षुषा परित· वीक्ष्य यद् अवोचत वागधिपस्य दुर्वच तद् वचन अपि विस्मय विदधीत ॥२॥

अर्थ—क्षत्रिय कुलोचित स्वाभिमान से भरी द्रौपदी ने स्नेह से पूर्ण नेत्रों से ( ज्ञान नेत्रों से ) चारो ओर देखकर जो बातें ( अभी ) कही हैं, बृहस्पति के लिए भी कठिनाई से कहने योग्य उन बातो से सब को विस्मय होगा। अथवा कठिनाई से भी न कहने योग्य उन बातो से बृहस्पति को भी आश्चर्य होगा ॥२॥

टिप्पणी--भीमसेन के कथन का तात्पय यह है कि द्रौपदी ने जो कुछ कहा है वह यद्यपि स्त्रीजन-सुलभ शालीनता के विरुद्ध होने के कारण विस्मयजनक है तथापि उसमे बृहस्पति को भी आश्चर्यचकित करने वाली बुद्धि की बातें है, उन्हे आपको अङ्गीकार करना ही उचित है। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

विषमोऽपि विगाह्यते नय कृततीर्थं पयसामिवाशय ।
स तु तत्र विशेषदुर्लभ सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म य. ॥३॥

अन्वय—विषम अपि नय पयसाम् आशय इव कृततीर्थ विगाह्यते। तत्र तु स विशेषदुर्लभ य कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यति ॥३॥

अर्थ—नीतिशास्त्र बडा ही दुरूह और गहन विषय है, फिर भी जलाशय की भाँति अभ्यास आदि ( सन्तरण आदि ) करने से उसमे प्रवेश किया जा सकता है। किन्तु इस प्रसङ्ग मे ऐसा व्यक्ति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जो सन्धि विग्रह आदि कार्यो को ( स्नानादि कार्यों को ) देश काल की परिस्थिति के अनुसार ( गड्ढा, पत्थर, ग्राह आदि की जानकारी ) प्रस्तुत करता है ॥३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र बडा गम्भीर है। यह उस जलाशय के समान है जिसम बँधे हुए घाट के बिना प्रवेश कर सकना बडा दुष्कर है। पता नही कहाँ उसमे गहरा गड्ढा है, कहाँ शिलाखड हैं, कहाँ ग्राह बैठा है? राजनीति मे भी इसी तरह की गुत्थियाँ रहती है, उसमे धीरे-धीरे प्रवेश के अभ्यास द्वारा ही गति की जा सकती है। जैसे कोई विरला ही सरावर की भीतरी बातो को जानता है और स्नानार्थी को सब सूचनायें देकर स्नान के लिए प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार सन्धि-विग्रह आदि कार्यों को जाननेवाला कोई विरला ही होता है, जो समय समय पर उनके उपयोग की आवश्यकता समझाकर राजनीति सिखाने वालो को दक्ष बनाता है। सभी लोग ऐसा नही कर सकते। द्रौपदी म वह सब गुण हैं, जो विस्मयजनक है किन्तु वह जो कुछ इस समय कह रही है, उसका हम पालन करना चाहिए।

उपमा और अर्थान्तरन्यास की ससृष्टि।

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुण ॥४॥

अन्वय — परिणामसुखे गरीयसि क्षतौजसा व्यथके अल्पीयसि अतिवीर्यवति भेषजे इव अस्मिन् वचसि बहु गुण दृश्यते ॥४॥

अर्थ—परिणाम मे लाभदायक और श्रेष्ठ किन्तु क्षीण शक्ति वालो ( दुर्बल पाचनशक्ति वालो ) के लिए भयङ्कर दु खदायी, स्वल्प मात्रा मे भी अत्यन्त पराक्रम देनेवाली औषधि की भांति द्रौपदी की (इस ) वाणी म अत्यन्त गुण दिखाई पड रहे हैं ॥४॥

टिप्पणी—जिस प्रकार उत्तम औषधि की अल्प मात्रा मे भी आरोग्य, बल, पोषण आदि अनेक गुण होते हैं, परिणाम लाभदायक होता है, किन्तु, वही क्षीण पाचन शक्ति वालो के लिए भयङ्कर कष्टदायिनी होती है, उसी प्रकार द्रौपदी की यह वाणी भी यद्यपि सक्षिप्त है, किन्तु श्रेष्ठ है। इसका परिणाम उत्तम है, और इसके अनुसार आचरण करने से निश्चय ही आपके ऐश्वर्य एव पराक्रम की वृद्धि होगी। मुझे तो इसम मानरक्षा, राज्यलक्ष्मी की पुन प्राप्ति आदि अनेक गुण दिखाई पड रहे हैं। उपमा अलङ्कार।

इयमिष्टगुणाय रोचता रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।
ननु वक्तृविशेषनि स्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चित ॥५॥

अन्वय—रुचिरार्था इय भारती इष्टगुणाय भवते अपि रोचताम्। गुणगृह्या विपश्चित वचने वक्तृविशेषनिस्पृहा ननु ॥५॥

अर्थ—सुन्दर अर्थों से युक्त द्रौपदी की यह वाणी गुणग्राही आप के लिए भी रुचिकर होनी चाहिए। क्योकि गुणो को ग्रहण करनेवाले विद्वान् लोग ( किसी ) वाणी म वक्ता की स्पृहा नही रखते ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् गुणग्राही लोग किसी भी बात की अच्छाई को तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं, वे यह नही देखते कि उसका वक्ता कोई पुरुष है या स्त्री है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरूढिमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥६॥

अन्वय:—नृप ! चतसृषु विद्यासु निरूढिम् आगता विवेकिनी ते मतिः करिणी पङ्कम् इव विपर्ययम् एत्य कथम् अवसीदति ॥६॥

अर्थ—हे राजन् ! आन्वीक्षिकी आदि चारो विद्याओ मे प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाली आपकी विवेकशील बुद्धि, दलदल मे फँसी हुई हथिनी की भाँति विपरीत अवस्था को प्राप्त करके क्यो विनष्ट हो रही है ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् जैसे हथिनी दलदल मे फँस कर विनष्ट हो जाती है उसी प्रकार चारो विद्याओ में निपुण आपकी बुद्धि भी आज की विपरीत परिस्थिति मे फँसकर क्यो नष्ट हो रही है ? उपमा अलङ्कार ॥६॥

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥७॥

अन्वय:—त्वयि परैः इमाम् अवगीताम् दशाम् गमिते सुरैः अपि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् अवसीदति यद् अत. पर कि विधुरम् ॥७॥

अर्थ—शत्रुओ द्वारा आप के इस दयनीय अवस्था मे पहुँचाए जाने पर, देवताओ द्वारा भी प्रशसित आपका जो पुरुषार्थ नष्ट हो रहा है, उससे बढकर कष्ट देनेवाली दूसरी बात ( भला ) क्या होगी ? ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् आपके जिस ऐश्वर्य एव पराक्रम की प्रशसा देवता लोग भी करते थे, वह नष्ट हो गया है, अतः इससे बढकर कष्ट की क्या बात होगी। शत्रुओ ने आपको ऐसी दुर्दशाजनक स्थिति मे पहुँचा दिया है, इसका आप को बोध नही हो रहा है।

काव्यलिंग अथवा अर्थापत्ति अलङ्कार ।

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥८॥

अर्थ—अब यदि आप अवधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो ( यह सोचने की है कि) जिसने अब तक अपने अनेक छल-कपटपूर्ण कार्यों का परिचय दिया ह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन, चिरकाल तक राज्यश्री का सुख अनुभव उसे आसानी से कैसे छोड़ देगा ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस कुटिल दुर्योधन ने अधिकार होते हुए भी हमारे को हड़प लिया है वह इतने दिनो तक उसका उपभोग करके हमारी वनवास अवधि बीतने के अनन्तर उसे सुख से लौटा देगा—ऐसा समझना भूल आप को इसी समय जो कुछ करना है, करना चाहिए। अर्थापत्ति ङ्कार।

द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥१७॥

अन्वयः—अथवा जननाथ! द्विषता विहितम् आत्मनः पद पुनः त्वया ा यदि तव अनुजन्मनाम् आविष्कृतपौरुषैः भुजैः कृतम् ॥१७॥

अर्थ—अथवा हे राजन्! शत्रु दुर्योधन द्वारा लौटाये गये अपने राज्य ासन को यदि आप पुनः प्राप्त कर लेंगे तब आपके छोटे भाइयों ( अर्जुन दे ) की उन भुजाओं से फिर लाभ क्या होगा, जिनका पराक्रम अनेक बार ट हो चुका है ॥१७॥

टिप्पणी—शत्रु की कृपा द्वारा यदि आपको सिंहासन मिल भी जाता है हमारी भुजाओं का पराक्रम व्यर्थ ही रह जायगा। अर्थापत्ति अथवा परिकर ङ्कार।

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥१८॥

अन्वय.—मृगाधिपः मदसिक्तमुखैः स्वयं हतैः करिभिः वर्त्तयते। तेजसा द् लघयन् महान् अन्यतः भूतिम् न इच्छति ॥१८॥

अन्वयः—विपद. अविक्रमम् अभिभवन्ति। आपदुपेतम् आयतिः रहयति। निरायतेः लघुता नियता अगरीयान् नृपश्रियः पदं न ॥१४॥

अर्थ—विपत्तियाँ पुरुषार्थहीन व्यक्ति को आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों मे ग्रस्त व्यक्ति की भावी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है, उसका भविष्य उसे छोड़ देता है फिर ऐसा हो जाने पर उसकी प्रतिष्ठा नष्ट होना निश्चित है और अप्रतिष्ठित अथवा लघु लोग राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति नही कर सकते ॥१४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का एकमात्र कारण पुरुषार्थ ही है। जो पुरुषार्थ से हीन होता है, वही धीरे-धीरे अप्रतिष्ठित अथवा लघु बनकर राज्यश्री का पात्र नही रह जाता। कारणमाला अलङ्कार।

तदल प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन सम समृद्धय. ॥१५॥

अन्वय.—तद् उन्नतेः प्रतिपक्षम् व्यवसायवन्ध्यताम् अवलम्ब्य अलम् पराक्रमाश्रया. समृद्धय. विषादेन सम न निवसन्ति ॥१५॥

अर्थ—अतएव अपने अभ्युदय मे बाधा डालने वाली इस निरुत्साहिता को अब बस ( समाप्त ) कीजिए क्योकि पुरुषार्थ अथवा पराक्रम मे निवास करने वाली समृद्धियाँ ( कभी ) निरुत्साहिता के साथ नही रहती ॥१५॥

टिप्पणी—पुरुषार्थ और निरुत्साहिता—ये दोनो एक साथ नही रह सकते अतः पुरुषार्थसाध्या लक्ष्मी निरुत्साही के साथ क्यो रहेगी ? अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ॥१६॥

अन्वय.—अथ अवधिः प्रतीक्ष्यते चेत् आविष्कृतजिह्मवृत्तिना धृतराष्ट्रसुतेन नरेन्द्रसम्पद. चिरम् आस्वाद्य कथ सुत्यजा. ॥१६॥

अर्थ—अब यदि आप अवधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो (यह सोचने की बात है कि) जिसने अब तक अपने अनेक छल-कपटपूर्ण कार्यों का परिचय दिया है, वह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन, चिरकाल तक राज्यश्री का सुख अनुभव करके उसे आसानी से कैसे छोड़ देगा ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस कुटिल दुर्योधन ने अधिकार होते हुए भी हमारे भाग को हड़प लिया है वह इतने दिनो तक उसका उपभोग करके,हमारी वनवास की अवधि बीतने के अनन्तर उसे सुख से लौटा देगा—ऐसा समझना भूल है। आप को इसी समय जो कुछ करना है, करना चाहिए। अर्थापत्ति अलङ्कार।

> द्विपता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मन. पदम्।
> जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥१७॥

अन्वयः—अथवा जननाथ ! द्विपता विहितम् आत्मनः पद पुनः त्वया लब्धा यदि तव अनुजन्मनाम् आविष्कृतपौरुषैः भुजैः कृतम् ॥१७॥

अर्थ—अथवा हे राजन् ! शत्रु दुर्योधन द्वारा लौटाये गये अपने राज्य सिंहासन को यदि आप पुनः प्राप्त कर लेंगे तब आपके छोटे भाइयो ( अर्जुन आदि ) की उन भुजाओ से फिर लाभ क्या होगा, जिनका पराक्रम अनेक बार प्रकट हो चुका है ॥१७॥

टिप्पणी—शत्रु की कृपा द्वारा यदि आपको सिंहासन मिल भी जाता है तब हमारी भुजाओं का पराक्रम व्यर्थ ही रह जायगा। अर्थापत्ति अथवा परिकर अलङ्कार।

> मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हृतः।
> लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यत. ॥१८॥

अन्वय.—मृगाधिपः मदसिक्तमुखैः स्वयं हृतैः करिभि. वर्त्तयते। तेजसा जगद् लघयन् महान् अन्यतः भूतिम् न इच्छति ॥१८॥

अर्थ—सिंह अपने द्वारा मारे गये मुख भाग से मद चूने वाले हाथियों से ही अपनी जीविका निर्वाहित करता है। अपने तेज से ससार को पराजित करने वाला महान् पुरुष किसी अन्य की सहायता से ऐश्वर्य की अभिलाषा नही किया करता ॥१८॥

टिप्पणी—तेजस्वी पुरुष किसी दूसरे द्वारा की गई जीविका नही ग्रहण करते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभि स्थास्नु तपश्चिचीषत ।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मी फलमानुषङ्गिकम् ॥१९॥

अन्वय—अभिमानधनस्य गत्वरै असुभि स्थास्नु यश चिचीषत अचिरांशुविलासचञ्चला लक्ष्मी आनुषङ्गिक फल ननु ॥१९॥

अर्थ—अपनी जाति, कुल और मर्यादा की रक्षा को ही अपना सर्वस्व समझने वाले ( पुरुष ) अपने अस्थिर (नाशवान्) प्राणो के द्वारा स्थिर यश की कामना करते हैं। इस प्रसङ्ग मे ( उन्हे ) बिजली की चमक के समान चञ्चला (क्षणिक) राज्यश्री ( यदि प्राप्त हो जाती है तो वह ) अनायास ही प्राप्त होने वाला फल है ॥१९॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि मनस्वी पुरुष केवल यश के लिए अपन प्राण गँवाते हैं, धन के लिए नही। क्योकि यश स्थिर है और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चचला है। उन्हे लक्ष्मी की प्राप्ति भी होती है, किन्तु उनका उद्देश्य यह नही होता। उसकी प्राप्ति तो अनायास ही हो जाती है। परिवृत्ति अलङ्कार।

ज्वलित न हिरण्यरेतस चयमास्कन्दति भस्मना जन ।
अभिभूतिभयादसूनत सुखमुज्झन्ति न धाम मानिन ॥२०॥

अन्वय—जन भस्मना चयम् आस्कन्दति ज्वलित हिरण्यरेतसम् न। अत अभिभूतिभयाद् असून् सुखम् उज्झन्ति धाम न ॥२०॥

अर्थ—मनुष्य राख की ढेर को तो अपने पैरो आदि से कुचल देते हैं किन्तु जलती हुई आग को नही कुचलते। इसी कारण से मनस्वी लोग अपने प्राणो

को तो सुख के साथ छोड देते हैं किन्तु अपनी तेजस्विता अथवा मान-मर्यादा को नही छोडते ॥२०॥

टिप्पणी—मानहानिपूर्ण जीवन से अपनी तेजस्विता के साथ मर जाना ही अच्छा है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

> किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
> प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥२१॥

अन्वय:—मृगाधिप: किं फलम् अपेक्ष्य ध्वनत. पयोधरान् प्रार्थयते। महीयसः सा प्रकृति· खलु यया अन्यसमुन्नतिम् न सहते ॥२१॥

अर्थ—(भला) सिंह किस फल की आशा से गरजते हुए बादलो पर आक्रमण करता है। मनस्वी लोगो का यह स्वभाव ही है कि जिसके कारण से वे दूसरों की अभ्युन्नति को सहन नही करते ॥२१॥

टिप्पणी—अपने उत्कर्ष के इच्छुक मनस्वी लोग दूसरो की वृद्धि या अभ्युन्नति को सहन भी नही कर सकते। मनस्वियो का यही पुरुषार्थ है कि वे दूसरो को पीडा पहुँचाकर अपनी कीर्ति बढायें। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

> कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम्।
> ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तय. ॥२२॥

अन्वय:—नृप ! तत् प्रमादज तम. निर्धूय विक्रमे मतिं कुरु। विद्विषा विपत्तय त्वदनुत्साहहताः एतद् ध्रुवम् अवेहि ॥२२॥

अर्थ—हे राजन् ! इसलिए आप अपनी असावधानी से उत्पन्न मोह को दूर कर पुरुषार्थ मे ही अपनी वुद्धि लगाइए। (दूसरा कोई उपाय नही है।) शत्रुओं की विपत्तियाँ केवल आपके अनुत्साह के कारण से रुकी हुई हैं—यह निश्चय जानिए ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् यदि आप तनिक भी पुरुषार्थ और उत्साह धारण कर लेंगे तो शत्रु विपत्तियों मे निमग्न हो जायेंगे। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

द्विरदानिव दिग्विभाविताश्चतुरस्तोयनिधीनिवायत ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषता क शतमन्युतेजस ॥२३॥

अन्वय —दिग्विभावितान् आयत चतुर द्विरदान् इव, तोयनिधीन् इव रणे शतमन्युतेजस तव अनुजान् द्विषता क प्रसहेत ? ॥२३॥

अर्थ—सभी दिशाओ मे सुप्रसिद्ध, आते हुए चारो दिग्गजो अथवा समुद्रो की भाँति, रणभूमि मे आते हुए इन्द्र के समान पराक्रमशाली आप के कनिष्ठ ( चारो ) भाइयो को शत्रुओ मे से कौन सहन कर सकता है ? ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् ऐसे परम पराक्रमशील एव तेजस्वी भाइयो के रहते हुए आप किस बात की चिन्ता कर रहे हैं। आप को नि शङ्क होकर दुर्योधन से भिड जाना चाहिए। उपमा तथा अर्थापत्ति अलकार की ससृष्टि।

ज्वलतस्तव जातवेदस सतत वैरिकृतस्य चेतसि।
विदधातु शम शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति ॥२४॥

अन्वय —तव चेतसि वैरिकृतस्य सतत ज्वलत जातवेदस शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति शम विदधातु ॥२४॥

अर्थ—आप के हृदय मे शत्रुओ के कारण उत्पन्न एव निरन्तर जलती हुई अमर्ष की अग्नि को शत्रुओ की स्त्रियो के नेत्रो से बहने वाली अमगलकारिणी आँसुओ की धाराएँ शान्त करें ॥२४॥

टिप्पणी—आप के शत्रु मारे जायँ और उनकी विधवा स्त्रियाँ दु ख के कारण खूब रुदन करें, जिससे आप के हृदय मे जलती हुई अमर्ष की अग्नि शान्त हो। अतिशयोक्ति अलकार तथा गम्योपमा का सकर।

इति दर्शितविक्रिय सुत मरुत कोपपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितु महीपतिर्द्विरद दुष्टमिवोपचक्रमे ॥२५॥

अन्वय —इति दर्शितविक्रिय कोपपरीतमानस मरत सुतम् महीपति दुष्ट द्विरदम् इव उपसान्त्वयितुम् उपचक्रमे ॥२५॥

अर्थ—उपर्युक्त रीति से अपने अमर्ष की सूचना देनेवाले क्रोध से आक्रान्त-हृदय वायुपुत्र भीमसेन को राजा युधिष्ठिर ने (मानसिक विकार की सूचना देने वाले तथा क्रोध से आक्रान्त ) दुष्ट हाथी की तरह वश मे करने का उपक्रम किया ॥२५॥

टिप्पणी—राजा को अपने अप्रसन्न बन्धु-बान्धवो को मृदु वचन द्वारा *बिगडे हुए हाथी की तरह अपने वश मे करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, उनकी उपेक्षा नही करनी चाहिए—यह नीति की बात है।* पूर्णोपमा अलङ्कार।

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरा मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥२६॥

अन्वय—अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे आदर्शे इव तव गिरा विस्तरे विमला मति अभिदृश्यते ॥२६॥

अर्थ—(युधिष्ठिर ने कहा )—ऊपरी मैल से युक्त होने के कारण निर्मल, *लोहशुद्धि से सुनिर्मित, मनोरम मगलदायी दर्पण मे स्वरूप की भाँति,* तर्क एव प्रमाणो से युक्त, सुन्दर शब्दो से समलकृत हृदयग्राही एव मगलकारी तुम्हारी बातो के विस्तार म तुम्हारी निर्मल बुद्धि दिखाई पड रही है ॥२६॥

टिप्पणी—*वचन की विशदता मे ही बुद्धि का वैशद्य भी दिखाई पडता* है। उपमा अलङ्कार।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित् ॥२७॥
उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागम क्षत।
इदमीदृगनीदृगाशय प्रसभ वक्तुमुपक्रमेत क ॥२८॥

अन्वय—पदै स्फुटता न अपाकृता। अर्थगौरव च न। स्वीकृतम् न। गिरा पृथगर्थता रचिता। क्वचित् सामर्थ्यं न अपोहितम्। बलाद् उपपत्ति उदाहृता। *अनुमानेन आगम च न क्षत। ईदृग् इदम् अनीदृगाशय क प्रसभ वक्तुम्* उपक्रमेत ॥२७-२८॥

अर्थ—तुम्हारी बातो मे पदो के द्वारा विशद अर्थ की स्पष्टता कही छिपी नही है, अर्थ की गभीरता कही अस्वीकृत नही हुई है, पदो तथा वाक्यो मे पूर्वापर का सम्बन्ध सुन्दर हुआ है अर्थात् अप्रासगिक बातें नही आने पाई हैं तथा कही भी वाणी की समर्थता अप्रकट नही है। बुद्धि, बल तथा तर्कों से वह परिपूर्ण है। युक्तियो अथवा तर्कों से शास्त्रो का कही विरोध नही है। इस प्रकार तुम्हारी यह बातें तुम्हारे क्षात्र-धर्म के सर्वथा योग्य हैं। इस प्रकार कट्टर क्षात्रधर्म के पक्षपाती जो लोग नही हैं, वे इस प्रकार की बातें कहने का साहस भी नही कर सकते। (कहना तो दूर की बात है) ॥२७-२८॥

टिप्पणी—युधिष्ठिर भीम को प्रसन्न करने के लिए पहले उनके भाषण-चातुर्य की प्रशसा करते हैं। अच्छे वक्ता मे जो-जो विशेषताएँ होनी चाहिए, कवि ने इस सक्षेप सवाद मे उन सब को रख दिया है। पूर्व छन्द मे दीपक तथा पर छन्द मे अर्थापत्ति अलकार हैं।

अवितृप्ततया तथाऽपि मे हृदयं निर्णयमेव धावति।
अवसाययितु क्षमाः सुख न विधेयेपु विशेषसम्पदः ॥२६॥

अन्वयः—तथाऽपि अवितृप्तया मे हृदयम् निर्णयम् एव धावति। विधेयेपु विशेपसम्पदः सुखम् अवसाययितु न क्षमा ॥२६॥

अर्थ—(यद्यपि तुमने सभी बातो का अच्छी तरह निर्णय कर दिया है) तथापि सशयग्रस्त होने के कारण मेरा हृदय अभी तक निर्णय का विचार ही कर रहा है। सन्धि-विग्रह आदि कर्तव्यो के निर्णय मे, उनके भीतर आनेवाली विशेप सम्पत्तियाँ अनायास ही अपना स्वरूप प्रकट करने मे समर्थ नहीं होती ॥२६॥

टिप्पणी—मुख्य कार्य करने या निश्चय करने के पहले उस कार्य के भीतर आने वाली छोटी-मोटी बातो का भी गहराई से विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि वे सब सरलतापूर्वक समझ में नही आती। काव्यलिङ्ग अल-

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पद ॥३०॥

अन्वय —क्रिया सहसा न विदधीत । अविवेक आपदा परम् पदम् । हि गुणलुब्धा सम्पद विमृश्यकारिण स्वयम् एव वृणते ॥३०॥

अर्थ—विना सोच-विचार किये एक एक किसी कार्य को आरम्भ नही करना चाहिए । अविचार विपत्तियो का प्रमुख स्थान है, क्योकि गुणो पर अपने आप को समर्पण करनेवाली सम्पत्तियाँ विचारशील पुरुष को स्वयमेव वरण करती हैं ॥३०॥

टिप्पणी—विना अच्छी तरह विचार किये किसी कार्य को आरम्भ कर देना विपत्तियो को निमन्त्रण देना है । अत हमे भी अच्छी तरह विचार करके ही अपना कर्त्तव्याकत्तव्य निश्चित करना चाहिये । अर्थान्तिरन्यास अलङ्कार ।

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनी क्रिया शरद लोक इवाधितिष्ठति ॥३१॥

अन्वय —य विधिबीजानि विवेकवारिणा अनुपालयन् अभिवर्षति स लोक फलशालिनीम् शरदम् इव क्रियाम् सदा अधितिष्ठति ॥३१॥

अर्थ—जो कर्त्तव्य-कर्म रूपी बीज को अपन विवेक-रूपी जल से (फल की) प्रतीक्षा करत हुए भली भाँति सीचता है, वह मनुष्य फला (पके अन्ना) की शोभा से समलङ्कृत शरद् ऋतु की भाँति, (फलसिद्धि से समन्वित अपन) कर्म को सदा प्राप्त करता है ॥३१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आरम्भ म बोए गए अन्न से शरद् ऋतु मे कृपको को प्रचुर अन्नराशि मिलती है, उसी प्रकार विचारपूर्वक आरम्भ किए गए कर्म से भी यथासमय सफलता प्राप्त होती है । एकाएक कार्य आरम्भ करनेवालो को कभी कभी ही सफलता प्राप्त होती है, किन्तु विचारशीलो के लिए तो वह निश्चित ही है । श्लपमूलातिशयोक्ति और उसी के द्वारा उत्थापित उपमा अलङ्कार की संसृष्टि ।

शुचि भूपयति श्रुत वपु प्रशमस्तस्य भवत्यलक्रिया ।
प्रशमाभरण पराक्रम स नयापादितसिद्धिभूपण ॥३२॥

अन्वय —शुचि श्रुत वपु भूपयति प्रशम तस्य अलक्रिया भवति । पराक्रम प्रशमाभरणम् । स नयापादितसिद्धिभूपण ॥३२॥

अर्थ—गुरु सम्प्रदाय से पवित्र शास्त्रो का श्रवण अथवा अभ्यास शरीर को सुशोभित करता है। क्रोध की शाति करना उस शास्त्रज्ञान का अलङ्करण करना है। पराक्रम अथवा ऐश्वर्य उस क्रोध शक्ति को शोभा देनेवाला है और वह पराक्रम नीतिपूर्वक सम्पन्न की गयी सफलता का आभूषण है ॥३२॥

टिप्पणी—एकावली अलकार ।

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृत परिशुद्ध आगम कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥३३॥

अन्वय —मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिना सुकृत परिशुद्ध आगम दीप इव अर्थदर्शनम् कुरुते ॥३३॥

अर्थ—( कार्य की सफलता के सम्बन्ध मे उत्पन्न ) बुद्धिभेद रूपी अन्धकार से आच्छादित होने के कारण दुर्गम कार्य निष्पत्ति मे विवेकी पुरुषो का भली भाँति अभ्यस्त एव निश्चित शास्त्रज्ञान ( सुशोभित एव वायु आदि के झकोरो से रहित ) दीपक की भाँति कर्तव्य पथ को अवलोकन कराता है ॥३३॥

टिप्पणी—जिस प्रकार अँधेरे पथ को वायु आदि के विघ्नो स रहित दीपक आलोकित करता है उसी प्रकार से विवेकी पुरुप का शास्त्रज्ञान भी कर्तव्याकर्तव्य के व्यामोह म पडे व्यक्ति का पथ प्रदर्शन करता है। पूर्णोपमा अलङ्कार ।

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छता मन ।
विधिहेतुरहेतुरागसा विनिपातोऽपि सम समुन्नते ॥३४॥

टिप्पणी—जब परम तेजस्वी भास्कर भी ऐसा करते हैं तब साधारण मनुष्य को तो ऐसा करना ही चाहिये। अर्थान्तरन्यास अलकार।

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कला. सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥३७॥

अन्वयः—बलवान् अपि य. कोपजन्मनः तमसः अभिभव न रुणद्धि सः क्षयपक्षः ऐन्दवी. कलाः इव सकला शक्तिसम्पदः हन्ति ॥३७॥

अर्थ—शूरवीर होकर भी जो मनुष्य अपने क्रोध से उत्पन्न अज्ञान-अन्धकार के आक्रमण को नही रोकता वह कृष्ण पक्ष मे चन्द्रमा की कला की भाँति अपनी समस्त शक्ति-सम्पत्ति ( तीनो शक्तियो से समन्वित सम्पत्ति ) को विनष्ट करता है ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् क्रोधान्ध व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्ति व्यर्थ होती है। उपमा अलकार।

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥३८॥

अन्वयः—य समवृत्तिः समये मार्दवम् उपैति तिग्मता च तनोति सः मेदिनीपतिः विवस्वान् इव ओजसा, लोकम् अधितिष्ठति ॥३८॥

अर्थ—जो ( राजा ) समान भाव से ( न तो अत्यन्त क्रोध से, न अत्यन्त मृदुलता से) समय आने पर मृदुता (शान्ति) धारण करता है तथा (समय आने पर) तीक्ष्ण होता है वह राजा सूर्य की भाँति अपने तेज से सम्पूर्ण भूमण्डल पर आधिपत्य जमाता है ॥३८॥

टिप्पणी—समय-समय पर मृदुता तथा तीक्ष्णता धारण करने वाला मनुष्य सूर्य की भाँति अपने तेज से सब को वशवर्ती बनाता है। दीपक अलकार से सङ्कीर्ण श्रौती पूर्णोपमा।

क्व चिराय परिग्रह. श्रिया क्व च [illegible]न्द्रिय
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच[illegible]

अन्वय—श्रिया चिराय परिग्रह क्व ? दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता च क्व ? हि शरदभ्रचला बहुच्छला श्रिय चलेन्द्रियै असुरक्षा ॥३६॥

अर्थ—कहाँ लक्ष्मी को चिरकाल तक अपने वश मे रखना और कहाँ दुष्ट घोडो की भाति कुमार्ग पर दौडने वाली इन्द्रियो की वशवर्तिता ?(दोनो की एक स्थान पर स्थिति असभव है, क्योकि) शरद्ऋतु के बादलो की भाँति चचल एव अनेक छल प्रपचो से पूर्ण लक्ष्मी चचल इन्द्रियो द्वारा सुरक्षित नही रखी जा सकती ॥३६॥

टिप्पणी—अर्थात् किसी प्रकार से एक बार प्राप्त की गई लक्ष्मी चचल इन्द्रिय वालो के वश मे चिरकाल तक नही ठहर सकती । वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार ।

किमसामयिक वितन्वता मनस क्षोभमुपात्तरहस ।
क्रियते पतिरुच्चकैरपा भवता धीरतयाऽधरीकृत ॥४०॥

अन्वय—उपात्तरहस मनस असामयिक क्षोभ वितन्वता भवता धीरतया अधरीकृत अपा पति किम् उच्चकै क्रियते ॥४०॥

अर्थ—वेगयुक्त मन के असामयिक क्षोभ का विस्तार करते हुए तुम धीरता मे पराजित किये गए समुद्र को (अब) किसलिए ऊँचा बना रहे हो ? ॥४०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि तुम तो समुद्र से भी बढ़कर धीर-गभीर थे, फिर क्यों आज वेगयुक्त मन की चचलता को बढा रहे हो । धैर्य म तुमसे पराजित समुद्र भी क्षोभ में अपनी मर्यादा नही छोडता और तुम अपनी मर्यादा छोड कर उस अपने से ऊँचा बना रहे हो । अपने से पराजित को कोई भी ऊँचा नहीं बनाना चाहता । पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार ।

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मन ।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥४१॥

अन्वय—ये श्रुतम् अधिगम्य अपि शरीरजन्मन रिपून् न विनयन्ते ते खलु अचिराय सम्पदां चापलाश्रयम् अयश जनयन्ति ॥४१॥

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्रज्ञान प्राप्त करके भी अपने शरीर मे उत्पन्न होने वाले काम-क्रोधादि शत्रुओ को नही पराजित करते, वे निश्चय ही बहुत शीघ्र सम्पत्तियो की चचलता से उत्पन्न अपकीर्ति के भागी होते हैं ।।४१।।

टिप्पणी—जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर—इन छहों शरीरज शत्रुओ को वश मे नही रख सकते उन्हे विजयश्री की अकीर्तिकरी अस्थिरता ही प्राप्त होती है । काव्यलिग अलकार ।

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ।।४२।।

अन्वयः—अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी अक्षमा भवन्त जनवद् नयसिद्धे अपनेतुम् न अर्हति ।।४२।।

अर्थ—उपयुक्त समय और साधनो का अतिक्रमण करने वाली तथा अपने ही शरीर तथा इन्द्रियो को कष्ट देनेवाली असहिष्णुता आपको साधारण मनुष्य की भाँति न्याय द्वारा प्राप्त होनेवाली सफलता से पृथक् करने मे उचित नही प्रतीत होती ।।४२।।

टिप्पणी—विना समय का क्रोध अपने ही शरीर और इन्द्रियों को सन्ताप देने के अतिरिक्त कुछ दूसरा परिणाम नही देता । उपमा अलकार ।

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ।।४३।।

अन्वयः—आयतेः भृशम् उपकारकम् भूरिणः कर्मफलस्य प्रसवः अनपायि तितिक्षासमम् द्विषा निबर्हण साधन न अस्ति ।।४३।।

अर्थ—परवर्ती काल मे अत्यन्त उपकारी तथा प्रचुर मात्रा मे कर्मफल को देनेवाली, स्वयम् कभी विनष्ट न होनेवाली क्षमा के समान शत्रुओ का विनाश करनेवाला कोई दूसरा साधन नही है ।।४३।।

टिप्पणी—अर्थात् क्षमा सबसे बडी अभीष्टसाधिका है। लुप्तोपमा तथा व्यतिरेक अलकार।

[ यदि तुम्हें यह सन्देह है कि क्षमापूर्वक कालयापन करने से दुर्योधन सभी राजाओ को अपने वश मे कर लेगा तो ऐसा भी नही समझना चाहिए, क्योंकि— ]

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः।
प्रणमन्ति सदा सुयोधन प्रथमे मानभृता न वृष्णयः ॥४४॥

अन्वय—सहजस्नेहनिबद्धचेतस. मानभृता प्रथमे वृष्णय. प्रणतिप्रवणान् न. विहाय सुयोधन सदा न प्रणमन्ति ॥४४॥

अर्थ—स्वाभाविक प्रेम से बँधे हुए, अभिमानियों मे प्रमुख यदुवशी लोग प्रणाम करने हम लोगो को छोडकर दुर्योधन को सर्वदा प्रणाम नही करते हैं ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् दुर्योधन तो उन यदुवशियों से भी बढ कर अभिमानी है, इसलिए ये यदुवशी लोग जितना विनम्र रहने के कारण हम लोगो से स्वाभाविक प्रेम करते हैं, उतना दुर्योधन से नही। अत जब कभी अवसर लगेगा वे हमारी सहायता करेंगे, दुर्योधन को छोड देंगे। काव्यलिंग अलकार।

सुहृद. सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥३५॥

अन्वय—एषा ये सहजा सुहृद. तथा इतरे च मत न विलङ्घयन्ति। ते आत्मसिद्धये धृतराष्ट्रात्मज विनयाद् इव यापयन्ति ॥४५॥

अर्थ—यही नहीं, इन यदुवशियों के जो सहज मित्र हैं, तथा जो कृत्रिम मित्र हैं, वे इनकी ( यदुवशियो की ) इच्छा का उल्लघन नही करते। वे दोनो प्रकार के लोग तो अपने-अपने स्वार्थों के लिए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन के साथ विनम्र जैसा व्यवहार रखते हैं ॥४५॥

टिप्पणी—अर्थात् जब अनुकूल अवसर आयेगा तो वे सब के सब यदुवशियो के पक्ष मे होकर हमारी ही सहायता करेंगे। दीपक और उत्प्रेक्षा की समृष्टि।

[ यह अभियान का उचित अवसर नही है, क्योकि— ]

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः ।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥४६॥

अन्वयः—कृतावधेः तस्य भवता कृतः अभियोगः इमान् महीभुज. हरिदश्वः कमलाकरान् इव समुत्पतन् प्रविघाटयिता ॥४६॥

अर्थ—दुर्योधन ने जो हमारे वनवास की अवधि बाँध दी है, उसके भीतर यदि आप उसके ( दुर्योधन के ) ऊपर अभियान करते हैं तो हमारा यह कार्य इन यदुवशी तथा इनके मित्र राजाओ को, हरे रगो के अश्वोवाले सूर्य द्वारा कमलो की पखुडियो की भाँति, उदय होते ही छिन्न-भिन्न कर देगा ॥४६॥

टिप्पणी—अन्यायी का साथ कोई नही देगा और इस प्रकार आपका असमय का अभियान अपने ही पक्ष को छिन्न-भिन्न करने का कारण बन जायगा। उपमा अलङ्कार।

[ और जो यदुवशियो के साथ नही हैं, उनका क्या होगा ? ]

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।
सहते न जनोऽप्यधःक्रिया किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥४७॥

अन्वयः—मदोद्धतः सः नृपतीन् विलङ्घयन् उपजापसहान् विधाता। जनः अपि अध क्रिया न सहते लोकाधिकधाम राजक किमु ॥४७॥

अर्थ—अभिमान के मद मे मतवाला वह दुर्योधन अन्य राजाओ का अपमान कर उन्हें भेदयोग्य बना देगा और जब साधारण मनुष्य भी अपना अपमान नही सहन करते तो साधारण लोगो की अपेक्षा अधिक तेजस्वी राजा लोग फिर क्यो सहन करेंगे ? ॥४७॥

टिप्पणी—अपमानित लोग टूट जाते ही हैं और ऐसी स्थिति में समय आने पर सम्पूर्ण राज-मण्डल हमारे पक्ष में हो जायगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[यदि यह कहो कि वनवासी चर ने दुर्योधन को निरभिमानी बताया है तो ऐसा भी नहीं है—]

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥४८॥

अन्वय—असमापितकृत्यसम्पदाम् अभिमानशालिनां विभूतयः तावता विनयेन हतवेगं मदम् उत्तम्भयितुं प्रभवन्ति ॥४८॥

अर्थ—कार्य को अधूरा छोड़ने वाले अभिमानी व्यक्तियों की सम्पत्तियाँ ऊपर से धारण किये गये स्वल्प विनय के द्वारा प्रतिहत वेग अभिमान को बढ़ाने में समर्थ हो जाती हैं ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् वह अपने स्वार्थों के कारण बगुलाभगत बना रहता है, किंतु किसी कार्य की समाप्ति के भीतर तो उसका अभिमान प्रकट होकर ही रहता है क्योंकि थोड़ी देर के लिए चिकनी-चुपड़ी विनयभरी बातों से उसके न्यून वेग वाले अभिमान को बढ़ावा ही मिलता है। लोग समझ जाते हैं कि यह बनावटी विनयी है, सहज नहीं। काव्यलिंग अलङ्कार।

[अभिमान द्वारा होने वाले अनर्थ की चर्चा नीचे के दो श्लोकों में है—]

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥४९॥

अन्वयः—मदमानसमुद्धतं नृपं मूढता नियमेन न वियुङ्क्ते। अतिमूढः नयाद् उदस्यते, नयहीनाद् जनः अपरज्यते ॥४९॥

अर्थ—दर्प और अहङ्कार से उद्धत राजा को मूर्खता अवश्य ही नहीं छोडती। अत्यन्त मूर्ख राजा न्याय-पथ से पृथक् हो जाता है और अन्यायी राजा से जनता अलग हो जाती है ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थात् कार्य का अवसर आने पर अभिमान के कारण देश के सभी राजा तथा जनता भी दुर्योधन से पृथक् हो जायगी। कारणमाला अलङ्कार।

अपरागसमीरणेरित क्रमशीर्णाकुलमूलसन्तति ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितु महानपि ॥५०॥

अन्वय—अपरागसमीरणेरित क्रमशीर्णाऽऽकुलमूलसन्तति रिपु महान् अपि तरुवत् सहिष्णुना उन्मूलयितु सुकर ॥५०॥

अर्थ—द्वेष की वायु से प्रेरित, धीरे-धीरे चचलबुद्धि मन्त्रियों आदि अनुगामियों से विनष्ट शत्रु यदि महान् भी है, तब भी (भयङ्कर तूफान से प्रकम्पित तथा क्रमश डालिया एव जड समेत विनष्ट) वृक्ष की भाँति क्षमाशील पुरुष द्वारा विनष्ट करने मे सुगम हो जाता है ॥५०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि क्षमाशील पुरुष धीरे-धीरे विना प्रयास के ही अपन शत्रुओ का समूल नाश कर डालता है। कारणमाला और उपमा—इन दोना अलकारो की ससृष्टि।

[यदि कहिए कि थोडे से अन्तर्भेद के कारण वह सुसाध्य कैसे हो गया तो यह सुनिये—]

अणुरप्युपहन्ति विग्रह प्रभुमन्त प्रकृतिप्रकोपज ।
अखिल हि हिनस्ति भूधर तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनल ॥५१॥

अन्वय—अणु अपि अन्त प्रकृतिप्रकोपज विग्रह प्रभुम् उपहन्ति। हि तरुशाखाऽन्तनिघर्षज अनल अखिल भूधर हिनस्ति ॥५१॥

अर्थ—अणुमात्र भी अन्तरङ्ग सचिवादि की उदासीनता से उत्पन्न वैर राजा का विनाश कर देता है। क्योकि वृक्षो की शाखाओ के परस्पर सघर्ष से उत्पन्न [illegible] ) उसके पर्वत को जला देती है ॥५१॥

टिप्पणी—जैसे मामूली वृक्षो की डालियो की रगड से उत्पन्न दावाग्नि विशाल पर्वत को जला देती है, उसी प्रकार राजाओ के साधारण सेवको मे उत्पन्न पारस्परिक कटुता या विरोध राजा को नष्ट कर देता है। दृष्टान्त अलकार।

[यद्यपि दुर्योधन का उत्कर्ष हो रहा है, तथापि इस समय तो उसकी उपेक्षा ही करना उचित है क्योकि—]

मतिमान्विनयप्रमाथिन. समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विपः।
सुजय. खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पद. ॥५२॥

अन्वय —मतिमान् विनयप्रमाथिन. द्विप. समुन्नतिं समुपेक्षेत। तादृग् अन्तरे सुजय खलु। हि अविनीतसम्पद. विपदन्ता. ॥५२॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह अविनयी शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा करे। ऐसे अविनयी को तो किसी छिद्र के द्वारा ही सुखपूर्वक जीता जा सकता है, क्योकि अविनयशील लोगो की सम्पत्तियो की समाप्ति विपत्तियो मे ही होती है ॥५२॥

टिप्पणी—अविनयी शत्रु को उपेक्षा द्वारा ही जीता जा सकता है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[अविनीत शत्रु को उपेक्षा से कैसे जीता जा सकता है—यह सुनिए।]

लघुवृत्तितया भिदा गत वहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारय. ॥५३॥

अन्वय.—लघुवृत्तितया बहिः अन्तः च भिदां गत नृपस्य मण्डलम् अनन्तर. आपगारयः शिथिल कूलम् इव अभिभूय हरति ॥५३॥

अर्थ—अपनी अविनयशीलता के कारण बाहर मित्रों में तथा भीतर सेवकों आदि मे भेद पड जाने के कारण छिन्न-भिन्न राजा के राज्य को समीपवर्ती विजयाभिलाषी इस प्रकार से पराजित करके विनष्ट कर देता है जैसे नीचे से जर्जरित तट को नदी का वेग गिराकर नष्ट कर देता है ॥५३॥

टिप्पणी—परस्पर भेद के कारण अविनयी राजा का विनाश सुगम रहता है। उपमा अलकार।

अनुशासतमित्यनाकुल नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मज ॥५४॥

अन्वय—इति आकुलम् अर्जुनाग्रजम् नयवर्त्म अनाकुलम् अनुशासत त पराशरात्मज अभिवाञ्छित अर्थ इव स्वयम् अभीयाय ॥५४॥

अर्थ—इस प्रकार से (शत्रु द्वारा हुए अपमान का स्मरण करने के कारण) क्षुब्ध भीमसेन को सुन्दर न्याय-पथ का उपदेश करते हुए राजा युधिष्ठिर के पास मानो अभिलषित मनोरथ की भाँति वेदव्यास जी स्वयमेव आ पहुँचे ॥५४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार।

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शम निरीक्षितै।
परित पटु बिभ्रदेनसा दहन धाम विलोकनक्षमम् ॥५५॥
सहसोपगत सविस्मय तपसा सूतिरसूतिरापदाम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनि स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चय ॥५६॥

अन्वय—मधुरै निरीक्षितै अवशानि अपि तिर्यञ्चि शम लम्भयन् परित पटु एनसा दहन विलोकनक्षम धाम बिभ्रत्। सहसा उपगत तपसा सूति आपदाम् असूति स मुनि वपुष्मान् पुण्यसञ्चय इव जगतीभुजा सविस्म ददृशे ॥५५-५६॥

अर्थ—अपने शान्तिपूर्ण दृष्टिनिक्षेप से प्रतिकूल स्वभाव के पशु-पक्षियो को भी शान्ति दिलाते हुए, चारो ओर से उज्ज्वल रूप मे चमकते एव पाप कर्मों को जलाते हुए अवलोकनीय तेज को धारण करने वाले, अकस्मात आए हुए, तपस्या के मूल कारण तथा आपत्तियो के निवारणकर्त्ता उन भगवान वेदव्यास को मानो शरीरधारी पुण्यपुञ्ज की भाँति राजा युधिष्ठिर ने बडे विस्मय के साथ देखा ॥५५-५६॥

टिप्पणी—द्वितीय श्लोक मे उत्प्रेक्षा अलकार।

अथोच्चकैरासनतः पराध्याद्युद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥५७॥

अन्वय.—अथ उच्चकैः पराध्याद् आसनतः उद्यन् धूतारुणवल्कलाग्रः सः कीर्णाकपिशांशुजालः सुमेरोः शृङ्गात् तिग्मरश्मिः इव रराज ॥५७॥

अर्थ—इसके बाद ( वेदव्यास जी के स्वागतार्थ ) अपने श्रेष्ठ ऊँचे सिंहासन से उठते हुए राजा युधिष्ठिर के लाल रग के वल्कल का अग्रभाग हिलने लगा। और उस समय वह पीले रग की किरण-पुजो को विस्तृत करने वाले सुमेरु पर्वत से ऊपर उठते हुए सूर्य की भाँति सुशोभित हुए ॥५७॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से सुमेरु के शिखर से ऊँचे उठते हुए सूर्य सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने ऊँचे सिंहासन से भगवान् वेदव्यास के स्वागतार्थ उठते हुए राजा युधिष्ठिर सुशोभित हुए। उपमा अलकार।

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ॥
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥५८॥

अन्वयः—सः नरेन्द्रः अवहितहृदयः ऋषिप्रवरे ऋषिवद् गुरूपदिष्टाम् अर्हां विधाय पश्चात् तदनुमतम् आसनम् प्रशम श्रुतम् इव अलञ्चकार ॥५८॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर ने शान्तचित्त से ऋषिप्रवर वेदव्यास जी की आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्रीय विधि से पूजा करने के अनन्तर उनकी आज्ञा से अपने सिंहासन को इस प्रकार से सुशोभित किया, जिस प्रकार से क्षमा शास्त्रीय ज्ञान को सुशोभित करती है ॥५८॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से क्षमा शास्त्रज्ञान को सुशोभित करती है उसी प्रकार से युधिष्ठिर ने वेदव्यास जी की आज्ञा से अपने सिंहासन को सुशोभित किया। उपमा अलकार।

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुख स विकीर्णधाम्नः ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं-
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः ॥५९॥

अन्वय —व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ विकीर्णधाम्न मुने अभिमुख तिष्ठन् स इद्धम् अशुजाल स वन्त गुरुम् अभित सकलस्य शशाङ्कमूर्त्ते लक्ष्मीम् उवाह ॥५६॥

अर्थ—मुस्कराने के कारण छिटकी हुई दाँत की किरणो से राजा युधिष्ठिर के दोनो आठ उद्भासित हो रहे थे । उस समय चतुर्दिक व्याप्त तेजवाले वेदव्यास जी के सम्मुख बैठे हुए वह प्रदीप्त तेज की किरण-पुञ्जो को फैलाते हुए वृहस्पति के सम्मुख बैठे पूण च द्रमा की कान्ति को धारण कर रहे थे ॥५६॥

टिप्पणी—देवगुरु वृहस्पति के सम्मुख बैठे हुए चन्द्रमा के समान राजा युधिष्ठिर सुशोभित हो रहे थे। पदाथवृत्ति निदशना तथा उपमा अलकार। वसन्ततिलका छ द ।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे द्वितीय सग समाप्त ॥२॥

# तृतीय सर्ग

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥१॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥२॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥३॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥४॥

अन्वयः—ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैः उत्सर्पिभिः अंशुजालैः प्रांशुम् इव आनीलरुचम् पिशङ्गीः जटाः बिभ्राणं तडित्वन्तम् अम्बुवाहम् इव। समग्रां प्रसादलक्ष्मीं दधतं जनातिगेन वपुःप्रकर्षेण असंस्तुतानाम् अपि चेतःसु आर्द्रं भावं प्रसह्य समासजन्तम्, अनुद्धताकारतया अन्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां तन्वन्तम् माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा ईक्षितेन कृतोपसम्भाषम् इव । धर्मनिबन्धिनीनाम् एनःप्रणुदां श्रुतीनाम् प्रसूतिं सुखोपविष्टं मुनिम् तदभ्यागमने हेतुं परीप्सुः धर्मात्मजः आबभाषे ॥१-४॥

अर्थ—( मुनिवर वेदव्यास के आदेश से आसन पर बैठ जाने के ) अनन्तर शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान आनन्ददायी, ऊपर फैलते हुए प्रभापुञ्ज से मानो उन्नत से, श्यामल शरीर पर पीले वर्ण की जटा धारण करने के कारण मानों बिजली से युक्त मेघ की भाँति, प्रसन्नता की सम्पूर्ण शोभा से समलङ्कृत, लोकोत्तर शरीर-सौन्दर्य के कारण अपरिचित लोगों के चित्त में भी अपने

सम्बन्ध मे उच्च भाव पैदा करने वाले, अपनी शान्त आकृति से अन्त.करण की ( स्वच्छ पवित्र ) भावनाओ को प्रकट करते हुए, अपनी अति स्वाभाविक सौम्यता तथा विश्वासदायकता से युक्त अवलोकन के कारण मानो (पहले ही से) सम्भाषण किये हुए की तरह, एव अग्निहोत्र आदि धर्मों के प्रतिपादक तथा पापो के विनाशकारी वेदो के व्याख्याता व्यास जी से, जो सुखपूर्वक आसन पर विराजमान ( हो चुके ) थे, उनके आगमन का कारण जानने के लिए, धर्मराज युधिष्ठिर ने ( यह ) निवेदन किया ॥१—४॥

टिप्पणी—तीनो श्लोको के सब विशेषण व्यासजी के लोकोत्तर व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं। अलौकिक सौन्दर्य के कारण लोगो मे उच्च भाव पैदा होना स्वाभाविक है। प्रथम श्लोक मे दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। द्वितीय में काव्यलिंग तथा तृतीय में भी उत्प्रेक्षा अलकार है। चतुर्थ मे पदार्थहेतुक काव्यलिंग है।

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजा सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतवलाहकायाः ॥५॥

अन्वय.—अनाप्तपुण्योपचयै. दुरापा फलस्य सवित्री निर्धूतरजाः एषा भवद्दर्शनसम्पद् वीतवलाहकाया. दिव. वृष्टेः तुल्या ॥५॥

अर्थ—पुण्यपुञ्ज सचित न करने वाले लोगो के लिए दुर्लभ, अभिलाषाओ को सफल करने वाली, रजोगुणरहित यह आपके ( मगलदायी ) दर्शन की सम्पत्ति बादलो से विहीन आकाश की वर्षा के समान ( आनन्ददायिनी ) है ॥५॥

टिप्पणी—बिना बादल की वृष्टि के समान यह आपका अप्रत्याशित शुभ दर्शन हमारे लिए सर्वथा किसी न किसी कल्याण का सूचक है। उपमा।

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।
आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद् बहुमानपात्रम् ॥६॥

अन्वयः—अद्य क्रतूना क्रियाः कामदुघाः सम्प्रति भूमिदेवा. सत्याशिषः। यत् त्वयि आगते अस्मि आसंसृतेः जगत्सु बहुमानपात्र जातः ॥६॥

अर्थ—आज के दिन मेरे किये हुए यज्ञो के अनुष्ठान फल देने वाले बन गए। इस समय भूमि के देवता ब्राह्मणो के आशीर्वचन सत्य हुए। आपके इस आगमन से ( आज मैं ) जब से इस सृष्टि की रचना हुई है तब से आज तक ससार भर मे सब से अधिक सम्मान का भाजन बन गया हूँ ॥६॥

टिप्पणी—सम्पूर्ण सत्कर्मों के पुण्य प्रभाव से ही आपका यह मगलदायी दर्शन हुआ है। मुझसे बढकर इस सृष्टि मे कोई दूसरा भाग्यशाली व्यक्ति आज तक नही हुआ। पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार ॥६॥

श्रिय विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेय. परिस्नौति तनोति कीर्त्तिम् ।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥७॥

अन्वय:—आत्मयोने. इव लोकगुरोः तव अमोघ सन्दर्शनम् श्रियं विकर्षति अघानि अपहन्ति श्रेय. परिस्नौति कीर्ति तनोति। किं न धत्ते ॥७॥

अर्थ—ब्रह्मा के समान जगत्पूज्य आप का यह अमोघ ( कभी व्यर्थ न होने वाला ) पुण्यदर्शन लक्ष्मी की वृद्धि करनेवाला है, पापो का विनाशक है, कल्याण का जनक है तथा यश का विस्तारक है। वह क्या नही कर सकता है ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् उससे ससार मे मनुष्य के सभी मनोरथ पूरे होते हैं। पूर्वार्द्ध मे समुच्चय अलकार है तथा उत्तरार्द्ध मे उपमा एव अर्थापत्ति अलकार हैं। इस प्रकार इन तीनो की सगृष्टि है।

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेद त्वत्सन्निधावुच्छ्वसितीव चेतः ॥८॥

अन्वय:—श्च्योतन्मयूखे हिमद्युतौ अपि ननिर्वृत मे चक्षु· त्वत्सन्निधौ निर्वृतिम् एति। चेत· समुज्झितज्ञातिवियोगखेदम् उच्छ्वसिति इव ॥८॥

अर्थ—अमृत परिस्रवण करनेवाली किरणो से युक्त हिमांशु चन्द्रमा में भी शान्ति न प्राप्त करनेवाले मेरे नेत्र आपके (इस) दर्शन से तृप्त हो रहे हैं तथा मेरा चित्त छूटे हुए बन्धु-बान्धवो के वियोग-जनित दुःख को भूल कर मानो पुनः जीवित-सा हो रहा है ॥८॥

- टिप्पणी—आपके इस पुण्यदर्शन से मेरे नेत्र सतुष्ट हो गए और मेरा मन नूतन उत्साह से भर गया। पूर्वार्द्ध मे विशेषोक्ति तथा उत्तरार्द्ध मे उत्प्रेक्षा—इन दोनो की ससृष्टि।

निरास्पद प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीन किमु नि स्पृहाणाम्।
तथाऽपि कल्याणकरी गिर ते मा श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥९॥

अन्वय —प्रश्नकुतूहलित्व निरास्पदम् नि स्पृहाणाम् अस्मासु अधीन किमु। तथाऽपि ते कल्याणकरी गिर श्रोतुम् इच्छा मा मुखरीकरोति ॥९॥

अर्थ—(आप के आगमन के प्रयोजन का) प्रश्न पूछने का मेरा जो कौतूहल था वह शान्त हो गया, क्योकि आप जैसे नि स्पृह वीतराग महापुरुषो का हम लोगो के अधीन है ही क्या ? किन्तु फिर भी आपकी मगलकारिणी वाणी को सुनने की इच्छा मुझे मुखर (बोलने को विवश) कर रही है ॥९॥

टिप्पणी—पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार।

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्य मन समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारा द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्र ॥१०॥

अन्वय —इति उक्तिविशेषरम्यम् उक्तवान् उदारचेता नरेन्द्र. द्वैपायनेन जयोपपत्तौ मन समाधाय इति उदारा गिरम् अभिदधे ॥१०॥

अर्थ—उक्त प्रकार की सुन्दर विचित्र उक्तियो से मनोहर वाणी बोलने वाले उदारचेता महाराज युधिष्ठिर से, उनकी विजय की अभिलाषा मे चित्त लगा कर महर्षि द्वैपायन इस प्रकार की उदार वाणी मे बोले ॥१०॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलकार।

चिचीषता जन्मवतामलघ्वी यशोऽवतसामुभयत्रभूतिम्।
अभ्यर्हिता वन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥११॥

अन्वय —अलघ्वी यशोऽवतसाम् उभयत्र भूतिम् चिचीषता जन्मवता वन्धुषु तुल्यरूपा वृत्ति अभ्यर्हिता, तपोधनाना विशेषेण ॥११॥

अर्थ—गम्भीर, कीर्ति को विभूषित करने वाले, इस लोक तथा परलोक में सुखदायी कल्याण की इच्छा रखनेवाले शरीरधारी को (भी) अपने कुटुम्बियो के प्रति समान व्यवहार करना उचित है और तपस्वियो के लिए तो यह समान व्यवहार विशेष रूप से उचित है ॥११॥

*टिप्पणी—ससार मे समस्त शरीरधारी को अपने कुटुम्बी जनो के लिए समान व्यवहार करना उचित है किन्तु तपस्वी को तो विशेष रूप से सम व्यवहार करना ही चाहिये, उसे किसी के साथ पक्षपात नही करना चाहिय। पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार।*

तथाऽपि निघ्न नृप ! तावकीनै प्रह्लीकृत मे हृदय गुणौघै ।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजा भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता ॥१२॥

अन्वय —नृप ! तथाऽपि तावकीनै गुणौघै प्रह्लीकृतम् मे हृदय निघ्नम् हि वीतस्पृहाणा मुक्तिभाजाम् अपि भव्येषु पक्षपाता भवन्ति ॥१२॥

अर्थ—किन्तु ऐसा होने हुए भी हे राजन ! तुम्हारे उत्तम गुणो के समूहा से आकृष्ट मेरा हृदय तुम्हारे वश मे हो गया है। (यदि यह कहो कि तपस्वी के हृदय मे यह पक्षपात क्यो हो गया है तो) वीतराग मुमुक्षुओं के हृदय म भी सज्जनो के प्रति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

*टिप्पणी—सज्जनो के प्रति पक्षपात करने से मुमुक्षु तपस्विया का तप खण्डित नही होता, यह तो स्वाभाविक धर्म है। अर्थान्तरन्यास अलकार।*

सुता न यूय किमु तस्य राज सुयोधन वा न गुणैरतीता ।
यस्त्यक्तवान्व स वृथा बलाद्वा मोह विधत्ते विषयाभिलाष ॥१३॥

अन्वय —यूय तस्य राज सुता न किमु गुणै सुयोधन न अतीता वा। य व वृथा त्यक्तवान् स विषयाभिलाष बलाद् वा मोह विधत्ते ॥१३॥

अर्थ—आप लोग क्या उस राजा धृतराष्ट्र के पुत्र नहीं हैं? क्या अपने उत्तम गुणो से आप लोगो ने दुर्योधन को पीछे नहीं छोड दिया है?

जो उसने बिना किसी कारण के ही आप लोगो को छोड दिया है। अथवा ( यह सच है कि ) विषयो की अभिलाषा ( मनुष्य को ) बलपूर्वक अविवेकी ही बना देती है ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् धृतराष्ट्र की विषयाभिलाषा ही उसके अविवेक का कारण है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धि संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य.।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीना विपदा पदानि ॥१४॥

अन्वय.—य. कर्णादिषु सशय्य तिष्ठते एनम् अर्थसिद्धि कथ न जहातु। हि असाधुयोगा. जयान्तराया प्रमाथिनीना विपदा पदानि ॥१४॥

अर्थ—जो कर्ण प्रभृति दुष्ट मन्त्रियो पर सन्देहजनक कार्यों के निर्णयार्थ निर्भर रहता है, उस धृतराष्ट्र को प्रयोजनो की सिद्धियाँ क्यो न छोड़ें। क्योकि दुष्टो का सम्पर्क विजय का विघातक ( ही नही होता, प्रत्युत ) ध्वस करने वाली विपत्तियो का आधार ( भी ) होता है ॥१४॥

टिप्पणी—दुष्टो का सगति न केवल विजय मे ही बाधा डालती है, प्रत्युत वह अनर्थकारिणी भी होती है। ऐसे दुष्टो के सम्पर्क से धृतराष्ट्र का अवश्य विनाश हो जायगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

पथश्च्युताया समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम पर गुणेषु ॥१५॥

अन्वय:—पथ. च्युताया रिपूणा समितौ चिराय धर्म्यां धुर दधानेन त्वया विपत्सु अपि अविपत्तिरम्य गुणेषु पर प्रेम आविष्कृतम् ॥१५॥

अर्थ—सज्जनो के पथ से भ्रष्ट शत्रुओ की सभा मे चिरकाल तक धर्म के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा करके आपने विपत्तियो मे भी अविपत्ति अर्थात् सुख-शान्ति के समय शोभा देनेवाले सात्विक गुणो के साथ ऊँचा प्रेम प्रदर्शित किया है ॥१५॥

टिप्पणी—असहनीय कष्टो को भी आपने सुख के साथ बिताकर अच्छा ही किया है। विरोधाभास अलङ्कार।

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ।।१६।।

अन्वय:—शमैकवृत्ते: भवत: छलेन अनात्मनीनं विध्वंसं विधाय प्रकाशितत्वन्मतिशीलसारा: ते विद्विष: कृतोपकारा: इव ।।१३।।

अर्थ—शान्ति के प्रमुख उपासक आप के साथ छल करके उन शत्रुओं ने अपना ही विनाश किया है और ऐसा करके उन्होंने आपकी सद्बुद्धि एवं शील-सदाचरण का परिचय देते हुए मानो आपका उपकार ही किया है ।। १६ ।।

टिप्पणी—ऐसा करके उन्होंने अपनी दुर्जनता तथा आपकी सज्जनता का अच्छा प्रचार किया है । चन्दन की भाँति सज्जनों की विपत्ति भी उनके गुणों का प्रकाशन ही करती है । उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ।।१७।।

*अन्वय:—तव धरित्री विक्रमेण लभ्या विपक्ष: च वीर्यास्त्रबलै: ज्यायान् अत:* प्रकर्षाय विधि, विधेय: । हि रणे जयश्री: प्रकर्षतन्त्रा ।।१७।।

अर्थ—तुम पराक्रम के द्वारा (ही) पृथ्वी को प्राप्त कर सकते हो । तुम्हारा शत्रु पराक्रम और अस्त्रबल में तुमसे बढ़ा ,चढ़ा है । इसलिए तुम्हें भी अपने उत्कर्ष के लिए उपाय करना होगा, क्योंकि युद्ध में विजयश्री उत्कर्ष के ही अधीन रहती है ।।१७।।

टिप्पणी—बलवान् एवं पराक्रमी ही रण में विजयी होते हैं, बलहीन और आलसी नहीं । काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि ।

त्रि-सप्तकृत्वो जगतीपतीना हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः ।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ।।१८।।

अन्वय:—त्रि:सप्तकृत्व: जगतीपतीनां हन्ता गुरु: स: जामदग्न्य: यस्य वीर्यावधूत: तदा गुणाना प्रकर्षम् आधारवशं विवेद ।।१८।।

अर्थ—इक्कीस वार धरती के राजाओ का जो सहार करनेवाला है, वह धनुर्वेद का शिक्षक सुप्रसिद्ध जमदग्नि का पुत्र परशुराम जिस (भीष्म) के पराक्रम से पराजित हो गया और यह जान सका कि गुणो का उत्कर्ष पात्र के अनुसार ही होता है ॥१८॥

टिप्पणी—जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने अपने पिता के वैर का बदला चुकाने के लिए समस्त भूमडल के क्षत्रिय राजाओ का इक्कीस बार विनाश कर दिया था, यह एक सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा है। वही परशुराम भीष्म के धनुर्विद्या के आचार्य थे, किन्तु अम्बिका-स्वयबर के समय उन्हे अपने ही शिष्य भीष्म से पराजित हो जाने पर यह स्वीकार करना पडा कि गुणो का विकास पात्र के अनुसार होता है। किसी साधारण पात्र मे पडकर वही गुण अविकसित अथवा अर्धविकसित होता है और किसी विशेष पात्र मे पडकर वह पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक मात्रा मे विकसित होता है। पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीक पराभव प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनु कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवण स भीष्म ॥१९॥

अन्वय—यस्मिन् अनैश्वर्यकृतव्यलीक अन्तक अपि पराभव प्राप्त इव स भीष्म रणे धनु धुन्वन् कस्य मन भयैकप्रवण न कुर्यात् ? ॥१९॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी (भीष्म) के सम्बन्ध मे अपने ऐश्वर्य की विफलता के कारण दुखी होकर मृत्यु का देवता यमराज भी मानो पराजित-सा हो गया है, वही भीष्म रणभूमि मे अपने धनुष को कँपाते हुए किस वीर के मन को नितान्त भयभीत नहीं बना देंगे ॥१९॥

टिप्पणी—भीष्म स्वेच्छामृत्यु थे, यमराज का भी उन्हें भय नहीं था। तब फिर उनके धनुष को देखकर कौन ऐसा वीर था जो भयभीत न होता ? पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार।

सृजन्तमाजाविपुसहतीर्वं सहेत कोपज्वलित गुरु क.।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्व जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥२०॥

अन्वय —आजौ इपुसहती सृजन्त कोपज्वलित परिस्फुरल्लोलशिखाऽग्र-जिह्व जगद् जिघत्सन्तम् अन्तवह्निम् इव गुरुम् व क सहेत ॥२०॥

अर्थ—अपने विकट बाणो के समूहो को बरसाते हुए, क्रोध से जाज्वल्यमान, जीभ की भाँति भयकर लपटें छोडते हुए मानो समूचे ससार को खा जाने के लिए उद्यत प्रलय काल की अग्नि की तरह रणभूमि मे स्थित द्रोणाचार्य को, आप की ओर कौन ऐसा वीर है जो सहन कर सकेगा ? ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् आप के पक्ष मे ऐसा कोई वीर नही है, जो रणभूमि मे क्रुद्ध द्रोणाचार्य का सामना कर सके। उत्प्रेक्षा अलकार।

निरीक्ष्य सरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असस्तुतेपु प्रसभ भयेपु जायेत मृत्योरपि पक्षपात ॥२१॥

अन्वय —सरम्भनिरस्तधैर्यम् आराधितजामदग्न्य राधेय निरीक्ष्य मृत्यो अपि असस्तुतेपु भयेपु प्रसभ पक्षपात जायेत ॥२१॥

अर्थ—अपने क्रोध से दूसरा के धैर्य को दूर करने वाले परशुराम के शिष्य राधासुत कर्ण को देखकर मृत्यु को भी अपरिचित भय से हठात् परिचय हो जाता है ॥२१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मृत्यु भी कर्ण से डरती है तो दूसरो की बात ही क्या ? अतिशयोक्ति अलकार ।

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम् ।
एते दुराप समवाप्य वीर्यमुन्मूलितार कपिकेतनेन ॥२२॥
महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनी ता नृप ! देवतानाम् ।
दातु प्रदानोचित ! भूरिधाम्नीमुपागत सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ॥२३॥

अन्वय —यया सुदुश्चरा तपस्याम् आचरता समासादितसाधनेन कपिकेतनेन दुराप वीर्यं समवाप्य एते उन्मूलितार । प्रदानोचित नृप ! महत्त्वयोगाय महामहिम्ना देवतानाम् आराधनी भूरिधाम्नी ता विद्या सिद्धिम् इव ! दातुम् उपागत अस्मि ॥२२-२३॥

अर्थ—जिस विद्या के द्वारा अत्यन्त कठोर तपस्या करके पाशुपत-अस्त्र-रूपी साधन प्राप्त करने वाले अर्जुन दूसरो के लिये दुर्लभ तेज प्राप्त कर इन सब ( भीष्म आदि ) का विनाश करेंगे। हे उचित दान के पात्र राजन् ! उसी महनीय महिमा से समन्वित, देवताओं के लिये भी आराध्य तथा परम शक्ति-शालिनी विद्या को, सिद्धि की भाँति उत्कर्ष प्राप्ति के निमित्त मैं (अर्जुन को) देने के लिये यहाँ आया हुआ हूँ ॥२२-२३॥

टिप्पणी—इस विद्या से शिव की प्रसन्नता से प्राप्त पाशुपत अस्त्र के द्वारा अर्जुन उन भीष्म आदि का सहार करेंगे। पूर्व श्लोक मे वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग तथा दूसरे म उपमा अलकार।

इत्युक्तवन्त व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रो ।
प्रसेदिवास तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णु ॥२४॥

अन्वय —इति उक्तवन्त प्रसेदिवास त जिष्णु व्रज साधय इति अजातशत्रो वाक्यम् प्रमाणयन् अन्ते वसन् इव विनयेन उपाससाद ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार की बातें करते हुए सुप्रसन्न वेदव्यास जी के समीप अर्जुन राजा युधिष्ठिर के इस वाक्य— 'जाओ और ( इस सिद्धि की) साधना करो।" को स्वीकार करते हुए छात्र की भाँति सविनय उपस्थित हो गये ॥२४॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद् बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षे ।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्ति स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥२५॥

अन्वय —अथ वह्निकणावदाता विद्या दिनादिरम्याद् अर्कस्य बिम्बाद् इव महर्षे मुखाद् निर्याय दीप्ति स्फुरत पद्मम् इव पार्थाननम् अभिपेदे ॥२५॥

अर्थ—तदनन्तर चिनगारी की भाँति उज्ज्वल वह विद्या, प्रात काल के मनो-हर सूर्य मण्डल के समान महर्षि वेदव्यास के मुख से निकलकर (सूय की) किरणो से विकसित होनेवाले कमल के समान अर्जुन के मुख मे प्रविष्ट हो गयी ॥२५॥

टिप्पणी—प्रात काल मे सूर्य मडल से निकली हुई किरणें जैसे कमल मे

प्रवेश करती हैं वैसा ही वेदव्यास के मुख से निकली हुई वह विद्या अर्जुन के मुख मे प्रविष्ट हुई । उपमा अलङ्कार ।

योग च त योग्यतमाय तस्मै तप प्रभावाद्वितितार सद्य ।
येनास्य तत्वेपु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षु ॥२६॥

अन्वय —योग्यतमाय तस्मै त योग च तप प्रभावात् सद्य विततार । येन तत्वेपु अवभासे कृते अस्य चक्षु चिराय समुन्मिमील इव ॥२६॥

अर्थ—मुनिवर वेदव्यास ने परम योग्य अर्जुन को वह योग विद्या अपने तपोबल के प्रभाव से शीघ्रही प्रदान कर दी, जिसके द्वारा प्रकृति महदादि चौबीस पदार्थों का साक्षात्कार हो जाने का कारण अर्जुन के नेत्र चिरकाल के लिए माना खुले हुए से हो गये ॥२३॥

टिप्पणी—अन्धे को दृष्टिलाभ के समान अर्जुन को कोई नूतन ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे उन्हे ऐसा अनुभव हुआ मानों आँखें खुल गयी हा । उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

आकारमाशसितभूरिलाभ दधानमन्त करणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये त तप समाधौ मुनिरित्युवाच ॥२७॥

अन्वय —आशसितभूरिलाभम् अन्त करणानुरूपम् आकार दधान त मुनि विजयोदये तप समाधौ नियोजयिष्यन् इति उवाच ॥२७॥

अथ—मुनिवर वेदव्याम महाभाग्य के सूचक एव अन्त करण के अनुरूप आकार (आकृति) धारण करनेवाले अर्जुन को विजय लाभ दिलानेवाली तपस्या के नियमा मे नियुक्त करने की इच्छा से इस प्रकार बोले ॥२७॥

टिप्पणी—पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार ।

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजा परस्मै पदवीमयच्छन् ।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिपवैर्मुनीनाम् ॥२८॥

अन्वय —अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजा पदवी परस्मै अयच्छन् उपात्तशस्त्र जपोपवासाभिपवै मुनीनाम् आचार समाचर ॥२८॥

अर्थ—इस योग विद्या से तुम्हारा तेज बहुत बढ जायगा और इस प्रकार अपनी इस साधना के पथ को दूसरो से छिपा कर, सदा शस्त्रास्त्र धारण कर, स्वाध्याय, उपवास एव स्नानादि मुनियो के सदाचरणो का पालन करना ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् मुनियो की तरह तपस्या मे रत रहना किन्तु हथियार तब भी धारण किये रहना, इससे तुम्हारी तेजस्विता बहुत बढ जायगी ।

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपासि ।
शिलोच्चय चारुशिलोच्चय तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥२९॥

अन्वय —यत्र गोत्रभिद प्रसत्तये सुदुश्चराणि तपासि करिष्यसे चारुशिलोच्चय त शिलोच्चयम् त्वाम् एष गुह्यक क्षणाद् नेष्यति ॥२९॥

अर्थ—जिस पर्वत पर इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तुमको घोर तपस्या करनी है, उस परम रमणीय शिखरों से युक्त पर्वत पर तुमको यह यक्ष क्षणभर मे पहुँचा देगा ॥२९॥

टिप्पणी—अनुप्रास और काव्यलिंग की सशृष्टि ।

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनु महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।
त राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ ॥३०॥

*अन्वय* —इति महेन्द्रसूनुम् ब्रुवाणेन तेन महर्षिणा तिरोबभूवे । राजराजानुचर अस्य आदेशम् साक्षाद् इव त प्रदेशम् अधितष्ठौ ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार की बातें इन्द्रपुत्र अर्जुन से कहकर वे महर्षि वेदव्यास (वही) अन्तर्हित हो गये । तदनन्तर कुबेर का सेवक वह यक्ष मानो मुनिवर के प्रत्यक्ष आदेश की भाँति, उस अर्जुन के निवास-स्थल पर पहुँच गया ॥३०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृह पुण्यजन स जिष्णौ ।
इयाय सख्यावित्व सम्प्रसाद विश्वासयत्याशु सता हि योग ॥३१॥

अन्वय —स पुण्यजन कृतानति व्याहृतसान्त्ववादे जिष्णौ जातस्पृह सख्यौ इव सप्रसादम् इयाय । हि सता योग आशु विश्वासयति ॥३१॥

अर्थ—उस यक्ष ने (आते ही) प्रणाम किया, तथा प्रिय वचन बोलनेवाले अर्जुन मे अनुराग प्रकट करते हुए मित्र की भाँति विश्वास प्राप्त किया । ( क्यों न ऐसा होता ) क्योकि सज्जनो की सगति शीघ्र ही विश्वास पैदा करती है ॥३१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यक्ष ने आने के साथ ही अर्जुन को प्रणाम किया तथा उनसे अपनी मैत्री मान ली । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
वृहतद्द्युतीन्दु खकृतात्मलाभ तम शनै पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥३२॥

अन्वय —अथ उष्णभासा उदयाय विहीयमानान् वृहद्द्युतीन् सुमेरुकुञ्जान् इव तेन पाडुसुतान् दु खकृतात्मलाभ तम शनै प्रपेदे ॥३२॥

अर्थ—( यक्ष के आने तथा प्रणामादि के ) अनन्तर भगवान् भास्कर द्वारा उदय के लिये छोड़े गए परम प्रकाशमान सुमेरु के कुञ्जो की भाँति अर्जुन द्वारा अपने अभ्युदय के लिए छोडे गये परम तेजस्वी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि को, दु ख के साथ अपना प्रसार प्राप्त करनेवाले अन्धकार ने धीरे धीरे व्याप्त कर लिया ॥३२॥

टिप्पणी—जिस प्रकार सूय उदय के लिए जब सुमेरु के कुञ्जो को छोड देता है तो उन्हे अन्धकार घर लेता है उसी प्रकार अपने अभ्युदय के लिए जब अर्जुन ने पाडवो को छोड दिया तो उन्हे शोकान्धकार ने घेर लिया । श्लेपानुप्राणित उपमा अलङ्कार ।

असशयालोचितकार्यनुन्न प्रेम्णा समानीय विभज्यमान ।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दु खातिभारोऽपि लघु स मेने ॥३३॥

अन्वय —असशयालोचितकार्यनुन्न प्रेम्णा समानीय विभज्यमान स दु खातिभार अपि तन्मनोभि तुल्याद् विभागाद् इव लघु मेने ॥३३॥

अर्थ—बिना सन्देह के सम्यक् विचार किए गए भविष्य के कार्यक्रमो के कारण दूर किए गए तथा पारस्परिक स्नेह से विभक्त दुःख का वह अत्यन्त भारी बोझा भी युधिष्ठिर आदि चारो भाइयो के चित्तो से मानो बराबर-बराबर बँटकर हल्का मान लिया गया ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थात् चारो भाइयों ने पारस्परिक स्नेह से अर्जुन के वियोग-जनित शोक के भार को कम करके भविष्य के कार्यक्रमो पर विचार किया। हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार।

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥३४॥

अन्वय—धैर्येण महर्षेः विश्वास्यतया अरातिप्रभवात् तीव्राद् मन्योः मघोनः सुते वीर्यं च विद्वत्सु तेषु सः शोकः स्थानं न अवाप ॥३४॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक धैर्य से, इस कार्य के प्रवर्त्तक महर्षि वेदव्यास की बातो मे अडिग विश्वास करने के कारण तथा दुर्योधनादि शत्रुओ द्वारा उत्पन्न होने वाले तीव्र क्रोध के कारण इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम को जाननेवाले उन युधिष्ठिर आदि पाडवो को वह शोक आक्रान्त नही कर सका ॥३४॥

टिप्पणी—अर्थात् युधिष्ठिर आदि चारो पाडवो को अर्जुन के वियोग का दुःख इन उपर्युक्त कारणों से अधिक नही सता सका। हेतु अलकार।

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरी ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥३५॥

अन्वय—तद् अशर्म भूरिधाम्नः तान् चतुरः अपि वासरस्य यामान् इव दूरं विहाय एकौघभूतं विभावरीम् ध्वान्तम् इव कृष्णां प्रपेदे ॥३५॥

अर्थ—उस अर्जुन वियोगजनित शोक ने उन चारो परम तेजस्वी युधिष्ठिर प्रभृति पाडवो को, परम प्रकाशमान दिन के चारो प्रहरो की तरह दूर से छोड कर, एकराशि होकर कृष्णपक्ष की रात्रि के अन्धकार की तरह द्रौपदी को घेर लिया ॥३५॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से अन्धकार दिन के चारो प्रहरो को छोड़कर कृष्ण पक्ष की रात्रि को ही घेरता है उसी प्रकार से अर्जुन के वियोग का वह शोक चारो पाडवो को छोड़कर द्रौपदी पर छा गया। उपमा अलकार।

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरु ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितु विषेहे ॥३६॥

अन्वय —सा विलोकने अगूढभावा अपि मङ्गलभङ्गभीरु तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी लोचने मीलयितु न विषेहे ॥३६॥

अर्थ—द्रौपदी यद्यपि अर्जुन को देखने के लिए स्पष्ट रूप में इच्छुक थी तथापि अमङ्गल के भय से वह हिमकण से युक्त कमल के समान, आँसुओ से भरे हुए अपने नेत्रो को मूँदने मे समर्थ न हो सकी ॥३६॥

टिप्पणी—अर्जुन के वियोग की गहरी व्यथा से द्रौपदी की आँखो मे आँसू भरे हुए थे, जिससे वह ठीक तरह से अर्जुन को देख नही पाती थी। और चाहती थी हृदय भर कर देखना, किन्तु ऐसा तब तक नही हो सकता था जब तक नेत्र आँसुओ से स्वच्छ न हो। यदि वह आँसू गिराती तो अमङ्गल होता, क्योंकि यात्रा के समय स्त्री के आँसू अपशकुन के सूचक होते हैं, अत वह जैसी की तैसी रही। उस समय उसके नेत्र हिमकण से युक्त कमल पत्र के समान सुशोभित हो रहे थे। उपमा और काव्यलिंग का सकर।

अकृत्रिमप्रेमरसाभिराम रामार्पित दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मन प्रसादाञ्जलिना निकाम जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनु ॥३७॥

अन्वय —इन्द्रसूनु अकृत्रिमप्रेमरसाभिराम रामार्पित दृष्टिविलोभि दृष्ट मन प्रसादाञ्जलिना पाथेयम् इव निकाम जग्राह ॥३७॥

अर्थ—इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सहज प्रेमरस से मनोहर, पत्नी द्वारा समर्पित, दृष्टि को लुभाने वाले उसके अवलोकन को अपने प्रसन्न मनरूपी अंजलि से पाथेय ( मार्ग सम्बल ) की भाँति यथेष्ट रूप से ग्रहण किया ॥३७॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से कोई पथिक सहज प्रेम से अपनी प्रियतमा द्वारा दिए गए मधुर पाथेय को अजलि मे ग्रहण करता है, उसी प्रकार से सहज स्नेह से मनोहर नेत्रानन्ददायी द्रौपदी के दर्शन को अर्जुन ने अजलि के समान अपने प्रसन्न मन से ग्रहण किया । उपमा अलकार ।

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धवाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥३८॥

अन्वय.—वन्यद्विपेन हृतप्रसादा निदाघसिन्धु इव धैर्यावसादेन राजपुत्री निरुद्धवाष्पोदयसन्नकठ कृच्छ्राद् इति उवाच ॥३८॥

अर्थ—जङ्गली हाथी द्वारा गदली की गई ग्रीष्म की नदी की भाँति, धैर्य के छूटने से उदास राजपुत्री, वाष्प के रुक जाने से गद्गद् कण्ठ द्वारा बडी कठिनाई से यह बोली ॥३८॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

मग्ना द्विपच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावना भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।
आधिद्विपामा तपसा प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥३९॥

अन्वयः—पङ्कभूते द्विपच्छद्मनि मग्ना सम्भावनाम् भूतिम् इव उद्धरिष्यन् आधिद्विपा तपसाम् आप्रसिद्धे अस्मद्विना भृशम् मा उन्मनीभू ॥३९॥

अर्थ—कीचड के समान शत्रुओ के कपट-व्यवहार मे डूबी हुई हम सब की सम्पत्ति के–सम्मान के योग्यतम उद्धारकर्त्ता तुम ही हो, अतः मन की व्यथा को दूर करनेवाली साधना की सफलता-पर्यन्त तुम हम लोगो के बिना अत्यन्त व्यथित मत होना ॥३९॥

टिप्पणी—शत्रु के कपट से नष्ट हम सब की योग्यता को तुम ही पहले जैसी बना सकते हो । अतः जब तक तपस्या का फल न मिल जाय तब तक तुम्हे अत्यन्त उदास या व्यथित नही होना चाहिए । उपमा अलकार ।

यशोऽधिगन्तु सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितु वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजा समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धि. ॥४०॥

अन्वय:—यश. अधिगन्तुम् वा सुखलिप्सया मनुष्यसङ्ख्याम् अतिवर्तितु वा अभियोगभाजा निरुत्सुकाना सिद्धिः समुत्सुका इव अङ्कम् उपैति ॥ ४० ॥

अर्थ—उज्ज्वल कीर्ति पाने के लिए, सुख प्राप्ति के लिए अथवा साधारण मनुष्यो से ऊपर उठकर कोई असाधारण काम करने के लिए उद्यत होनेवाले एव कभी अनुत्साहित न होनेवाले लोगो को अनुरक्ता स्त्री की भाँति सफलता स्वयमेव अकगत होती है ॥४०॥

टिप्पणी—जिस प्रकार प्रेमी मे अनुरक्त रमणी उसके अक मे स्वयमेव आ बैठती है उसी प्रकार सफलता भी उस मनुष्य के समीप स्वयमेव आती है जो उपर्युक्त प्रकार से कठिन से कठिन कार्य करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। उपमा अलकार ।

[नीचे के चार श्लोको मे द्रौपदी शत्रुओ द्वारा किए गए अपमान का स्मरण दिलाते हुए तपस्या की आवश्यक्ता दिखाकर अर्जुन के क्रोध को भड़काती है । इन चारो श्लोको का कर्त्ता और क्रियापद एक ही मे है—]

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तु क्षत्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोजः ।
तेजस्वितायाः विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥४१॥
व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्या यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥४२॥
वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम् ।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः ॥४३॥
प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्त्तुं न शक्तः किमुताधिकर्त्तुम् ।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥४४॥

अवन्य:—विधात्रा लोकं गोप्तु विहितस्य क्षत्रस्य जैत्रम् ओजः वसु मुष्णन् विजयैकवृत्तेः तेजस्वितायाः प्रियं प्राणम् इव अभिमानं निघ्नन्, आप्तजनोपनीतः संशय्य व्रीडानतैः नृपैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः पृथिव्या वितानभूत दिग्विकीर्णं विततं

यशः समूहन् इव, वीर्यविदानेषु कृतावमर्षः सम्प्रतीतिम् अभूताम् इव तन्वन् अह्नः अवशेषः अर्कत्विषाम् इव आयतीनाम् प्रयामक्षय कुर्वन्, परैः अस्मासु प्रसह्य प्रयुक्तः यः स्मर्त्तु न शक्यः अधिकर्त्तु किमुत, सः निकारः त्वद्विना आर्द्रः उपशुष्यद् मे हृदय नवीकरिष्यति ॥४१-४४॥

अर्थ—ब्रह्मा द्वारा लोक-रक्षा के निमित्त बनाये गये क्षत्रियो के विजय-शील तेज-रूपी धन का अपहरण करता हुआ, एकमात्र विजय-प्राप्ति ही जिनकी वृत्ति है, ऐसे तेजस्वियो के प्रिय प्राणो की भाँति अभिमान को खडित करता हुआ, परिचित लोगो द्वारा कहे जाने पर सन्देहयुक्त किन्तु लज्जा से नीचे मुख किए हुए राजाओ द्वारा वडी कठिनाई से कहे जाने पर किसी प्रकार विश्वास योग्य पृथ्वी पर तबू की भाँति सभी दिशाओ मे फैले हुए हमारे यश को मानो सकुचित सा करता हुआ, पहले के पराक्रमपूर्ण कार्यों को करने के कारण प्राप्त प्रसिद्धि को मानो झूठा-सा सिद्ध करता हुआ, दिन के चौथे पहर द्वारा सूर्य की कान्ति के समान भविष्य की प्रतिष्ठा को नष्ट करता हुआ, शत्रुओ द्वारा हम पर हठपूर्वक किया गया, जो स्मरण करने योग्य भी नही हो, उसके अनुभव की बात क्या कही जाय, वही मेरा केशाकर्पण रूप अपमान तुम्हारे न रहने पर ताजा (गीला) होकर, तुम्हारी विरह-व्यथा मे सूखते हुए मेरे हृदय को फिर गीला कर देगा ॥४१-४४॥

टिप्पणी—चारो श्लोको मे दिए गए सभी विशेषण 'निकार' शब्द के लिए ही हैं। द्रौपदी अर्जुन के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए ही इस प्रकार की वातें कह रही है। प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि तेजस्वी पुरुप की मानहानि ही उनकी मृत्यु के समान है। इसमे उपमा अलकार है। द्वितीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओ से पराजित लोग कभी यश के भागी नही होते। इसमे काव्यलिग और उत्प्रेक्षा का सकर है। तृतीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओ द्वारा अपमानित व्यक्ति को चिरकाल तक कही प्रतिष्ठा नही प्राप्त होती। इसमे उत्प्रेक्षा और उपमा की ससृष्टि है। चतुर्थ श्लोक का तात्पर्य है कि मेरा वह अपमान अब तुम्हारे यहाँ न रहने पर मुझे और भी सताएगा। इसमे समासोक्ति अलङ्कार है।

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विपत्प्रतापान्तरितोरुतेजा शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्न ॥४५॥

अन्वय —अभिमानव्यसनाद् दन्तव्यसनाद दन्ती इव असह्य विकार प्राप्त· द्विपत्प्रतापान्तरितोरुतेज शरद्घनाकीर्ण अह्न आदि इव ॥४५॥

अर्थ—अभिमान् अर्थात् अपनी मान मर्यादा के नष्ट हो जाने से ( इस समय ) आप दाँता के टूट जाने से कुरूप हाथी की भाँति असह्य कुरूपता को प्राप्त हो गए हैं। शत्रुओ के प्रताप से आप का तेज मलिन हो गया है अत आप शरद् ऋतु के मेघो से छिपे हुए प्रभात की भाँति दिखाई पड रहे हैं ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—अर्थात् शत्रुओ के प्रताप से आप का तेज बिल्कुल नष्ट हो गया है। दन्तविहीन हाथी के समान मानमर्यादाविहीन आप का जीवन कुरूप हो गया है। उपमा अलकार।

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमान ।
यश क्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्न ॥४६॥

अन्वय —निष्क्रियत्वात् सव्रीडमन्दै इव अस्त्रै अत्यर्थं न अवभासमान यश क्षयक्षीणजलार्णवाभ त्वम् अन्यम् आकारम् अभिपन्न इव ॥४६॥

अर्थ—उपयोग मे न आने के कारण माना लज्जित एव कुठित अस्त्रा से ( इस समय आप ) अत्यन्त शोभायमान नही हो रहे हैं, प्रत्युत यश के नष्ट होने से जलहीन समुद्र के समान आप मानो किसी भिन्न ही आकृति को प्राप्त हो गये हैं ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—उपमा एव उत्प्रेक्षा की संसृष्टि।

दु शासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनार्थैरिव भाग्यनार्थै ।
केशै कदर्थीकृतवीर्यसार कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥४७॥

अन्वय —दु शासनामर्षरजोविकीर्णै विनार्थै इव भाग्यनार्थै एभि केशै. कदर्थीकृतवीर्यसार त्व स एव धनञ्जय असि कच्चित् ॥४७॥

अर्थ—दु.शासन के आकर्षण रूप धूलि से धूमरित, मानो असहायो के समान भाग्य के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशो से, जिनके बल और पराक्रम का तिरस्कार हो चुका है, तुम क्या वही अर्जुन हो ? ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् यदि तुम वही अर्जुन हो तो मुझे भरोसा है कि तुम अब हमारी वैसी उपेक्षा न करोगे और इन्हे फिर पूर्ववत् सुसम्माननीय कर दोगे। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

स क्षत्रियस्त्राणसहः सता यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयी यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ॥४८॥

अन्वयः—य सता त्राणसहः स. क्षत्रियः यस्य कर्मसु शक्ति तद् कार्मुकम् यदि द्वयीम् उक्तिम् अफले अर्थजाते वहन् असस्कारहताम् इव करोति ॥४८॥

अर्थ—जो सत्पुरुषो की रक्षा करने मे समर्थ है, वही क्षत्रिय है। जिसमे कर्म करने अर्थात् रणक्षेत्र मे शक्ति दिखाने की क्षमता है उसी को कार्मुक अर्थात् धनुष कहते हैं। ऐसी स्थिति मे इन दोनो शब्दो को ( मण्डप और कुशल शब्दो के समान अवयवार्थ शून्य ) केवल जातिमात्र मे प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य इन्हें मानो अव्युत्पत्ति दूषित अर्थात व्याकरण विरुद्ध वाणी के समान (प्रयोग ) करता है ॥ ४८॥

टिप्पणी—व्याकरण प्रक्रिया की रीति से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ मिलकर क्षत्रिय और कार्मुक शब्द से ऐसे ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यदि कोई क्षत्रिय सत्पुरुषो की रक्षा करने मे असमर्थ है तथा धनुष रणभूमि मे पराक्रम दिखाने वाला नही है तो वे केवल जातिबोधक शब्द हैं जैसे 'मण्डप' और 'कुशल' शब्द है। तुम यदि यथार्थ मे क्षत्रिय शब्द के अधिकारी हो और तुम्हारा धनुष शक्तिशाली है तो मेरे अपमान का बदला चुकाकर अपना कलक दूर करो। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

वीतौजस. सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृता भूतिमपेक्षमाणाः।
समानदु खा इव नस्त्वदीयाः सरूपता पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥४९॥

अवन्य.—हे पार्थ ! वीतौजस. सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृता भूतिम् अपेक्षमाणा. त्वदीया. गुणा समानदु खाः इव न. सरूपता भजन्ते ॥४९॥

अर्थ—हे अर्जुन ! कान्तिविहीन, अस्तित्वमात्र शेष, आपके द्वारा सम्भव अभ्युदय की अपेक्षा रखने वाले आपके शौर्यादि गुण मानो समान दुःखभोगी के समान हमारी समानधर्मिता प्राप्त कर रहे हैं ॥४९॥

टिप्पणी—अर्थात् जैसे हम लोग कान्तिविहीन हैं, प्राणमात्र धारण किये हैं और आपके अभ्युदयाकांक्षी हैं, वैसे ही आपके शौर्यादि गुण भी इस समय हो गये हैं। उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥५०॥

अन्वयः—नागैः आलूनसटं मृगेन्द्रम् इव प्रमादात् रिपुभिः आक्षिप्यमाणं त्वाम् इयं धूः तिग्मरश्मिं दीप्त्या दिनश्रीः इव योग्यतया अधिरूढा ॥५०॥

अर्थ—हाथियों द्वारा जिसके गर्दन के बाल नोच लिये गये हैं—ऐसे सिंह की भाँति, अपनी असावधानी के कारण शत्रुओं द्वारा अपमानित आपके ऊपर, योग्य समझकर यह कार्य-भार उसी प्रकार से आरूढ़ हो रहा है जिस प्रकार से दिनश्री अपनी कान्ति से प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य का आश्रय लेती है ॥५०॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से दिनश्री सूर्य का आश्रय लेती है उसी प्रकार से हमारे शत्रुओं के विनाश का भार केवल आपके ऊपर है। उपमा अलङ्कार।

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः ।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥५१॥

अन्वयः—यः अशेषजनातिरिक्तां सम्भावनां क्रियाभिः अर्थवतीं करोति, तं संसत्सु पुरुषाधिकारे जाते पूरणी संख्या न समुपैति ॥५१॥

अर्थ—जो मनुष्य सर्वसाधारण से ऊपर उठकर अधिक योग्यता वाले कार्यों को अपने प्रयत्नों से सफल करता है, उसी को सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रसंग उपस्थित होने पर, गणना के लिए कोई दूसरी संख्या नहीं मिलती ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् सभा में वही सर्वश्रेष्ठ अथवा अद्वितीय पुरुष माना जाता है, जो साधारण मनुष्यों की शक्ति से ऊपर उठ कर कोई असाधारण कार्य कर दिखाता है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार।

प्रियेषु यं पार्थ ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानं क्लममेति चेत ।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादधाना मघवा विघातम् ॥५२॥

अन्वय —पार्थ ! प्रियेषु उपपत्ते विना विचिन्त्यमानं यं चेत क्लमम् एति जयाय प्रयातस्य तव तेषाम् अधाना मघवा विघात क्रियात् ॥५२॥

अर्थ— हे अर्जुन ! हम प्रियजनो के विषय मे जो दु ख विना किसी कारण के ही, चिन्तन किये जाने मात्र से तुम्हारे चित्त को खिन्न कर देने वाले हैं, विजयार्थ प्रस्थित तुम्हारे उन (सब) दु खो को देवराज इन्द्र नष्ट करें ॥५२॥

टिप्पणी—द्रौपदी के कथन का तात्पर्य यह है कि हम लोगो के कल्याण के सम्बन्ध मे आपके चित्त मे जो आशकाएँ हों वह इन्द्र की कृपा से दूर हो जायें, अर्थात् आप वहाँ पहुँचकर हम सब की चिन्ता न करें, अन्यथा आपकी विजयाभिलाषा मे बाधा पहुँचेगी ।

मा गाश्चिरायैकचर प्रमाद वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मना हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥५६॥

अन्वय —असम्बाधशिवे अपि देशे चिराय एकचर वसन् प्रमाद मागा । हि मात्सर्यरागोपहतात्मना मानसानि साधुषु अपि स्खलन्ति ॥५३॥

अर्थ—(उस) निर्जन और विघ्नबाधा से रहित स्थान मे भी चिरकाल तक अकेले निवास करते हुए तुम कोई असावधानी मत करना, क्योकि रागद्वेष से दूषित स्वभाव वाले व्यक्तियो के चित्त महापुरुषो के सम्बन्ध मे भी विकृत हो जाते हैं ॥५३॥

टिप्पणी—रागद्वेष से दूषित लोग महापुरुषो के सम्बन्ध मे भी जब विकृत धारणाएँ बना लेते है तो उस निर्जन देश मे यद्यपि कोई विघ्नबाधा नही आयेगी तथापि असहाय होने के कारण कोई असावधानी मत करना, क्योकि अकेले मे चित्त का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

तदाशु कुर्वन्वचन महर्षेर्मनोरथान्न सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागत त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीड परिरब्धुकामा ॥५४॥

अन्वय —तद् आशु महर्षे वचनम् कुर्वन् न मनोरथान् सफलीकुरुष्व। कृतार्थं प्रत्यागतम् एव त्वा स्तनोपपीड परिरब्धुकामा अस्मि ॥५४॥

अर्थ—इसलिये शीघ्र ही महर्षि वेदव्यास जी के आदेश का पालन करते हुए तुम हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाओ। कार्य पूरा करके वापस लौट कर आने पर ही तुम्हें गाढा आलिंगन करने की मैं अभिलाषिणी हूँ ॥५४॥

टिप्पणी—कार्यसिद्धि के पूर्व इस समय तुम्ह मेरा आलिंगन करना भी उचित नही है। अर्थापत्ति अलङ्कार।

उदीरिता तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम्।
आसाद्य वाच स भृश दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मि ॥५५॥

अन्वय —स इति याज्ञसेन्या उदीरिता नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकारा ता वाचम् आसाद्य उदीची काष्ठाम् तिग्मरश्मि इव भृश दिदीपे ॥५५॥

अर्थ—राजा यज्ञसेन की कन्या द्रौपदी की इस प्रकार कही गई उन वातों को सुनकर, जिसने शत्रुओ के अपकार को फिर से नूतन रूप देकर हृदय मे जमा दिया, अर्जुन उत्तर दिशा म प्राप्त सूर्य की तरह अत्यन्त जल उठे ॥५५॥

टिप्पणी—उत्तर दिशा ( उत्तरायण ) मे पहुँच कर सूर्य जिस प्रकार से अत्यन्त दीप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार से द्रौपदी की बातें सुनकर अर्जुन अत्यन्त क्रोध स जल उठे। पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उपमा अलङ्कार की संसृष्टि।

अथाभिपश्यन्निव विद्विष पुर पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसहति।
बभार रम्योऽपि वपु स भीषण गत क्रिया मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अन्वय —अथ विद्विष पुर अभिपश्यन् इव पुरोधसा आरोपितहेतिसहति स रम्य अपि आभिचारिकी क्रिया गत मन्त्र इव भीषण वपु बभार ॥५६॥

अर्थ—तदनन्तर शत्रुओ को सामने उपस्थित की तरह देखते हुए, पुरोहित (धौम्य) द्वारा मन्त्रोच्चारण सहित उपस्थापित शस्त्रो से युक्त अर्जुन न रम्याकृति होते हुए भी दूसरो के मारण अनुष्ठान मे प्रयुक्त मन्त्र के समान, अति भयङ्कर स्वरूप धारण कर लिया ॥५६॥

# चतुर्थ सर्ग

ततः स कूजत्कलहंसमेखला सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजन जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥१॥

अन्वयः—ततः जनप्रियः सः कूजत्कलहंसमेखलाम् सपाकसस्याहितपाड्डुता-गुणाम् भुवम् आसादितयौवनाम् प्रियाम् इव उपजनम् आससाद ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर सर्वजनप्रिय अर्जुन मधुर ध्वनि करती हुई मेखला के समान राजहंसो को धारण करनेवाली तथा पके हुये अन्नो से पीले वर्णो वाली पृथ्वी के पास, (मधुर ध्वनि करने वाले राजहंसो के समान मेखला धारण करने वाली) युवावस्था प्राप्त अपनी प्रियतमा की भाँति जन समीप मे (सखियो के समक्ष) पहुँच गये ॥१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नायक उसकी सखियो के समक्ष अपनी युवती प्रियतमा के पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार लोकप्रिय अर्जुन उस भूमि मे पहुँच गये, जहाँ कृपको का निवाम था । उपमा अलङ्कार ।

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥२॥

अन्वय.—सः विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीः अपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भस उपायनीभूतशरद्गुणश्रियः उपसीम स्थलीः पश्यन् ननन्द ॥२॥

अर्थ—अर्जुन नीचे की ओर झुकी हुई धान की बालो से सुशोभित, पंक-विहीन तथा कमलो से युक्त जलोवाली ऐसी सहज मनोहर ग्राम-सीमा की भूमि को देखते हुए बहुत हर्षित हुए, जिसमे शरद् ऋतु की सम्पूर्ण समृद्धियाँ उन्हे भेंट रूप मे अर्पित कर दी गई थी ॥२॥

टिप्पणी—परिणाम अलङ्कार ।

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलै पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनै ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तय ॥३॥

अन्वय—विस्मयाकुलै उन्मीलितपद्मलोचनै पयोभि निरीक्ष्यमाण इव स्थिता हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा शफरीविवृत्तय अस्य मन जह्रु ॥३॥

अर्थ—आश्चर्य रस से भरे, खिले हुये कमल रूपी नेत्रो के द्वारा मानो जलो द्वारा देखी जाती हुई तथा प्रियतमा रमणियो के दृष्टि विलास की चचलता को हरण करने वाली शफरी ( सहरी ) मछलियो की उछल-कूद की चेष्टाओ ने अर्जुन के मन को हर लिया ॥३॥

टिप्पणी—मार्ग के सरोवरो मे कमल खिले थे और सहरी मछलियाँ उछल-कूद रही थी, जिन्हे देखकर अर्जुन का मन मुग्ध हो गया । रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का सङ्कर ।

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिक सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितु प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसगमे ॥४॥

अन्वय—स सवारिजे वारिणि कलमस्य रामणीयकम् पश्यन् अधिक तुतोष, सुदुर्लभे अनुरूपसङ्गमे प्रकर्षलक्ष्मीम् अभिनन्दितु क न अर्हति ॥४॥

अर्थ—अर्जुन कमलो से सुशोभित जल मे जडहन धान की मनोहर शोभा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए । क्यो न होते ? अत्यन्त दुर्लभ और योग्य व्यक्तियो के समागम की उत्कृष्ट शोभा का अभिनन्दन कौन नही करना चाहता ? ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् ऐसे सुन्दर समागम की शोभा का सभी अभिनन्दन करते है । अर्थान्तरन्यास अलकार ।

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगत वितर्कमाविष्कृतफेनसतति ।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहत पय ॥५॥

अन्वय—उच्चकै विवृत्तपाठीनपराहत आविष्कृतफेनसन्तति अवाप्तकिञ्जल्कविभेदम् पय तस्य स्थलपद्मिनीगतम् वितर्क नुनोद ॥५॥

अर्थ—ऊँचाई तक उछलती हुई रोहू नामक मछलियो से ताडित होने के कारण फेन समूहो को प्रकट करनेवाले तथा सटे हुये पद्मो के केसर समूहो से सुशोभित जल ने अर्जुन की ( कमलो मे ) गुलाब सम्बन्धी शका को निवृत्त कर दिया ॥५॥

टिप्पणी—रोहू मछलियाँ जब ऊँचाई तक कूदती थी, तब जल के ऊपर तैरनेवाली पद्म-केसर दूर हट जाती थी तथा निर्मल जल मे फेनो के समूह भी दिखाई पडने लगते थे, इससे कमलो के पुष्पो मे अर्जुन को गुलाब के पुष्प होने की जो शका हो रही थी, वह निवृत्त हो गयी। निश्चयोत्तर सन्देह अलकार।

कृतोर्मिरेख शिथिलत्वमायता शनै शनै शातरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोपिता तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतम् ॥६॥

अन्वय—स शनै शनै शिथिलत्वम् आयता शान्तरयेण वारिका कृतोर्मिरेख समुद्रयोपिता तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकत निरीक्ष्य रेमे ॥६॥

अर्थ—अर्जुन धीरे धीरे क्षीणोन्मुख एव शान्त-वेग जल से निर्मित लहरो की रेखाओ से सुशोभित समुद्रपत्नी नदियो के भगिमायुक्त ( चुन्नटदार ) रेशमी साडी की भाँति शुभ्र बालुकामय तटो को देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥६॥

टिप्पणी—नदियो के जल ज्यो ज्यो कम होने लगते हैं त्यो-त्यो उनके बालुकामय तट पर शान्त लहरो के निशान साडिया के चुन्नट की भाँति सुशोभित होते जाते हैं। कवि उसी की उपमा स्त्री की उस साडी से कर रहा है जो चुनियाई गई हो। उपमा अलङ्कार।

[ नीचे के तीन श्लोको मे धान की रखवाली करनेवाली स्त्रिया का वर्णन है— ]

मनोरम प्रापितमन्तर भ्रुवोरलङ्कृत केसररेणुनाणुना।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव वन्धुजीवकम् ॥७॥
नवातपालोहितमाहित मुहुर्महानिवेशौ परित पयोधरौ।
चकासयन्तीमरविदज रज परिश्रमाम्भापुलकेन सर्पना ॥८॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदतमुच्चै क्षतसिंधुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टि दधत स शारदी सविग्रह दर्पमिवाधिप गवाम् ॥११॥

अन्वय —उक्षावजये जयश्रिया परितम् उच्चै नदन्त क्षतसिंधुरोधप शारदी पुष्टि दधत गवाम् अधिप स सविग्रह दर्पम् इव ददर्श ॥११॥

अर्थ—दूसरे (अपने प्रतिद्वन्द्वी) बलवान सांड को जीतकर विजय शोभा से समलङ्कृत, उच्च स्वर में गरजते हुए, नदी तट को (अपनी सींगों से) क्षत विक्षत करते हुए, एव शरद् ऋतु की पुष्टि को धारण करनेवाले ( शरद् ऋतु की पौष्टिक घासो को चर कर खूब हृष्टपुष्ट) एक सांड को अर्जुन ने मानो मूर्तिमान अभिमान की भांति देखा ॥११॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थर गवा हिमानीविशदै कदम्बकै ।
शरन्नदीना पुलिनै कुतूहल गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥१२॥

अन्वय —हिमानीविशदै गवा कदम्बकै मन्थर विमुच्यमानै अपि शरन्नदीना पुलिनै गलद्दुकूलै जघनै इव तस्य कुतूहलम आदधे ॥१२॥

अर्थ—हिमराशि के समान श्वेत गौओ के समूहो द्वारा धीरे धीरे छोडे जाते हुए भी शरद्ऋतु की नदियो के तटो ने, रमणी के उस जघन प्रदेश के समान अर्जुन के कुतूहल का उत्पादन किया, जिस पर से साडी नीचे सरक गई हो ॥१२॥

टिप्पणी—शरद् ऋतु के विशेषण का तात्पर्य यह है कि इसी ऋतु म नदियो के तट मनोहर दिखाई पडते है। उपमा अलकार।

गतान्पशूना सहजन्मबन्धुता गृहाश्रय प्रेम वनेषु बिभ्रत ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डव कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥१३॥

अन्वय —पाण्डव पशूना सहजन्मबन्धुता गतान गृहाश्रय प्रेम वनेषु बिभ्रत आर्जवे गोभि कृतानुकारान् इव गोपान उपधेनु ददर्श ॥१३॥

अर्थ—अर्जुन ने पशुओ के साथ सहोदर जैसी बंधु भावना रखनेवाले,

वनो मे (भी) घर जैसा प्रेम रखनेवाले तथा सरलता मे मानों गौओ का अनुकरण करते हुये गोपो को गौओ के समीप देखा ॥१३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार।

[ *नीचे के चार श्लोकों मे गोपियो की तुलना नर्तकियो से की गयी है—* ]

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥१४॥

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥१५॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥१६॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥१७॥

अन्वय—परिभ्रमन् मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैः नवातपामृष्टसरोजचारुभिः मुखैः, निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधराः प्रस्फुरितैकपल्लवाः लताः इव व्यपोढपार्श्वैः पाणिविहारहारिभिः विकर्षणैः अपवर्तितत्रिकाः, व्रजाजिरेषु अम्बुदनादशङ्किनीः मथाम् विवर्तनैः मुहुः प्रणुन्नेषु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् नदत्सु शिखण्डिनाम् योषितः उन्मदयत्सु; सः मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः बल्लवीः अभिप्रनृत्ताः वारयोषितः इव निरीक्षितुम् न उपरराम ॥१४-१७॥

अर्थ—चचल भ्रमरो के समान घुँघराले बालो से सुशोभित, किंचित् मुस्कराने से प्रकाशित केसर के समान दाँतो से विभूषित, चचल कुडलो की कान्तियो से रजित होने के कारण प्रातःकालीन सूर्य की किरणो से स्पर्श किए गए कमल के समान सुन्दर मुखो से युक्त, परिश्रम के कारण रुकी हुई श्वासो से कपित अधरो के कारण एक एक पल्लव जिनके हिल रहे हों—ऐसी लताओ के समान मनोज्ञ, बगलो के बारम्बार परिवर्तनो तथा (दधिमन्थन के कारण) हाथो के सचालन से

मनोहर तथा ( मथानी की रस्सियो के खीचने से ) चचल नितम्बोवाली, गोष्ठ प्रागणो में मथनदण्डो के घुमाने से बारम्बार कम्पित होकर दधि अथवा दुग्ध के कलशो के मृदगो के समान गम्भीर ध्वनि करने के कारण बादलो के गर्जन का भ्रम पैदा करके मयूरियो को उन्मत्त करती हुई, धीरे धीरे चलने वाले पीन (विशाल) स्तनो से युक्त और परिश्रम से मलिन नेत्र-कमलो वाली गोपियो को, नृत्य-कार्य मे लगी हुई वेश्याओ की भाँति देखते हुए अर्जुन नही थके ॥१४-१७॥

टिप्पणी—गोपियाँ गोष्ठो मे दधि या दूध का मथन कर रही थी, उस समय उनकी जो शोभा थी वह नतकी वेश्याओ के समान ही थी। नृत्य के समय नतकियो के अङ्गो की जो जो क्रियाएँ होती हैं, वही उस समय गोपियो को भी थी। चारो श्लोको मे उपमा और स्वाभावोक्ति अलङ्कार की ससृष्टि है। तृतीय श्लोक मे भ्रान्तिमान् अलकार।

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मता वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पद ।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान्प्रसक्तसपातपृथक्कृतान्पथ ॥१८॥

अन्वय –पूर्वाम् विजिह्मताम् जहत वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पद रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान् प्रसक्तसपातपृथक्कृतान् पथ पपात ॥१८॥

अर्थ—पूर्वकालिक अर्थात् वर्षा काल के टेढपन को त्याग कर शरद् ऋतु मे सीधे बने हुए, बैलो द्वारा खाई गई दोनो ओर के सस्यो (फसलो) की सम्पत्तियो वाले तथा रथो के चक्को के आने-जाने से जिनके गीले कीचड घनीभूत हो गए थे एव बहुतेरे लोगो के निरन्तर आने-जाने से जो स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, ऐसे पथो पर से होते हुए अर्जुन ( आगे ) चलने लगे ॥ १८ ॥

टिप्पणी—वर्षा ऋतु मे जगह जगह पानी होने के कारण मार्ग टेढे मेढे हो जाते हैं, किन्तु वही शरद् ऋतु म पानी क सूख जाने पर सीधे बन जाते हैं। मार्गों के दोनो ओर के खेतो के अन्न अथवा घास प्राय पशुओ द्वारा चर ली जाती हैं। गाडी अथवा रथ के चक्को के आने जाने से गीले कीचड

घनीभूत हो जाते हैं। लोगो के निरन्तर आने-जाने से शरद् ऋतु मे मार्ग स्पष्ट हो ही जाते हैं। स्वभावोक्ति अलंकार।

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥१६॥

अन्वयः—सः उपग्रामम् अनिन्द्यकर्मभिः विविक्तभावेङ्गितभूषणैः जनैः वृताः आश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः निवेशवीरुधः भृशम् ददर्श ॥१६॥

अर्थ—अर्जुन ने ग्रामो मे अनिन्द्य अर्थात् प्रशसनीय कार्य करने वाले विशुद्ध अभिप्राय, चेष्टा तथा आभूषणों से अलंकृत ग्राम निवासियों द्वारा अधिष्ठित होने के कारण (द्वैत-वनवासी) मुनियो के आश्रमो के लता-मण्डपो के समान शोभा देने वाली एव खिले हुए पुष्पो से मानो हास करनेवाली गृहलताओं को आदरपूर्वक देखा ॥१६॥

टिप्पणी—गाँवो मे किसानो के घरो के सामने लताएँ लगी थी और उनके गुल्मो की छाया मे बैठकर वे आनन्दपूर्वक गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे। वे लताएँ मुनियो के आश्रमों मे बने हुए लता मडपो के समान थी, क्योकि उनके नीचे बैठनेवाले ग्राम्य-कृषक भी मुनियों के समान ही सीधे-सादे आचार-विचार वाले थे। उपमा अलकार।

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गा न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥२०॥

अन्वयः—ततः स यक्षः शरद्गुणश्रियम् सप्रेक्ष्य शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् तम् अचोदितः अपि गाम् उवाच। हि इङ्गितज्ञः अवसरे न अवसीदति ॥२०॥

अर्थ—तदनन्तर उस यक्ष ने शरद् ऋतु की मनोहारिणी शोभा देखकर, शरद की शोभा को देखने मे उत्सुक नेत्रो वाले अर्जुन से बिना उसके कुछ पूछे ही ये बातें कही। गूढ सकेतो को समझने वाला बोलने का अवसर आने पर चूकता नही ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

इय शिवाया नियतेरिवायति कृतार्थयन्ती जगत फलै त्रिया ।
जयश्रिय पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥२१॥

अन्वय —हे पार्थ ! शिवाया नियते आयति इव जगत त्रिया फलै कृतार्थयन्ती प्रसन्नाम्बु अनम्बुवारिदा इयम् शरत् त जयश्रियम पृथूकरोतु ॥२१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मङ्गलदायिनी भाग्य के फल देने वाल शुभ अवसर के समान ससार की समस्त क्रियाओ को फला द्वारा कृतार्थ करती हुई, निर्मल जलों तथा जलहीन वादलो से सुशोभित यह शरद् ऋतु तुम्हारी विजयश्री का वर्द्धन करे ॥२१॥

टिप्पणी—निर्मल जल तथा जलहीन वादल—ये दोनो विशेपण पृथ्वी और आकाश दोना की प्रसन्नता के परिचयार्थ है । उपमा अलङ्कार ।

उपैति सस्य परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कता मही ।
नवैर्गुणै सप्रति सस्तवस्थिर तिरोहित प्रेम घनागमश्रिय ॥२२॥

अन्वय —सस्य परिणामरम्यता उपैति नदीरनौद्धत्यम् मही अपङ्कताम् उपैति, सप्रति नवैर्गुणै सस्तवस्थिरम् घनागमश्रिय प्रेम तिरोहितम् ॥२२॥

अर्थ—( इस शरद ऋतु मे ) अन्न पकने के कारण मनोहर हो जाते हैं, नदियाँ निर्मल जल एव स्थिर धारा होने के कारण रमणीय हो जाती हैं, पृथ्वी कीचड रहित हो जाती है । इस प्रकार अब अपने नूतन गुणा से इस शरद् ऋतु ने अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण वर्षाऋतु के सुदृढ प्रेम को निरर्थक बना दिया है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् कई महीना से चलने वाली वर्षा ऋतु के मनोहर गुणो से यद्यपि लोगा का उसके प्रति सुदृढ प्रम हो गया था किन्तु इस शरद ने थोडे ही दिनो म अपने इन नूतन गुणा से उसे निरर्थक बना दिया । क्योकि प्रेम उत्कृष्ट गुणा के अधीन होते हैं, परिचय के अधीन नही ।

पतन्ति नास्मिन्विशदा पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपक्तय ।
तथापि पुष्णाति नभ श्रिय परा न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥२३॥

अन्वय —अस्मिन् विशदा पतत्रिण न पतन्ति धृतेन्द्रचापा पयोदपङ्क्तय न पतन्ति, तथापि नभ पराम् श्रियम् पुष्णाति। रम्यम् आहार्यम् गुणम् न अपेक्षते ॥२३॥

अर्थ—इस शरद ऋतु मे यद्यपि श्वेत पक्षीगण (बगुलों की पक्तियाँ) नही उडते और न इन्द्रधनुष स सुशोभित मेघो की पक्तियाँ ही उडती हैं, तथापि आकाश की शोभा निराली रहती है। क्या न हो, स्वभाव से सुन्दर वस्तु सुन्दर बनने के लिए बाहरी उपकरणो की अपेक्षा नही रखती ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेममदामभि ।
इय कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूना कृशता न राजते ॥२४॥

अन्वय —कदम्बभर्तु अत्यये म्लानतया विपाण्डुभि च्युताचिराभागुण-हेमदामभि पयोधरै दिग्वधूनाम् इयम् कृशता न राजत न ॥२४॥

अर्थ—वर्षाऋतु रूपी पति के विरह मे विद्युत्-रूपी सुवर्ण-हार से रहित तथा मलिनता ( निर्जलता अथवा दुर्बलता ) के कारण पाण्डु वर्ण ( पीले रग ) को धारण करने वाले पयोधरो ( मेघो तथा स्तन मण्डलो ) से युक्त ( इन ) दिशा रूपी सुन्दरियो की यह दुबलता शोभा न दे रही हो—ऐसा नही है अपितु ये अत्यन्त शोभा दे रही हैं ॥२४॥

टिप्पणी—पति के वियोग मे पत्नी का मलिन, कृश तथा अलङ्कारविहीन होना शास्त्रीय विधान है। उस समय की उनकी शोभा इसी मे है। वर्षाऋतु रूपी पति की वियोग व्यथा मे दिगङ्गनाओ की यह दशा प्रोषितपतिका की भाँति कवि ने चित्रित की है। वर्षाऋतु पति है, दिशाएँ स्त्रियाँ हैं, मघ स्तन-मडल हैं, बिजली सुवर्ण हार है। रूपक अलङ्कार।

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिन ।
श्रुति श्रयत्युन्मदहसनि स्वन गुणा प्रियत्वेऽधिकृता न सस्तव ॥२५॥

अन्वय —मदात्ययादरक्तकण्ठस्य शिखण्डिन उदिते रुते वाञ्छाम् विहाय श्रुति उन्मदहसनि स्वनम् श्रयति। प्रियत्वे गुणा अधिकृता सस्तव न ॥२५॥

घा गलना लोक-प्रसिद्ध नही है। द्वितीय श्लोक मे उपमा अलङ्कार है। तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति है तथा चतुर्थ मे उत्प्रेक्षा है।

विहारभूमेरभिघोपमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः।
असक्तमूधांसि पयः क्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥३१॥

अन्वयः—विहारभूमेः अभिघोपम् उत्सुकाः च्युतयूथपङ्क्तयः अमूः धेनवः असक्तम् पयः क्षरन्ति ऊधांसि शरीरजेभ्य उपायनानि इव नयन्ति ॥३१॥

*अर्थ—अपनी विहार-भूमि से निवास-स्थल की ओर उत्कण्ठित,* समूह से बिछुडी हुई ये गौएँ निरन्तर दुग्ध बहाती हुई अपने स्तनो को मानो अपने बछडों के लिये उपहार मे लिये जा रही हैं ॥३१॥

टिप्पणी—जैसे माताएँ किसी मेले-ठेले से लौटते हुए अपने बच्चों के लिए उपहार लाती हैं, उसी प्रकार गाँएँ भी अपने विशाल स्तनों को मानों उपहार की गठरी के रूप मे लिए जा रही हैं। उनके स्तन इतने बडे हैं कि वे शरीर के अग की भाँति नही प्रत्युत गठरी के समान मालूम पडते हैं। उत्प्रेक्षा अलकार।

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥३२॥

अन्वयः—जगत्प्रसूतिः जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठम् तनयैः उपेयुषी असौ गवाम् समितिः मन्त्रैः संहिताहुतिः इव समग्राम् द्युतिम् उपैति ॥३२॥

अर्थ—अपने घृत आदि हवनीय सामग्रियो के द्वारा ससार की स्थिति के कारण तथा ससार को पवित्र करने मे एक मुख्य हेतुभूत ये गौओ के समूह गोष्ठ-भूमि के समीप अपने बछडों से मिलकर, वेद-मन्त्रो से पवित्र आहुति के समान सम्पूर्ण शोभा धारण कर रहे है ॥३२॥

टिप्पणी—यज्ञ की आहुतियाँ भी ससार की स्थिति का कारण तथा ससार को पवित्र करने का एक मुख्य साधन है। क्योंकि कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात् अग्नि मे वेदमन्त्रो से पवित्र आहुतियाँ आदित्य को प्राप्त होती हैं और आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है। उपमा अलङ्कार।

कृतावधान जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥३३॥

अन्वय —जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने कृतावधानम् इदं मृगीकदम्बकम् भूयसीम् जिघत्साम् अपहाय सस्यम् न अभ्येति ॥३३॥

अर्थ—मयूरो की षड्ज ध्वनि को जीतनेवाली मधुरकण्ठ गायिकाओं के गीतों मे दत्तचित्त यह हरिणियों का समूह खाने की प्रबल इच्छा को छोड़कर घासो की ओर नही जा रहा है ॥३३॥

टिप्पणी— मधुर स्वर मे गानेवाली गोपियो के गीतो के आकर्षण मे इनकी भूख ही बन्द हो गई।

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥३४॥

अन्वय —शिरसा नमन् अपि अनास्थापरया सरोरुहिण्या अवधीरितः सहाम्भसा शुष्यन् असौ कलमः मनोभुवा तप्तः इव अभिपाण्डुताम् उपैति ॥३४॥

अर्थ—(नायक की भाँति) सिर झुकाकर प्रणत होने पर भी अनादर करने वाली (नायिका की भाँति) कमलिनी से तिरस्कृत होकर सहचारी जल के साथ सूखता हुआ यह जड़हन धान मानो कामदेव से सताए हुए की भाँति पीले वर्ण का हो रहा है ॥३४॥

टिप्पणी —जैसे कोई नायक कुपिता नायिका द्वारा अपमानित होकर कामाग्नि से सूख कर पीला हो जाता है, वैसे ही शरद्ऋतु मे जड़हन धान भी पक कर पीले हो गए हैं। अतिशयोक्ति अलङ्कार से अनुप्राणित समासोक्ति और उपमा का अङ्गाङ्गी भाव से सङ्कर।

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥३५॥

अन्वय:—समुद्धूतसरोजरेणुना हृतासारकणेन वायुना हृता अमी शिलीमुखा: आपदाम् उपागमे दुश्चरिता: इव गतिम् निश्चेतुम् नालम् ॥३५॥

अर्थ—उडते हुए कमल-परागो से भरे हुए तथा वर्षा के जल-कणो से युक्त (शीतल, मन्द, सुगन्ध) वायु द्वारा आकृष्ट ये भ्रमरो के समूह राजा आदि का भय उपस्थित होने पर चोरो एव लम्पटो की भाँति अपने गन्तव्य का निश्चय नही कर पा रहे हैं ॥३५॥

टिप्पणी—अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है तथा भ्रमरावली उडती हुई गुन्जार कर रही है। उपमा अलङ्कार।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितै: शिखा: पिशङ्गी: कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीपकोमला धनु.श्रिय गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥३६॥

अन्वय:—विद्रुमभङ्गलोहितै: मुखै: पिशङ्गी: कलमस्य शिखा. बिभ्रती व्यक्त शिरीपकोमला असौ शुकावलि: गोत्रभिद. धनु श्रियम् अनुगच्छति ॥३६॥

अर्थ—मूगे के टुकडो की भाँति अपने लाल रँग के मुखो (चोच) मे पीले रग की जडहन धान की बालो को धारण किये हुए एव विकसित शिरीष के पुष्प की भाँति हरे रगवाले इन शुको की पत्तियाँ इन्द्रधनुष की शोभा का अनुकरण कर रही हैं ॥३६॥

टिप्पणी—तीन रङ्गो (लाल, पीले और हरे) के सयोग से इन्द्रधनुष की उपमा दी गई है। उपमा अलङ्कार।

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्ब:।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचा नगाधिराज. ॥३७॥

अन्वय:—अथ तत्र इति कथयति नातिदूरात् पिहितोष्णरश्मिबिम्ब नगाधिराज: विगलितजलभारशुक्लभासाम् अम्बुमुचाम् निचय. इव ददृशे ॥३७॥

अर्थ—इस प्रकार अर्जुन से बातें करते हुए उस यक्ष ने समीप से, भगवान् भास्कर के मडल को छिपानेवाले पर्वतराज हिमालय को, जलभार से मुक्त होने के कारण श्वेत कान्तिवाले मेघो के समूह की भाँति देखा ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् हिमालय समीप आ गया। पुष्पिताग्रा छन्द। उपमा अलङ्कार।

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मी-
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः ॥३८॥

अन्वय:—अतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तम् तम् उपरि हिमानीगौरम् नगम् आसाद्य जिष्णुः व्यपगतमदरागस्य असितम् अधरवासः बिभ्रतः सीरपाणेः लक्ष्मीम् अनुसस्मार ॥३८॥

अर्थ—विशाल वनों की पंक्तियों से नीले वर्ण वाली घाटियों से युक्त, बर्फ की चट्टानों से ढके हुए शुभ्रवर्णों वाले हिमालय पर पहुँचकर अर्जुन ने, मदिरा के नशे से रहित कटि प्रदेश में नीलाम्बरधारी बलदेव जी की शोभा का स्मरण किया ॥३८॥

टिप्पणी—यहाँ मदिरा के नशे से रहित होने का तात्पर्य है प्रकृतिस्थ होना। मालिनी छन्द। स्मरणालङ्कार।

श्री भारवि कृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में चतुर्थ सर्ग समाप्त ॥४॥

# पांचवां सर्ग

[निम्नलिखित पन्द्रह श्लोकों द्वारा कवि हिमालय पर्वत का वर्णन कर रहा है]

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया ।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं न विलङ्घयितुं नभः ॥१॥

अन्वय :—अथ स मेरुमहीभृतः जयाय नु रभसया दिगन्तदिदृक्षया नु नभः विलङ्घयितुम् न समुदितम् उच्छ्रितम् हिमाचलम् अभिययौ ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन उस हिमालय पर्वत के सम्मुख पहुँच गए, जो या तो सुमेरु पर्वत को जीतने के लिए, अथवा अत्यन्त उत्कण्ठा से दिशाओं का अवसान देखने के लिए अथवा आकाश मंडल का उल्लंघन करने के लिए मानो उछलकर अत्यन्त ऊँचा उठ खड़ा हुआ है ॥१॥

टिप्पणी—गम्योत्प्रेक्षा । द्रुतविलंबित छन्द ।

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥२॥

अन्वय :—एकतः तपनमंडलदीपितम् अन्यतः सततनैशतमोवृतम् पुरः हसितभिन्नतमिस्रचयम् गजचर्मणा अनुगतम् शिवम् इव स्थितम् ॥२॥

अर्थ—एक ओर सूर्यमंडल से सुप्रकाशित तथा दूसरी ओर रात्रि के घोर अन्धकार से आवृत ( वह हिमालय ) सामने की ओर अपने मुक्त अट्टहास से अन्धकार को दूर करनेवाले तथा पिछले भाग को गजचर्म से विभूषित करनेवाले भगवान् शङ्कर के समान है ॥२॥

टिप्पणी—हिमालय इतना ऊँचा है कि इसके एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है। शिव जी भी ऐसे ही हैं। उनका मुखभाग तो उनके

अट्टहास से प्रकाशमान रहता है और पृष्ठ भाग गजचर्म से आवृत होने के कारण काले बर्फ का है। अतिशयोक्ति अलङ्कार।

क्षितिनभ सुरलोकनिवासिभि कृतनिकेतमदृष्टपरस्परै ।
प्रथयितु विभुतामभिनिर्मित प्रतिनिधि जगतामिव शम्भुना ॥३॥

अन्वय —अदृष्टपरस्परै क्षितिनभ सुरलोकनिवासिभि कृतनिकेतम् शम्भुना विभुताम् प्रथयितुम् अभिनिर्मितम् जगताम् प्रतिनिधिम् इव ॥३॥

अर्थ—परस्पर एक दूसरे को न देखनेवाले पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गलोक के निवासियो द्वारा निवास स्थान बनाये जाने के कारण (यह हिमालय) ऐसा मालूम पडता है कि मानो शङ्कर भगवान ने अपनी कीर्ति के प्रचार के लिए ससार के प्रतिनिधि के रूप मे इस का निर्माण किया है ॥३॥

टिप्पणी—यह शकर भगवान के निर्माण-कौशल का ही नमूना है कि तीनो लोको के निवासी यहाँ रहते हैं और कोई किसी का देख नही पाते। जो बात किसी दूसरे से नही हो सकती थी उसे ही तो शकर भगवान करते आ रहे हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

भुजगराजसितेन नभ श्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।
समुदित निचयेन तडित्वती लघयता शरदम्बुदसहतिम् ॥४॥

अन्वय —भुजगराजसितेन नभ श्रिता कनकराजिविराजितसानुना तडित्वतीम् शरदम्बुदसहतिम् लघयता निचयेन समुदितम् ॥४॥

अर्थ—शेषनाग के समान श्वेत शुभ्र वर्ण की गगनचुम्बी, सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित चट्टानो से युक्त होने के कारण यह हिमालय विद्युत् रेखाओं से युक्त शरदृतु के बादलो की पक्तियो को तिरस्कृत करनेवाले शिखरो से अत्यन्त ऊँचा (दिखाई पड रहा) है ॥४॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे यद्यपि शिखर शब्द नही आया है किन्तु प्रसगानुरोध से 'निचय' शब्द का ही 'पाषाण निचय' अर्थात् शिखर अर्थ ले लिया गया है। उपमा अलङ्कार।

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥५॥

अन्वयः—मणिमयूखचयाशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः उच्चशिलान्तरगोपुराः उदितपुष्पवना. पुरः इव भुवः दधतम् ॥५॥

अर्थ—वस्त्रों के समान मणियों के किरण समूहों से चमकते हुए देवागनाओं द्वारा सेवित गृहों के समान लताओं से युक्त, ऊँचे-ऊँचे पुर-द्वारों की भाँति शिलाखडों के मध्य भागों से युक्त एव पुष्पों से समृद्ध वनों से सुशोभित नगरों के समान भूमि भागों को यह हिमालय धारण किये हुए है ॥५॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्वविलम्बिभिरम्वुदैः ॥६॥

अन्वयः—अविरतोज्झितवारिविपाडुभिः अचिरद्युतितेजसा विरहितैः आरतनि स्वनैः पृथुनितम्वविलम्बिभिः अम्बुदैः उदितपक्षम् इव ॥६॥

अर्थ—निरन्तर वृष्टि करने से जलशून्य होने के कारण श्वेत वर्णों वाले, बिजली की चमक से विहीन, गर्जनरहित, एव विस्तृत नितम्व अर्थात् मध्य भाग मे फैले हुए बादलों से यह हिमालय ऐसा मालूम पड रहा है मानो इसके पक्ष फिर से उग आए हों ॥६॥

टिप्पणी—पौराणिक कथाओं के अनुसार पूर्वकाल मे सभी पर्वत पक्षधारी होते थे और जब जहाँ चाहते थे उडा करते थे। उनके इस कार्य से लोगों को सदा बडा भय बना रहता था कि न जाने कब कहाँ गिर पडें। देवताओं की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से सभी पर्वतों के पक्षों को काट डाला था। उत्प्रेक्षा अलकार।

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥७॥

*अन्वय —आकरिभि करिभि क्षतै समवतारसमै असमै तटै महिताम्भस* विविधकामहिता स्फुटसरोजवना जवना नदी दधतम् ॥७॥

अर्थ—( यह हिमालय ) आकर अर्थात खानो से उत्पन्न हाथियो द्वारा क्षत विक्षत, स्नानादि योग्य स्थलो पर सम एव अनुपम तटो से युक्त, प्रशस्त जलयुक्त होने के कारण विविध कामो के लिए हितकारी एव *विकसित कमलो के समूहो से सुशोभित वेगवती नदियों को धारण करने वाला* है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—*तात्पर्य यह है कि इस हिमालय के जिन भागो म रत्नो की* खानें हैं उनमे हाथियो की भी अधिकता है। वे हाथी नदिया के तटो को तोडा फोडा करते हैं। किन्तु फिर भी स्नान करने योग्य स्थलो पर वे तट बहुत सम हैं। नदियो मे कमल खिले रहते हैं तथा उनकी धारा बहुत तीव्र है । शब्दालकारो मे यमक और वृत्यनुप्रास तथा अर्थालकारो म अभ्युच्चय है ।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विपा द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिपु सानुपु ॥८॥

अन्वय —नवविनिद्रजपाकुसुमत्विपाम् द्युतिमताम् महाश्मनाम् निकरेण क्वचित् निचितकाञ्चनभित्तिपु विहितसान्ध्यमयूखम् इव ॥८॥

अर्थ—नूतन विकसित जपाकुसुम की कान्ति के समान कान्तिवाली चमकती हुई *पद्मराग मणिया के समूहो से कहीं-कहीं पर ( यह हिमालय )* सुवर्ण खचित भित्तिया वाली चोटियो पर मानो सायकाल के सूर्य की किरणों से प्रतिभासित-सा ( दिखाई पडता ) है ॥८॥

टिप्पणी—अर्थात् इस हिमालय की सुवर्णयुक्त भित्तिया म पद्मराग मणि की कान्ति जब पडती है तो वह सध्या काल की सूर्य किरणो की भाँति दिखाइ पडता है। उत्प्रेक्षा अलकार।

पृथुकदम्बकदम्बकराजित प्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघुतुपारतुपारजलश्च्युत धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥९॥

अन्वय.—पृथुकदम्बकदम्बकराजितम् ग्रथितमालतमालवनाकुलम् लघुतुषार-तुषारजलश्च्युतम् धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥६॥

अर्थ—विशाल कदम्बो के पुष्प समूहो से सुशोभित, पक्तियो मे लगे हुए तमालो के वनो से सकुलित, छोटे-छोटे हिमकणो की वृष्टि करता हुआ एव सर्वदा मद बरसाने वाले सुन्दरमुख गजराजो से युक्त ( यह हिमालय ) है ॥६॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुव. ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुह· ॥१०॥

अन्वय.—रहितरत्नचयान् शिलोच्चयान् न दधतम् अपलताभवना दरीभुवः न विपुलिनाम्बुरुहा. सरिद्वधू: न अकुसुमान् महीरुह· न ॥११॥

अर्थ—यह हिमालय रत्नराशिरहित कोई शिखर नही धारण करता, लता-गृहो से शून्य कोई गुफा नही धारण करता, मनोहर पुलिनो तथा कमलो से विहीन कोई सरिद्वधू ( नव वधू की भाँति नदियाँ ) नही धारण करता तथा विना पुष्पो का कोई वृक्ष नही धारण करता ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि हिमालय की चोटियाँ रत्नो से व्याप्त हैं, गुफाएँ लतागृहो से सुशोभित हैं, नदियाँ मनोहर तटो तथा कमलो से समन्वित हैं तथा वृक्ष पुष्पो से लदे हैं। नदियो की वधू के साथ उपमा देकर पुलिनो की उनके जघन स्थल तथा कमलो की उनके मुख से उपमा गम्य होती है ।

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणभृतामभितो वितत ततं दयितरम्यलतावकुलैः कुलैः ॥११॥

अन्वय.—अनीरशनै. घनै. अमरलोकवधूजघनै शनै. व्यथितसिन्धुम् दयित-रम्यलतावकुलैः फणभृताम् कुलैः अभित ततम् विततम् ॥११॥

अर्थ—( यह हिमालय ) सुन्दर मेखलाओ से सुशोभित, देवागना-समूहो के जघन-स्थलो से धीरे-धीरे क्षुब्ध धारावाली नदियो एव मनोहर लताओ एव बेमर मे प्रेमी सर्पों से चारो ओर व्याप्त एव विस्तृत है ॥११॥

टिप्पणी—यमक और वृत्यनुप्रास अलङ्कार।

समुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशद हिमपाण्डुभि ।
अविचल शिखरैरुपविभ्रत ध्वनितसूचितमम्बुमुचा चयम् ॥१२॥

अन्वय —अनेकमणिप्रभै हिमपाण्डुभि शिखरै ससुरचापम् अपपयोविशदम् अविचलम् ध्वनितसूचितम् अम्बुमुचाम् चयम् उपविभ्रतम् ॥१२॥

अर्थ—अनेक प्रकार की विचित्र मणिया की प्रभा से सुशोभित हिमशुभ्र शिखरो वाला ( यह हिमालय ) इन्द्र धनुष से युक्त, जलरहित होने के कारण श्वेत एव निश्चल (अतएव शिखर की शका कराने वाले किन्तु ) गर्जन स अपनी सूचना देने वाले मेघ-समूहा को धारण करता है ॥१२॥

टिप्पणी—जल न होने से मेघ श्वेत एव निश्चल हो जाते हैं, हिमालय के शिखर भी ऐसे ही हैं। मेघो म इन्द्रधनुप की रग बिरगी छटा होती है तो वह विचित्र मणियो की प्रभा के कारण हिमालय के शिखरा मे भी है। केवल गर्जन ऐसा है, जो शिखरा म नही है और इसी से दोनो म अन्तर मालूम पडता है। सन्देह अलङ्कार।

विकचवारिरुह दधत सर सकलहसगण शुचि मानसम।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलह सगण शुचिमानसम् ॥१३॥

अन्वय —विकचवारिरुहम् सकलहसगणम् शुचि मानसम् सर दधतम् कृतेर्ष्यया अगात्मजया सकलहम् सगणम् शुचिमानसम् शिवम् च (दधतम्) ॥१३॥

अर्थ—नित्य विकसित होने वाले कमला से सुशोभित तथा राजहसा स युक्त निर्मल मानस सरोवर को एव किसी कारण स कदाचित् कुपिता पार्वती के साथ कलह करने वाले अपने गणा समेत अविद्यादि दोषा से रहित भगवान् शकर को ( यह हिमालय ) धारण किये हुए है ॥१३॥

टिप्पणी—ससार मे अन्य पर्वतो से हिमालय की यही विलक्षणता है। यमक अलङ्कार।

ग्रहविमानगणानभितो दिव ज्वलयतौपधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षप त्रिपुरदाहमुमापतिसेविन ॥१४॥

अन्वय —दिवम् अभित ग्रहविमानगणान् ज्वलयता ओषधिजेन कृशानुना अनुक्षपम् उमापतिसेविन त्रिपुरदाहम् मुहु अनुस्मरयन्तम् ॥१४॥

अर्थ—यह हिमालय आकाशस्थित चन्द्र सूर्यादि ग्रहो एव देवयानो को सुप्रकाशित करते हुए अपनी औषधियो से उत्पन्न अग्नि द्वारा प्रत्येक रात्रि मे भगवान् शकर के सेवको अर्थात् गणो को त्रिपुरदाह का वारम्वार स्मरण दिलाता है ॥१४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इसमे अनेक प्रकार की दिव्य औषधियां हैं जिनसे ग्रहगण एव देवयान ही नही प्रकाशित होते वरन् रात्रियो मे त्रिपुरदाह जैसा दृश्य भी दिखाई पडता है । स्मरण अलङ्कार ।

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभि ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धता धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥१५॥

अन्वय —विततशीकरराशिभि उच्छ्रितै उपलरोधविवर्तिभि अम्बुभि धृतसितव्यजनाम् इव उन्नतसानुसमुद्धताम् जाह्नवीम् दधतम् ॥१५॥

अर्थ—यह हिमालय अपने उन्नत शिखरो पर गङ्गा जी को धारण करता है, जो पत्थरो की विशाल चट्टानो से धारा के रुक जाने पर जब उनके ऊपर से वहने लगती हैं तब ऊपर अनन्त जल-कणो के फौवारे की तरह छूटने से ऐसा मालूम होता है मानो वह श्वेत चामर धारण किये हुए हैं ॥१५॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानस ।
स जगदे वचन प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ॥१६॥

अन्वय —अथ धनाधिपते· अनुचरेण नगविलोकनविस्मितमानस स आदरात् प्रियम् वचनम् जगदे । हि मुखरता अवसरे विराजते ॥१६॥

अर्थ—तदनन्तर धनपति कुबेर के सेवक उस यक्ष ने हिमालय की अलौकिक छटा के अवलोकन से आश्चर्य-चकित अर्जुन से आदरपूर्वक यह प्रिय वचन कहे। वाचालता ( ऐसे ही ) उचित अवसरों पर शोभा देती है ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् मनुष्य उचित अवसर समझकर बिना पूछे भी यदि कुछ कह देता है तो उसकी शोभा होती है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसा विहन्तुम् ।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥१७॥

अन्वयः—हिमगौरैः शिरोभिः घनवर्त्म सहस्रधा कुर्वन् इव एषः अचलाधिपः विलोकितः प्रजानाम् अंहसां संहतिम् सहसा विहन्तुम् अलम् ॥१७॥

अर्थ—हिम के कारण शुभ्र शिखरों से मेघ-पथ को मानो सहस्रों भागों में विभक्त करता हुआ यह पर्वतराज हिमालय देखने मात्र से ही लोगों के पाप-समूहों को नष्ट करने में समर्थ है ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् इसे देखने मात्र से ही पाप नष्ट हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है। औपच्छन्दसिक वृत्त।

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् ॥१८॥

अन्वयः—इह असुतरम् अन्तरम् दुरधिगमैः आगमैः किञ्चिदेव सततम् वर्णयन्ति। ( किन्तु ) अतिविपिनम् दिग्व्यापिनम् अमुम् परम् पुरुषम् इव पद्मयोनिः एव वेद ॥१८॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत के दुस्तर अन्तर्वर्ती अर्थात् मध्य भाग को कठिनाई द्वारा चढ़ने योग्य वृक्षों से (उनपर चढ़कर पश्चात् में पुराणादि का अध्ययन कर) कुछ-कुछ बताया जा सकता है, किन्तु परमात्मा के समान इस अत्यन्त सघन एवं दिग्व्यापी पर्वतराज को सम्पूर्ण रीति से केवल पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्मा जी ही जानते हैं ॥१८॥

टिप्पणी—अर्थात् ब्रह्मा के सिवा कोई दूसरा इसके विस्तार स्वरूप को नहीं जानता। [illegible] वृत्त। उपमा और यमक अलङ्कारों की संसृष्टि।

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥१९॥

अन्वय.—अयम् रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैः उपलसज्जलजैः जलराशिभि. उपकान्तम् धृतिमती. अपि स्त्रियः सन्ततम् उत्सुकताम् नयति ॥१९॥

अर्थ—यह हिमालय अपने मनोहर पल्लवो एव पुष्पो से सुशोभित लता-मण्डपो तथा विकसित कमलो से समचित सरोवरो से अपने प्रियतम के समीप मे स्थित धैर्यशालिनी मानिनी रमणियो को भी निरन्तर उत्सुक बना देता है ॥१९॥

टिप्पणी—अर्थात् जो मानिनी रमणियाँ पहले अपने समीपस्थ प्रिय-तमो का भी अपमान करती थी वे भी उत्कण्ठित हो उठती हैं, उनकी मान-ग्रंथि इस हिमालय मे आने से छूट जाती है । अतिशयोक्ति अलकार । द्रुतविलबित छन्द ।

सुलभै. सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृताऽतिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥२०॥

अन्वय.—नयवता अयवता सदा सुलभैः निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः धनैः अमुना क्षितिभृता अतिभृता जगती जगती समतीत्य भाति ॥२०॥

अर्थ—नीतिपरायण एव भाग्यशाली पुरुषो के लिए सर्वदा सुलभ, एवं महापद्म आदि नव निधियो एव यक्षो के अधिपति कुवेर को भी प्रसन्न करनेवाली उत्कृष्ट धन-सम्पत्तियो के द्वारा इस पर्वतराज हिमालय से परिपूर्ण यह पृथ्वी स्वर्ग और पाताल-दोनो लोको को जीत कर सुशोभित होती है ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् जो सम्पत्तियाँ देवताओ एव यक्षो को भी दुर्लभ है, वे यहाँ है । नव निधियाँ ये हैं—

अस्त्री पद्मो (१) महापद्मो (२) शंखो (३) मकर कच्छपौ (४-५) ।
मुकुंदकुंदनीलाश्च ( ६-७-८ ) खर्वश्च ( ९ ) निधयो नव ॥

वाच्यलिंग और यमक की समृष्टि । प्रमिताक्षरा छन्द ।

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेन जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥२१॥

अन्वयः—मन्ये इदम् अखिलम् त्रिभुवनम् अपि अमुष्य गौरीगुरोः तुलाम् नैति यत् जनैः अविदितविभवः भवानीपतिः सदा एनम् अधिवसति ॥२१॥

अर्थ—मैं मानता हूँ कि यह सम्पूर्ण त्रैलोक्य भी इस पर्वतराज हिमालय की तुलना नहीं कर सकता क्योंकि जिनकी महिमा लोग नहीं जान पाते ऐसे भवानीपति भगवान शंकर सर्वदा इस पर्वत पर निवास करते हैं ॥२१॥

टिप्पणी—अर्थात् यह धर्मक्षेत्र है । प्रभावृत्त ।

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मण. पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥२२॥

अन्वय.—वीतजन्मजरसम् ब्रह्मणः परम् शुचि पदम् उपैतुम् इच्छताम् आगमात् इव तमोपहात् इतः भवच्छिदः मतयः सम्भवन्ति ॥२२॥

अर्थ—जिसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म और वृद्धता का भय बीत जाता है, ऐसे ब्रह्म के परमोत्कृष्ट पद अर्थात् मुक्ति को पाने के इच्छुक लोगों के लिए शास्त्रों की भाँति अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले इस हिमालय में संसार के कष्टों को नष्ट करने वाली बुद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् यह केवल भोगभूमि नहीं है प्रत्युत मुक्ति प्राप्त करने का पुण्य-स्थल भी है । रथोद्धता छन्द ।

दिव्यस्त्रीणा सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेष शय्याः ॥२३॥

अन्वय.—अस्मिन् सचरणलाक्षारागाः निपतितपुष्पापीडाः पीडाभाजः कुसुमचिताः दिव्यस्त्रीणाम् शय्याः रागायाते साशंसम् सुरतविशेषम् शंसन्ति ॥२३॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत में देवाङ्गनाओं के लिए पुष्पों से रचित शय्याएँ उनके चरणों में लगाये हुए महावर के रंग से चिह्नित गिरे हुए मुरझाये पुष्पों

से युक्त एव विमर्दित दशा मे अत्यन्त कामोद्रेक की अवस्था मे की गई सतृष्ण विशेष सुरत क्रियाओ की सूचना देती हैं ॥२३॥

टिप्पणी—धेनुकादि विपरीत बन्धो की सूचना मिलती है। जलधरमाला छन्द।

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम्।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमौषधय ॥२४॥

अन्वय — जगताम् महिते अत्र औषधय नयशालिनि अधिपतौ श्रिय इव गुणसम्पदा परम् महिमानम् समधिगम्य ज्वलितुम् न विरमन्ति ॥२४॥

अर्थ—इस ससार पूज्य हिमालय मे औषधियाँ नीतिमान राजा मे राज्य-लक्ष्मी की भाँति क्षेत्रीयगुणो की सम्पत्ति से ( राजा के पक्ष मे सन्ध्या, पूजन, तपणादि गुणो से ) अत्यन्त शक्ति प्राप्त कर अहर्निश प्रज्वलित रहने से विश्राम नही लेती ॥२४॥

टिप्पणी—अर्थात् रात दिन प्रज्वलित रहा करती हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सन्ध्या-पूजनादि गुणो से नीतिमान राजा के प्रताप की अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार से हिमालय के क्षेत्रीय गुणो से उस पर उगी औषधियाँ सदा प्रज्वलित रहती हैं। उपमा अलंकार प्रमिताक्षरा छन्द ॥२४॥

कुररीगण कृतरवस्तरव कुसुमानता सकमल कमलम्।
इव सिन्धवश्च वरणावरणा करिणा मुदे सनलदानलदा ॥२५॥

अन्वय —इह कुररीगण कृतरव तरव कुसुमानता कमलम् सकमलम् वरणावरणा सनलदानलदा सिन्धव करिणाम् मुदे "भवन्ति" ॥२५॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत म कुररी पक्षी बोल रहे हैं, वृक्ष पुष्पभार से नीचे को झुक गये हैं, जलाशय कमलो से सुशोभित हैं, वृक्षो के आवरण एव उशीरो से युक्त सन्ताप दूर करने वाली नदियाँ हाथियो का आनन्द बढाने वाली है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—वृक्षो के आवरण का तात्पर्य है, तटवर्ती सघन वृक्ष पक्तियो से आकीर्ण। यमक अलङ्कार प्रमिताक्षरा छन्द।

अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाता ।
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवं सुरसुंदरीभ्य ॥२८॥

अन्वय —अस्मिन् श्रीमत् लताभवनम् ओषधय प्रदीपा नवानि हरि-चन्दनपल्लवानि शय्या रतिश्रमनुद सरोजवाताश्च सुरसुन्दरीभ्य दिव स्मर्तुम न दिशन्ति ॥२८॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर शोभायुक्त लता मण्डप रूपी भवन, प्रकाश मान औषधि रूप के दीपक, नूतन कल्पवृक्ष के पल्लव रूपी शय्याएँ तथा सुरत के श्रम को दूर करने वाला कमल वन का वायु—ये सभी सामग्रियाँ देवागनाओ को स्वर्ग का स्मरण नही करने देती ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् देवागनाएँ यहाँ आकर स्वर्ग को भी भूल जाती हैं। उनके लिए यह स्वर्ग से बढ कर सुखदायी है। वसन्ततिलका छद। रूपक अलकार।

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या-
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनाया ।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्या
श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥२९॥

अन्वय —ईशार्थम् चिराय अम्भसि तपश्चरन्त्या यादोविलङ्घनविलोलवि-लोचनाया भवान्या अग्रकरम् भव श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण अत्र आलम्बत् ॥२९॥

अर्थ—भगवान् शकर को प्राप्त करने के लिए चिरकाल तक जल म तप-साधना म लगी हुई, क्षुद्र जल जन्तुओ के कूदने से चकित नेत्रो वाली पार्वती जी के पाणि को शकर जी न चूते हुए पसीने की बूँदो से युक्त अँगुलियो वाले अपन हाथ से इसी पर्वत पर ग्रहण किया था ॥२९॥

टिप्पणी—अर्थात् इसी हिमालय पर पार्वती जी का पाणिग्रहण हुआ था। वसन्ततिलका छन्द। भाविक अलकार।

येनापविद्धसलिल स्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।

व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥३०॥

अन्वयः—येन देवासुरैः अपविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा अम्बुनिधिः अमृतम् ममन्थे। अहिपतेः व्यावर्तनैः आहिताङ्कः सः अयम् मन्दराद्रिः खम् व्यालिखन् इव विभाति ॥३०॥

अर्थ—जिस (मन्दराचल) के द्वारा देवताओं और असुरों ने अमृत प्राप्ति के लिए समुद्र-मन्थन किया था और जिससे समुद्र का जल अत्यन्त क्षुब्ध हो गया था और पाताल लोक स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा था। मथानी की रस्सी भाँति सर्पराज वासुकि के लपेटने से चिह्नित वह यही मन्दराचल है जो आकाश-मण्डल का मानो भेदन-सा करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥३०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागारत्नैः।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ॥३१॥

अन्वयः—इह अशिशिररश्मे उस्रैः नीतोच्छ्रायम् आनीलाभैः रत्नैः विरचितपरभागा हंसश्येनी स्फटिकरजतभित्तिच्छाया अह्नः मध्येऽपि मुहुः ज्योत्स्नाशङ्काम् वितरति ॥३१॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर सूर्य की किरणों द्वारा विस्तारित तथा इन्द्रनील मणि की समीपता के कारण अत्यधिक उत्कर्ष अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त हंस के समान श्वेतवर्ण की स्फटिक एवं चाँदी की भित्तियाँ मध्याह्न काल में भी बारम्बार चाँदनी की शंका उत्पन्न करती हैं ॥३१॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलंकार।

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥३२॥

अन्वय —इह मृदु पतता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनी-जनभ्रूगतिकुटिलेषु पय सु विलासशालि नृत्यम् दधत इव ॥३२॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर मन्द-मन्द बहने वाली वायु द्वारा कम्पित कमलवृन्द विलासिनी रमणियो की कुटिल भौहो के समान तरगयुक्त जलराशि मे मानो मनोहर नृत्य-सा करते हुए दिखाई पडते है ॥३२॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार। पुष्पिताग्रा छन्द।

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलील-
माबद्धवेपथुरधीरविलोचनाया ।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वराया
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणि ॥३३॥

अन्वय —अस्मिन् पिनाकभृता अधीरविलोचनाया ईश्वराया विन्यस्तमङ्गल महौषधि आबद्धवेपथु पाणि स्रस्तोरग प्रतिसरेण करेण सलीलम् अगृह्यत ॥३३॥

अर्थ—इसी हिमालय पर्वत पर पिनाकपाणि भगवान् शकर ने (सर्पदर्शन से भयभीत होने के कारण) चकितलोचना पार्वती जी के यवाकुर आदि मागलिक उपकरणो से अलकृत कम्पित हाथ को लीलापूर्वक ग्रहण किया था और उस समय उनके हाथ से सर्परूप कौतुक-सूत्र नीचे की ओर खिसक पडा था ॥३३॥

टिप्पणी—पार्वती जी के पाणिग्रहण के समय सर्प शकर जी के हाथ की कलाई मे कौतुक-सूत्र की भाँति विराजमान् था। जिस समय शकर जी पार्वती जी का पाणि-ग्रहण करने लगे उस समय उनके हाथ का वह सर्प नीचे की ओर सरकने लगा। उस सर्प को देखकर पार्वती जी भयग्रस्त हो गयी और उनका हाथ काँपने लगा। वसन्ततिलका छन्द भाविक अलकार।

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यै-
स्तेजोभि शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्न ।
उस्राणा व्यभिचरतीव सप्तसप्ते
पर्यस्यन्निव निचय सहस्रसख्याम्। ३४॥

अवन्य —इह घनपदवीम् क्रामद्भि अनेकसख्यै शुचिमणिजन्मभि तेजोभि विभिन्न पर्यस्यद् सप्तसप्ते उस्राणाम निचय सहस्रसख्याम् व्यभिचरति इव ॥३४॥

अर्थ—इस हिमालय पर्वत पर आकाश मण्डल मे व्याप्त बहुसख्यक स्फटिक मणियो से उत्पन्न किरण-जालो से मिश्रित होने के कारण फैलता हुआ सूर्य की किरणो का समूह मानो अपनी नियत सहस्र की सख्या का अतिक्रमण-सा करता है ॥३४॥

टिप्पणी—हिमालय पर्वत पर स्फटिक की सहस्र किरणें नीचे की ओर से आकाश मे चमकती रहती हैं, ऊपर से सूर्य को किरणें चमकती हैं। दोनो का जब मेल हो जाता है तो ऐसा मालूम होता है मानो सूर्य की किरणो की सख्या अपनी नियत सहस्र-सख्या से ऊपर बढ गई है। उत्प्रेक्षा अलकार।

व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुर पुरा विजेतुर्धृतये धनाधिप ।
स एप कैलास उपान्तसर्पिण करोत्यकालास्तमय विवस्वत ॥३५॥

अन्वय —यस्मिन् धनाधिप पुराम् विजेतु धृतये उच्चगोपुरम् पुरम् व्यधत्त। स एप कैलास उपान्तसर्पिण विवस्वत अकाले अस्तमयम् करोति ॥३५॥

अर्थ—जिस कैलास पर्वत पर कुबेर ने त्रिपुरविजयी भगवान् शकर के सन्तोष के लिए उन्नत गोपुरो (फाटको) से समलकृत अलकापुरी का निर्माण किया था, यह वही कैलास है जो अपनी सीमा मे सचरण करनेवाले सूर्य नारायण को समय के पहले ही मानो अस्त-सा बना देता है ॥३५॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति से उत्थापित गम्योत्प्रेक्षा अलकार। वशस्थ वृत्त।

नानारत्नज्योतिषा सन्निपातैश्छन्नेष्वत सानु वप्रान्तरेषु ।
बद्धाबद्धा भित्तिशङ्कामनुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहंति ॥३६॥

अन्वय —अमुष्मिन् अन्त सानु नानारत्नज्योतिषाम् सन्निपातै छन्नेषु वप्रान्तरेषु बद्धाबद्धाम् भित्तिशङ्काम् आवान् आवान् मातरिश्वा निहन्ति ॥३६॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत के शिखरो पर विविध प्रकार के रत्नों के प्रभापुञ्ज से आच्छादित होने पर उनके वप्रान्तर अर्थात् कगारो के बीच के स्थल भाग

सुदृढ दीवाल की शंका उत्पन्न करते हैं, किन्तु वारम्बार पवन का आगमन उस शङ्का को निवृत्त कर देता है ॥६३॥

टिप्पणी—रत्नो के प्रभापुजो से व्याप्त होने के कारण शिखर के गह्वर या खड्ड भी सुदृढ दीवाल की शका उत्पन्न करते हैं किन्तु जब हवा का झोका वारम्वार चलता है और उनका अवरोध नही होता तो शका दूर हो जाती है, क्योंकि यदि दीवाल रहती तो हवा रुक जाती। निश्चयान्त सन्देह अलकार। शालिनी छन्द।

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्य·
श्यामीभवन्त्यनुदिन नलिनवनानि।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तवकाचिताना
शाखाभृता परिणमन्ति न पल्लवानि ॥३७॥

अन्वयः—अस्मिन् शाद्वलेभ्यः रम्या नवद्युतिः न अपैति। नलिनीवनानि अनुदिनम् श्यामीभवन्ति। विचित्रकुसुमस्तवकाचितानाम् शाखाभृताम् पल्लवानि न परिणमन्ति ॥३७॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत पर नूतन घासो से व्याप्त प्रदेशो की मनोहर नूतन शोभा कभी दूर नही होती, नील कमलो के वन प्रतिदिन नूतन श्यामलता धारण करते हैं, और रग-विरगे पुष्पो के गुच्छो से सुशोभित वृक्षो के पल्लव कभी पुराने नही होते ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थात् यहाँ सभी वस्तुएँ सदा नूतन बनी रहती हैं। किसी में पुरानापन नही आता। पर्यायोक्ति अलकार। वसन्ततिलका छन्द।

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ॥३८॥

अन्वयः—इह परिसरविषयेषु मृगीभिः हरिततृणोद्गमशङ्कया लीढमुक्ता नवशुककोमलाः मणीनाम् भासः रविकरसवलिताः फलन्ति ॥३८॥

अर्थ—इस कैलास पर्वत के इर्द-गिर्द के प्रदेशों मे हरिणियो द्वारा नीले तृणों के अकुर की आशङ्का से पहले चाट कर पीछे छोड दी गयी, नूतन शुक

के पखो के समान हरे रग की मरकतमणियों की कान्तियाँ सूर्य-किरणो से मिश्रित होकर अधिकाधिक प्रकाशयुक्त हो जाती हैं ॥३८॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार।

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्धूत सरसिजसम्भव पराग ।
वात्याभिर्वियति विवर्तित समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥३९॥

अन्वय—वात्याभि उद्धूत अमुष्मात् उत्फुल्लस्थलनलिनीवनात् वियति समन्तात् विवर्तित सरसिजसम्भव पराग कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् आधत्ते ॥३९॥

अर्थ—इस पर्वत मे बवडरो द्वारा उडाये जाने पर इस दिखाई पडनेवाले विकसित स्थलकमलिनीवन से उडता हुआ चारो ओर आकाश मे मडलाकार रूप मे फैला हुआ कमलपराग सुवर्णमय छत्र की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—निदर्शना अलकार।

इह सनियमयो सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा ।
कथयति शिवयो शरीरयोग विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥४०॥

अन्वय—इह उषसि सुरापगायाम सयावकसव्यपादरेखा विषमपदा पदवी विवर्तनेषु सनियमयो शिवयो शरीरयोगम् कथयति ॥४०॥

अर्थ—इस पर्वत मे उषाकाल के समान सुरनदी गगा के तट पर लाक्षा अथात् महावर के रग से रँगे हुए बायें चरण की रेखा से चिन्हित तथा छोटी-बड़ी विषम पद-पक्तियो से युक्त परिक्रमा माग सन्ध्यावन्दनादि नियमो म लगे हुए उमाशकर के अर्धनारीश्वर रूप का परिचय देता है ॥ ४० ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इस कैलास पर्वत पर अत्यन्त प्रात काल मे भगवान अर्द्धनारीश्वर उमाशकर गङ्गा तट पर सन्ध्यावन्दनादि करत हैं, जिससे

उनके वाएँ पैर तथा दाहिने पैर की छोटी-बडी पद-पक्तियाँ यहाँ सुशोभित होती हैं। अर्धनारीश्वर रूप मे पार्वती का पैर बायाँ होता है, जिसमे महावर लगे रहते हैं और वह दाहिने पैर की अपेक्षा छोटा भी होता है। अर्थात् शिव-पार्वती का यह विहार-स्थल है। सन्ध्यावन्दनादि के क्षणो मे भी वे परस्पर विरह नहीं सहन कर सकते। काव्यलिंग अलकार।

सम्मूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालै-
रालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम्।
धर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्ना-
मादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥४१॥

अन्वय.—इह रजतभित्तिमयूखजालैः सम्मूर्च्छताम् आलोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम् धर्मद्युते धाम्नाम् आदर्शमण्डलनिभानि पटलानि मुहुः समुल्लसन्ति ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस पर्वत पर चांदी की भित्तियो के किरण समूहो से बहुलता को प्राप्त एव चचल वृक्षो एव लताओ के मध्यभागो से निकली हुई सूर्य की किरणो के दर्पण-बिम्ब के समान मडल बारम्वार प्रस्फुटित होते हैं॥ ४१ ॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्ति-
र्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा
कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥४२॥

अन्वयः—शुक्लैः मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिः वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेह गणभर्तु उक्षा वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्का कुर्वन् अमुष्य शृङ्गाणि भजते ॥ ४२ ॥

अर्थ—श्वेत किरण-समूहों से व्याप्त शरीर, सीगो से मिट्टी कुरेदने की वप्रक्रीडा मे मस्त होने के कारण अपने विशाल शरीर को समेटे हुए, प्रमथा-

धिपति शंकर का वाहनभूत नन्दिकेश्कर युवतियों के मन में चन्द्रमा की भ्रांति उत्पन्न करते हुए उस पर्वत के शिखरों का आश्रय लेता है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—सन्देह, भ्रान्तिमान तथा काव्यलिंग अलंकारों का अङ्गागी भाव से संकर ।

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदा जलधरपटले ।
खंडितविग्रहं वलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥४३॥

अन्वयः—इह विविधाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति लघुनि क्षीणपयसि ( अत एव ) भिदा उपेयुषि जलधरपटले शनकैः लब्धजन्म ( अतएव ) खंडितविग्रहम् वलभिदः धनुः पूरयितुं विभवः भवन्ति ॥४३॥

अर्थ—इस पर्वत में शिखरों की मणिकांतियाँ इस शरदऋतु में क्षीण जल वाले एवं छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त मेघमंडलों में किसी प्रकार से उत्पन्न होने के कारण छिन्न अथवा अस्पष्ट स्वरूप वाले इन्द्रधनुष की पूर्ति करने में समर्थ होती हैं ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—अर्थात् छोटे-छोटे श्वेत बादलों में मणियों की प्रभाएँ चमक कर इन्द्रधनुष की पूर्ति कर देती हैं । अतिशयोक्ति अलंकार । वंश पत्र पतित छन्द ।

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥४४॥

अन्वय.—इह शम्भोः इन्दुलेखा स्नपितनवलतातरुप्रवालैः अमृतलवस्रुतिशालिभिः मयूखैः सततम् असितयामिनीषु वनान्तम् अमलयति ॥ ४४ ॥

अर्थ—इस पर्वत में भगवान् शंकर के भाल में स्थित चन्द्रमा की कान्ति नूतन लताओं और वृक्षों के पल्लवों को सींचनेवाली एवं अमृत-विन्दु बरसानेवाली अपनी किरणों से सर्वदा कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी वन प्रदेशों को धवल बनाती रहती है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—अन्य पर्वतो मे यह नही है, यह तो इसकी ही विशेषता है। व्यतिरेक अलकार की व्यजना।

क्षिपति योऽनुवन विततां बृहद्‌बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम्।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधर ॥४५॥

अन्वय —य अनुवन वितता रौचनकी रुचम् बृहद्‌बृहतिका इव क्षिपति। अनेकहिरण्मयकन्दर. अयम तव पितु दयित जगतीधर ॥४५॥

अर्थ—जो पर्वत विस्तृत चादर की भाँति प्रत्येक वन मे अपनी सुवर्णमयी कान्ति प्रसारित कर रहा है, अनेक सुवर्णमयी कन्दराओ से युक्त वही यह सामने दिखाई पडने वाला तुम्हारे पिता इन्द्र का सबसे प्रिय पर्वत है ॥४५॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारी तपस्या का पुण्य-स्थल इन्द्रनील पर्वत अब वही सामने दिखाई पड रहा है जिसकी सुवर्णमयी छाया चारो ओर के वन्य-प्रदेशो पर सुनहली चादर की भाँति पड रही है। उपमा अलकार।

सक्ति जवादपनयत्यनिले लताना
वैरोचनैर्द्विगुणिता. सहसा मयूखै।
रोधोभुवा मुहुरमुत्र हिरण्मयीना
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥४६॥

अन्वय —अमुत्र अनिले जवात् लताना सक्ति अपनयति सति सहसा वैरोचनै मयूखै द्विगुणिता हिरण्यमयीनाम् रोधोभुवा भास मुहु तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस इन्द्रनील पर्वत पर वायु द्वारा वेगपूर्वक लताओ के परस्पर सयोग को छुडा देने पर उसी क्षण सूर्य की किरणा से द्विगुणित कान्ति प्राप्त करने-वाली सुवर्णमयी तटवर्ती भूमि की प्रभाएँ बारम्बार बिजली चमकने की शोभा का अनुकरण करने लगती हैं ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

कपणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥४७॥

अन्वयः—इह कपणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः मदस्नपितैः हरिचन्दनैः सुरगजस्य गत अनुमीयते ॥४७॥

अर्थ—इस पर्वत पर ऐरावत के मद से सिंचित उन हरिचन्दनो के द्वारा ऐरावत का आना-जाना मालूम हो जाता है, जो ऐरावत के गण्डस्थल के खुजलाने के कारण होनेवाले कम्पन से बड़े-बड़े भीषण सर्पों से रहित हो जाते हैं, तथा क्षणभर के लिए बड़े-बड़े मतवाले गजराज भी जिन्हे छोड़कर भाग जाते हैं ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् इसी पर्वत पर हरिचन्दनो के वे वृक्ष हैं, जिनपर बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं तथा जिनके बीच देवराज इन्द्र का वाहन क्रीडा करता है। किन्तु जबकभी ऐरावत अपने गण्डस्थल को खुजलाने के लिए किसी हरिचन्दन पर धक्का लगाता है तो वे भीषण सर्प भाग जाते हैं तथा ऐरावत के मद की विचित्र सुगन्ध से अन्यान्य मतवाले गजराज भी भाग जाते हैं। काव्यलिंग अलकार।

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥४॥

अन्वयः—इह जलदजालघनैः असिताश्मनाम् मरीचिभिः उपहतप्रचया अदीपितकन्दरा विवस्वतः दीप्तिः तिमिरसवलिता इव भवति ॥४८॥

अर्थ—इस पर्वत पर काले मेघ समूहों की भाँति सघन इन्द्रनील मणियों की किरणों से सामना होने पर सूर्य की किरणों का तेज-पुञ्ज मलिन हो जाता है और कन्दराएँ प्रकाश से विहीन हो जाती हैं, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो सूर्य की कान्ति अन्धकार से मिश्रित हो गई है ॥४८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्यहतप्रमादः ।

प्रायेण सत्यपिहितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥४६॥

अन्वय —इह, भव्य भवन्नपि मुने शासनेन क्षात्रे पथि स्थित हतप्रमाद सन् तपस्य हि प्रायेण हितार्थकरे विधौ सति अन्तरायैं विना श्रेयांसि लब्धुमसुखानि ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस इन्द्रनील पर्वत पर शान्त स्वभाव होने पर भी असावधानी से रहित और क्षत्रिय धर्म में स्थित अर्थात् शस्त्र ग्रहण कर महर्षि वेदव्यास के बताये हुए नियमों के अनुसार आप तपस्या करें। क्योंकि प्राय हितकारी उपायों के होते हुए भी विना विघ्न-बाधा के कल्याण की प्राप्ति असम्भव होती है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अर्थात् अकाट्य वैर रखनेवाले सर्वत्र होते है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वा
सन्तापे दिशतु शिव शिवा प्रसक्तिम्।
रक्षन्तस्तपसि बल च लोकपाला
कल्याणीमधिकफला क्रिया क्रियासु ॥५०॥

अन्वय —तव इन्द्रियाश्वा अपथहृत मा भूवन्। सन्तापे शिव शिवाम् प्रसक्तिम् दिशतु। लोकपाला तपसि बलम् रक्षन्त कल्याणीम् क्रियाम् अधिक फलाम् क्रियासु ॥५०॥

अर्थ—तुम्हारे इन्द्रिय-रूपी अश्वगण तुम्हें कुमार्ग मे न ले जायें, तपस्या मे कोई क्लेश उपस्थित होने पर भगवान् शकर आप को पर्याप्त उत्साह शक्ति प्रदान करें। लोकपालगण तप साधना मे तुम्हारे बल की रक्षा करते हुए इस कल्याणदायी अनुष्ठान को अधिकाधिक फल देनेवाला बनायें ॥५०॥

टिप्पणी—प्रथम चरण में रूपक अलकार।

इत्युक्त्वा सपदि हित प्रिय प्रियार्हे
धाम स्व गतवति राजराजभृत्ये।

सोत्कठ किमपि पृथासुत प्रदध्यौ
सधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोग ॥५१॥

अन्वय —प्रियार्हे राजराजभृत्ये हितम् प्रियम् इति उक्त्वा सपदि स्वम् धाम गतवति पृथासुत सोत्कठम् किमपि प्रदध्यौ। तथाहि सद्वियोग भृशम् अरतिम् सन्धत्ते ॥५१॥

अर्थ—प्रेमपात्र कुबेर-सेवक यक्ष के इस प्रकार कल्याणयुक्त एव प्रिय वचन कहकर शीघ्रही अपने निवास-स्थान को चले जाने के अनन्तर कुन्ती-पुत्र अर्जुन कुछ उत्कठित-से होकर सोचने लगे। क्यो न हो, सज्जनो का वियोग अत्यन्त दु खदायी होता ही है ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

तमनतिशयनीय सर्वत सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशसित सः
स्वमिव पुरुषकार शैलमभ्याससाद ॥५२॥

अन्वय —अकृशलक्ष्मी स सर्वत सारयोगात् अनतिशयनीयम् अनेकेनाङ्कभाजा फलेन इव अविरहितम् अकृशम् चेतसाशसितम् शैलम् स्वम् पुरुषकारम् इव अभ्याससाद ॥५२॥

अर्थ—परिपूर्ण शोभा से समलकृत उस अर्जुन ने सर्व प्रकार से बल प्रयोग करने पर भी अनतिक्रमणीय अर्थात् दुर्जेय एव शीघ्र पूरे होने वाले अनेक प्रकार के सत्फलो से युक्त, तथा चिरकाल से पाने के लिए मन मे अभिलषित एव विशाल उस इन्द्रकील पर्वत पर अपने पुरुषार्थ की भाँति आश्रय प्राप्त किया ॥५२॥

टिप्पणी—जो-जो विशेषण पर्वत के लिए, हैं, वही सब अर्जुन के पुरुषार्थ के लिए भी हैं। उपमा अलङ्कार। मालिनी छन्द।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥५॥

# छठाँ सर्ग

रुचिराकृति कनकसानुमयो परम पुनामिव पति पतताम् ।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभित स तमारुरोह पुरुहूतसुत ॥१॥

अन्वय —अथ रुचिराकृति धृतसत्पथ स पुरुहूतसुत कनकसानुम् तम् त्रिपथगाम् अभित परमः पुमान् पतताम् पतिम् इव आरुरोह ॥१॥

अथ—इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचने के अनन्तर मनोहर शरीरधारी तथा सन्मार्गगामी इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सुवर्णमय शिखरों से युक्त उस इन्द्रकील पर्वत पर त्रिपथगा गङ्गा के सामने की ओर स होकर इस प्रकार आरोहण किया जिस प्रकार से भगवान विष्णु अपने वाहन पक्षिराज गरुड़ पर आरूढ़ होते हैं ॥१॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार। प्रमिताक्षरा वृत्त।

तमनिन्द्यवन्दिन इवेन्द्रसुत विहितालिनिक्वणजयध्वनय ।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहोऽवचकरु कुसुमै ॥२॥

अन्वय—विहितालिनिक्वणजयध्वनय पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुह अनिन्द्यवन्दिन इव तम् इन्द्रसुतम् कुसुमै अवचकरु ॥२॥

अर्थ—जय-जयकार की तरह भ्रमरों के गुंजन से युक्त, वायु द्वारा प्रकम्पित होने के कारण डालियों के टेढ़े मेढ़े अग्रभागों वाले वृक्षों ने अच्छे स्तुतिपाठकों की भाँति उस इन्द्रपुत्र अर्जुन के ऊपर पुष्पों की वृष्टि की ॥२॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिद ।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखा सुहृद सखायमिव त मरुत ॥३॥

अन्वय —अवधूतपङ्कजपरागकण तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिद सुखा. मरुतः तम् सुहृद सखायम् इव अभिमुखम् एत्य परिरेभिरे ॥३॥

अर्थ—कमलो के पराग-कणो को बिखेरते हुए, छोटी-छोटी गङ्गाजल की लहरियो का सम्पर्क करते हुए शीतल सुखदायी वायु ने अर्जुन को अपने सन्मित्र की भाँति सम्मुख आकर परिरम्भण (अक मिलन) किया ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् अनुकूल शीतल मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी। मित्र का भी सामने से आकर परिरम्भण किया जाता है। उपमा अलङ्कार।

उदितोपलस्खलनसवलिता स्फुटहससारसविरावयुज. ।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृता ध्वनय प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ॥४॥

अन्वय—उदितोपलस्खलनसवलिता स्फुटहससारसविरावयुज. अनुवप्रमपाम् ध्वनय अस्य माङ्गलिकतूर्यकृताम् मुदम् प्रतेनु ॥४॥

अर्थ—ऊँचे-ऊँचे पत्थरो की शिलाओ से टकरा कर चूर-चूर, होने वाले हस और सारस के गुजन से युक्त नीचे गिरते हुए जल की कल-कल ध्वनियो ने अर्जुन के लिए मङ्गलसूचक तुरही आदि के शब्दो से होनेवाली प्रसन्नता का विस्तार किया ॥४॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुर सुरसरित्पयसाम्।
स ददर्श वेतसवनाचरिता प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥५॥

अन्वय —स पुर अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ बलीयसि सुरसरित्पयसाम् निचये वेतसवनाचरिताम् समृद्धिकरीम् प्रणतिम् ददर्श ॥५॥

अर्थ—अर्जुन ने ऊँचे-ऊँचे देवदारु के वृक्षो को उखाड फेंकने वाले प्रखर वेगयुक्त सुरसरी गङ्गा के जल-प्रवाह मे बेंत के वनो की कल्याणदायी विनम्रता को देखा ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् एक ओर तो ऊँचे ऊँचे देवदारु के वृक्षो को गङ्गा की प्रखर धारा उखाड फेंकती थी किन्तु विनम्रतायुक्त बेंत के वन उसी में आनद-

पूर्वक भूम रहे थे। जो लोग गर्वोन्मत होकर अपना शिर व्यर्थ ही ऊँचा उठाकर अकडते फिरते हैं उनका गर्व चूर्ण हुए बिना नही रहता है, किन्तु विनम्रता से व्यवहार करने वाले सर्वत्र कल्याण प्राप्त करते हैं, आपत्तियाँ उन्हे नही सता सकती। विनम्रता कितनी हितकारिणी है, यह बात रेंतो के उदाहरण से अर्जुन के ध्यान मे आयी।

प्रबभूव नालमवलोकयितु परित सरोजरजसारुणितम्।
सरिदुत्तरीयमिव सहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहसकुलम् ॥६॥

अन्वय —स परित सरोजरजसा रुणितम् सहतिमत् तरङ्गि, सरिदुत्तरीयम् इव कलहसकुलम् अवलोकयितुम् अलम् न प्रबभूव ॥६॥

अर्थ—अर्जुन चारो ओर से कमल-पराग से लाल रग मे रँगे हुए, बिल्कुल एक दूसरे से सटे हुए, जलतरगो के समान शोभायमान, गगा के स्तनो को ढँकने वाली ओढनी की भाँति दिखाई पडनेवाली राजहसो की पक्तियो को बडी देर तक देखने मे समर्थ नही हुए ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् उनका सौन्दर्य अत्यधिक उत्तेजक था। अर्जुन विचलित होने लगे।

दधति क्षती परिणतद्विरदे मुदितालियोपिति मदस्त्रुतिभि ।
अधिका स रोधसि बबन्ध धृति महते रुजन्नपि गुणाय महान् ॥७॥

अन्वय —स क्षती दधति परिणतद्विरदे मदस्रुतिभि मुदितालियोषिति, रोधसि अधिकाम् धृतिम् बबन्ध। तथाहि महान् रुजनपि महते गुणाय ॥७॥

अर्थ—अर्जुन ने मतवाले हाथियो के तिरछे दन्तप्रहारो की चोटो को धारण करने वाले, मद के चूने के कारण उसकी सुगन्ध से लुब्ध प्रमुदित एव भ्रमरियो से युक्त गङ्गातट मे अत्यधिक प्रीति प्रकट की। क्यो न हो, महान् लोग पीडा पहुँचा कर भी पीडित को उत्कर्ष की प्राप्ति करा ही देते है ॥७॥

टिप्पणी—मतवाले हाथियो के दन्तप्रहारो से गङ्गातट क्षत-विक्षत हो गया था, उसकी शोभा नष्ट हो गई थी, किन्तु हाथियो के मद की धारा उनमे

बही थी, अत: वहाँ मद-सुगन्ध-लोभी भ्रमरियाँ गुञ्जार कर रही थी, जिससे अर्जुन को बडी प्रसन्नता हुई। क्यो न होती, महान् लोगो का विरोध भी उत्कर्ष का कारण होता है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

अनुहेमवप्रमरुणै: समतां गतमूर्मिभि: सहचर पृथुभि: ।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिननन्द रुतै: ।।८।।

अन्वय.—अनुहेमवप्रम् अरुणै पृथुभि: ऊर्मिभि: समताम् गतम् सहचरम् करुणै: रुतै: अनुबध्नतीम् रथाङ्गनामवनिताम् अभिननन्द ।।८।।

अर्थ—अर्जुन ने (इन्द्रकील गिरि के) सुवर्णमय शिखर के समीप, (शिखर के स्वर्णिम कान्ति से युक्त होने के कारण) लाल रग की विशाल तरगो की समानता को प्राप्त अपने प्रिय सहचर को अपने करुण स्वरों मे खोजती हुई चक्रवाकी का अभिनन्दन किया ।।८।।

टिप्पणी—सुवर्णमय शिखर की समीपता के कारण गंगा की बडी-बडी लहरें लाल रग के चक्रवाको के समान दिखाई पड रही थी। उनमे से अपने प्यारे चक्रवाक को अपने करुण स्वर से कोई चक्रवाकी ढूँढना चाहती थी। वह अर्जुन को बहुत पसन्द आई, उन्होंने उसके इस अत्यधिक प्रेम की मन मे प्रशसा की। तद्गुण और भ्रान्तिमान अलङ्कार का अङ्गागी भाव से संकर।

सितवाजिने निजगदु: रुचयश्चलवीचिरागरचनापटव. ।
मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितं मनोगतमिवाकृतय: ।।९।।

अन्वय.—चलवीचिरागरचनापटव. रुचय: अम्भसि निमग्नमपि मणिजालम् मनोगतम् स्फुरितम् इव आकृतय सितवाजिने निजगदु ।।९।।

अर्थ—चचल तरङ्गों को अपने रग मे रँग देने की रचना मे निपुण मणि-कान्तियों ने जल की तह मे डूबे हुए मणियों के समूहों के होने की सूचना, भ्रूभङ्ग आदि वाह्य विकारो द्वारा मन के क्रोधादि विकारों की भाँति अर्जुन को दे दी ।।९।।

टिप्पणी—गङ्गा की निर्मल शुभ्र जल धारा की तह मे मणियाँ पडी थीं, उनकी कान्तियाँ ऊपर चचल जलतरगो मे भी सक्रान्त हो रही थी और इस

प्रकार अर्जुन को ऊपर की लहरो को देखकर ही उनकी सूचना मिल गयी थी। बाह्य आकृति से मनोगत विकारो की सूचना चतुर लोग पा ही जाते हैं। उपमा अलङ्कार।

उपलाहतोद्धततरङ्गधृत जविना विधूतवितत मरुता।
ददर्शकेतकशिखाविशद सरित प्रहासमिव फेनमपाम् ॥१०॥

अन्वय —स उपलाहतोद्धतनरङ्गधृतम् जविना मरुता विधूतविततम् केतकशिखाविशदम् अपाम् सरित प्रहासम इव ददर्श ॥१०॥

अर्थ—अर्जुन ने बडे-बडे पत्थरो से टकराने के कारण चचल तरगो से युक्त, तीव्र वायु के झोको से प्रकम्पित एव खड-खड मे विशीर्ण, केतकी के शिखाग्र की भाँति श्वेत जल के फेनो को मानो गङ्गा के हास्य के समान देखा ॥१०॥

टिप्पणी—हास्य भी श्वेत ही वर्णित होता है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

बहु बर्हिचन्द्रकनिभ विदधे धृतिमस्य दानपयसा पटलम्।
अवगाढमीक्षितुमिवेभपति विकसद्विलोचनशत सरित ॥११॥

अन्वय —बर्हिचन्द्रकनिभम् बहु दानपयसाम् पटलम् अवगाढम् इभपतिम् ईक्षितुम् विकसत् सरित विलोचनशतम् अस्य धृतिम् विदध ॥११॥

अर्थ—मयूरों की पुच्छो के चन्द्रक के समान दिखाई पडने वाले अनेक मदजल के बिन्दुओ ने जल के भीतर डूब हुए गजराज को देखने के लिए मानो नदी के खुले हुए सैकडो नेत्रो के समान अर्जुन मे प्रीति उत्पन्न की ॥११॥

टिप्पणी—गजराज तो पानी मे डूब कर आनन्द ले रहा था और उसके मदजल के बिन्दु धारा के ऊपर तेल की भाँति तैर रहे थे, जो रग बिरगे होकर मयूरो के पुच्छो मे रहनेवाले चन्द्रको की भाँति दिखाई पड रहे थे। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है, मानो नदी अपने सैकडा नेत्रो को खोलकर उस गजराज को ढूँढना चाहती है कि वह क्या हो गया ? अर्जुन को यह दृश्य परम प्रीतिकर लगा। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे ।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधू ॥१२॥

अन्वय —सरोरुहदृशा प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी, पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दु इव शुक्तिवधू पुलिने ददृशे ॥१२॥

अर्थ—कमलनयन अर्जुन ने स्फुटित होने के कारण ( नींद से जागने के कारण जम्भाई लेने से ) खुले मुखवाली, अतएव स्वच्छमुक्ता की कान्तियों का प्रसार करती हुई, एवं मानो जलविन्दु गिराती हुई सीपी रूपिणी वधू को तटवर्ती प्रदेश पर देखा ॥१२॥

टिप्पणी—जैसे कोई नववधू निद्रा से जागकर अपनी शैया पर जँभाई लेती हुई मुँह बाती है, अपने शुभ्र दाँतों की किरणों का प्रसार करती है तथा आनन्दाश्रु बहाती है, उसी प्रकार नदी के तटवर्ती प्रदेश पर यह सीपी पड़ी हुई थी। उसका मुँह चटक गया था और उसमें से मोती की कान्ति बाहर झलक रही थी तथा जलबिन्दु चू रहे थे। उत्प्रेक्षा अलंकार।

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटपस्तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः ।
स्मरदायिनः स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृतः ॥१३॥

अन्वय —अप्सु शुचिः तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः विद्रुमलताविटपः स्मरदायिनः दशनांशुभृतः दयिताधरस्य भृशम् स्मरयति स्म ॥१३॥

अर्थ—( नदी की ) जलराशि में स्वच्छ छोटे-छोटे एवं सघन फेन के टुकड़ों के साथ मिले हुए प्रवालतता के पल्लव, कामोत्तेजना देने वाले, स्वच्छ दाँतों की किरणों से मनोहर प्रियतमा के अधरों का अत्यधिक स्मरण करा रहे थे ॥ १३ ॥

टिप्पणी—स्मरण अलङ्कार ।

उपलभ्य चञ्चलतरङ्गधृतं मदगन्धमुत्थितवतां पयसः ।
प्रतिदन्तिनामिव स सम्बुबुधे करियादसामभिमुखान्करिणः ॥१४॥

अन्नय —स चञ्चलतरङ्गधृतम् मदगन्धम् उपलभ्य पयस उत्थितवताम् करियादसाम् प्रतिदन्तिनाम् इव अभिमुखान् करिण सम्बुबुधे ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन ने चचल लहरा पर तैरते हुए मदगन्ध को सूंघकर जल की सतह से ऊपर निकले हुए गजाकृति जलजन्तुओ ( जलहस्ती ) को अपना प्रतिपक्षी हाथी समझ कर उन पर आक्रमण करने के लिए तत्पर हाथियो को देखा ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुर सहसा समुत्पिपतिषो फणिन ।
प्रहित दिवि प्रजविभि श्वसितै शरदभ्रविभ्रममपा पटलम् ॥१५॥

अन्वय —स पुर सहसा समुत्पिपतिष फणिन प्रजविभि श्वसितै दिवि, प्रहितम् शरदभ्रविभ्रमम् अपाम् पटलम् उदीक्ष्य विस्मयम् जगाम ॥१५॥

अर्थ—अर्जुन ने आगे की ओर अकस्मात् ऊपर आने के इच्छुक एक सर्प के अत्यन्त वेगयुक्त फुफकार से आकाश मे फेंके हुए, शरद ऋतु के बादलो की भाँति दिखाई पडनेवाले जल के मण्डलाकार समूह को देखकर बडा आश्चर्य माना ॥ १५॥

टिप्पणी—उपमा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार ।

स ततार सैकतवतीरभित शफरीपरिस्फुरितचारुदृश ।
ललिता सखीरिव बृहज्जघना सुरनिम्नगामुपयती सरित ॥१६॥

अन्वय —स सैकतवतीरभित शफरीपरिस्फुरितचारुदृश सुरनिम्नगाम् उपयती बृहज्जघना ललिता सखी इव सरित ततार ॥१६॥

अर्थ—अर्जुन ने बालुकामय तटवर्ती प्रदेशो से युक्त, चारो ओर मछलियो के फुदकने रूपी सुन्दर नेत्रा से सुशोभित सुरनदी गङ्गा मे मिलनेवाली उसकी सहायक नदियो को, मोटी जङ्घाओवाली मनोहर सखियो की भाँति पार किया ॥ १६ ॥

टिप्पणी—रूपक और उपमा अलकार का सकर ।

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखै परित परिष्कृततला तरुभि ।
मनस प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरे शुचिमाससाद स वनान्तभुवम् ॥१७॥

अन्वयः—सः अधिरुह्य गिरेः मूर्ध्नि पुष्पभरनम्रशिखैः तरुभिः परितः परिष्कृत-तलाम् शुचिम् वनान्तभुवम् मनसः प्रसत्तिम् इव आससाद ॥१७॥

अर्थ—अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर चढ कर उसके शिखर पर पुष्पों के भार से अवनत शिखा वाले वृक्षों से चारों ओर झाड़-पोछ कर परिष्कृत एवं पवित्र वन्यभूमि को मानो मन की मूर्तिमती प्रसन्नता की भाँति प्राप्त किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥१८॥

अन्वयः—अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः अचलः हरेः तनयस्य तपसे अधिवस्तुम् अचलाम् धृतिम् आततान ॥ १८ ॥

अर्थ—प्रत्येक शिखर पर फूली हुई लताओं के वितानों से युक्त, एवं फले हुए वृक्षों से सुशोभित पवित्र अथवा निर्जन वनों से विभूषित इन्द्रकील पर्वत ने इन्द्रपुत्र अर्जुन को तपश्चर्या के अनुष्ठान मे अविचल उत्साह प्रदान किया ॥१८॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलंकार।

प्रणिधाय तत्र विधिनाय धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम्।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥१९॥

अन्वयः—अथ तत्र विधिना धियम् प्रणिधाय मुनिताम् दधतः पुरातनमुनेः असुकरम् तपः श्रमम् न आदधौ। आत्मवताम् अवसादकरम् किमिव ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर उस इन्द्रकील पर्वत पर योग शास्त्र के अनुसार अपनी चित्तवृत्तियों का नियमन कर मुनियों जैसी वृत्ति धारण करने वाले उस पुराने मुनि ( नर के अवतार ) अर्जुन को दुष्कर तपस्या के क्लेशों ने नहीं सताया। मनस्वियों को क्लेश पहुँचाने वाली भला कौन-सी वस्तु है ?(कोई नहीं) ॥१९॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुख शुचिभिर्गुणैरघमय स तम ।
प्रतिवासर सुकृतिभिर्ववृधे विमल कलाभिरिव शीतरुचि ॥२०॥

अन्वय —धृतेन्द्रियशमैकसुख शुचिभि गुणै अघमयम् तम शमयन् विमल स प्रतिवासरम् सुकृतिभि कलाभि शीतरुचि इव ववृधे ॥२०॥

अर्थ—इन्द्रियदमन को ही मुख्य मुख्य सुख के रूप मे स्वीकार कर पवित्र गुणो से अपने पापमय अन्धकार का शमन करते हुए पापरहित अर्जुन प्रतिदिन अपनी उस विधिविहित तपस्या से (दूसरो के सन्ताप को दूर करने को ही मुख्य कार्य समझने वाल अपनी कान्ति से अन्धकार को दूर करने वाले एव अपनी कमनीय कलाओ से शुक्लपक्ष मे प्रतिदिन बढनेवाले ) चन्द्रमा की भाँति बढने लगे ॥ २० ॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ॥२०॥

अधरीचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवत ।
प्रतिघातिनी विषयसङ्गरतिं निरुपप्लव शमसुखानुभव ॥२१॥

अन्वय —किञ्च विवेकगुणात् अगुणेषु धियम् अस्तवत तस्य निरुपप्लव शमसुखानुभव प्रतिघातिनीम् विषयसङ्गरतिम् अधरीचकार ॥२१॥

अर्थ—और भी विवेक के उदय से तत्त्वो के विनिश्चय रूप गुण के द्वारा काम-क्रोधादि विकारो मे प्रवृत्तियो को रोकने वाले निष्कण्टक शाति, एव सुखोपभोग ने उस अर्जुन की तपश्चर्या मे अनेक प्रकार का विघ्न पहुँचाने वाली विषय-वासनाओ की अभिरुचि को दबा दिया ॥२१॥

टिप्पणी—अर्थात अर्जुन विषय वासनाओ से निर्मुक्त होकर तपश्चर्या मे रत हो गया ।

मनसा जपै प्रणतिभि प्रयत समुपेयिवानधिपतिं स दिव ।
सहजेतरौ जयशमौ दधती विभराम्बभूव युगपन्महसी ॥२२॥

अन्वय —प्रयत मनसा जपै प्रणतिभि दिव अधिपतिम् समुपेयिवान स सहजेतरौ जयशमौ दधती महसी युगपत् विभराम्बभूव ॥२२॥

अर्थ—अहिंसा आदि में निरत रहकर ध्यान, जप एवं नमस्कारादि के द्वारा स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए अर्जुन ने अपने स्वाभाविक एवं अभ्यास से प्राप्त वीररस एवं शान्त रसों को पुष्ट करने वाले तेजों को एक साथ धारण किया ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् वीरों के समान शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर भी वह जप, तप, अहिंसा आदि शान्त कर्मों के उपासक बन गये। एक साथ ही इन दो परस्पर विरोधी तेजों का धारण करना अद्भुत महिमा का कार्य है।

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन्कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः ।
उपमा ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥२३॥

अन्वयः—हरिन्मणिनिभः अभिषवणेन कृतजन्मनः जटाः शिरसा वहन् सः अरुणदीधितिभि. परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ उपमाम् ययौ ॥२३॥

अर्थ—मरकत मणि के समान हरे वर्ण वाले एवं नियमानुष्ठित स्नान करने के कारण पिंगल वर्ण की जटाओं को धारण किये हुए अर्जुन बाल सूर्य की किरणों से सुशोभित शिखर वाले तमाल के वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥२३॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ॥२३॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभि. ।
रचयाञ्चकार विरजाः स मृगान्कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥२४॥

अन्वयः—धृतहेतिः अप्यधृतजिह्ममतिः शुचिभिः चरितैः मुनीनधरयन् विरजाः सः मृगान् रचयाञ्चकार। गुणा. कमिव रमयितुम् न ईशते ॥२४॥

अर्थ—हथियार धारण करने पर भी सरल बुद्धि वाले एवं अपने पवित्र आचरणों में मुनियों को नीचा दिखाने वाले रजोगुणविहीन अर्जुन ने वन्य पशुओं को प्रसन्न कर दिया। भला गुण किसे नहीं वश में कर सकते ॥२४॥

टिप्पणी—चरित्र की शुद्धता ही विश्वास का कारण होती है, वेश अथवा परिचय नहीं। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

अनुकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥२५॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरून्गमयतावनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥२६॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥२७॥

अवन्य—अनुकूलपातिनम् अचण्डगतिम् सुगन्धिम् पवनम् अभितः किरता अवधीरितार्तवगुणम् अंशुमतः रुचाम् निचयम् सुखताम् नयता । प्रचये नवपल्लवाञ्जलिभृतः बृहतः तरून् अवनतिम् गमयता प्रतिनिशम् शयनीयताम् उपयतीम् वसुधाम् मृदुभिः तृणैः स्तृणता । अपेतजलदात् नभसः पतितैः अपाम् पृषतैः रजः च शमयता तपसा दयालुना एव परिगाढकृशः सः परिचर्यया अनुजगृहे ॥२५-२७॥

अर्थ—अर्जुन की उस तपश्चर्या ने अनुकूल मन्द मन्द सुगन्धित वायु को उसके (अर्जुन के) चारों ओर विकीर्ण कर दिया तथा सूर्य की किरणों की ग्रीष्मकालीन तेजस्विता को दबाकर उसे सुखस्पर्शी बना दिया । पुष्प चुनने के अवसर पर नूतन पल्लव रूपी अंजलियों को धारण करने वाले विशाल वृक्षों को नम्र बना दिया तथा प्रत्येक रात्रि में शयन-स्थान अर्थात् शैय्या बनने वाली पृथ्वी को कोमल तृणों से आच्छादित कर दिया । एवं जलरहित बादलों से बरसते हुए जल बिन्दुओं द्वारा धरती की धूल को शान्त कर दिया । इस प्रकार की उस दयालु तपश्चर्या की शुश्रूषा से मानो अत्यन्त क्षीणशरीर अर्जुन परम अनुगृहीत हुए ॥२५-२७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उस कठोर साधना में निरत अर्जुन को प्रकृति की सारी सुविधाएँ प्राप्त हुईं । यद्यपि वह खुली धूप में रहते थे, पृथ्वी पर शयन करते थे, स्वयं वृक्षों से पुष्प चुनते थे और वह तपोभूमि धूल धक्कड़ से भरी थी किन्तु उनके तपोलीन होने पर सब असुविधाएँ स्वतः दूर हो गयीं । तीनों श्लोकों में उत्प्रेक्षा ही प्रधान अलंकार है । जैसे किसी दुर्बल दीन-हीन व्यक्ति को देखकर

कोई दयालु व्यक्ति उसकी सेवा शुश्रूषा मे लीन हो जाता है, उसी प्रकार उनकी तपस्या भी मानो उन पर दयालु हो गई।

महते फलाय तदवेक्ष्य शिव विकसन्निमित्तकुसुम स पुर ।
न जगाम विस्मयवश वशिना न निहन्ति धैर्यमनुभावगुण ॥२८॥

अन्वय—स महते फलाय विकसत् शिवम् तद् निमित्तकुसुमम् पुर अवेक्ष्य विस्मयवशम् न जगाम । ( तथाहि ) वशिनाम् अनुभावगुण धैर्यम् न निहन्ति ॥२८॥

अर्थ—महान् सिद्धि रूप कल्याण ( फल ) की प्राप्ति के लिए विकसित होने वाले उन कल्याणकारी शकुन रूपी पुष्पों को सामने देखकर विस्मित नहीं हुए। जितेन्द्रिय लोग फल-प्राप्ति के सूचक अनुभवों के होने पर भी अपना धैर्य नही छोडते ॥२८॥

टिप्पणी—क्योंकि यदि विस्मय करते तो तप सिद्धि क्षीण हो जाती, जैसा कि शास्त्रीय विधान है। "तप क्षरति विस्मयात्। अर्थान्तरन्यास अलकार।

तदभूरिवासरकृत सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम् ।
उपतस्थुरास्थितविषादधिय शतयज्वनो वनचरा वसतिम् ॥२९॥

अन्वय—सुकृतैं अभूरिवासरकृतम् तत् वैभवम् अनन्यभवम् उपलभ्य आस्थितविषादधिय वनचरा शतयज्वन वसतिम् उपतस्थु ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार की तपश्चर्या द्वारा थोडे ही दिनो मे अर्जुन के दूसरो द्वारा असभव अर्थात् अलौकिक प्रभाव को देखकर खेद से भरे हुए वनदेव-वृन्द इन्द्र की पुरी अमरावती पहुँच गए ॥२९॥

टिप्पणी—वनदेवो को भ्रम हुआ कि कही अपनी कठोर तपस्या से यह इन्द्रपद तो प्राप्त नही करना चाहता ॥२९॥

विदिता प्रविश्य विहितानतय शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ ।
अनपेतकालमभिरामकथा कथयाम्बभूवुरिति गोत्रभिदे ॥३०॥

अन्वय —विदिता प्रविश्य विहितानतय अधिकृतकृत्यविधौ शिथिलीकृते अनपेतकालम् गोत्रभिदे इति अभिरामकथा कथायाम्बभूवु ॥३०॥

अर्थ—उन वनदेवो ने अनुमति लेकर इन्द्र के समीप प्रवेश किया और हाथ जोडकर नमस्कार किया। पर्वत की रक्षा का गुरु-कार्य छोडकर वे आये थे अत व्यर्थ मे अधिक समय न लगाकर इन्द्र से इस प्रकार का श्रवणसुखद सवाद वह सुनाया ॥३०॥

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवत ।
महते जयाय मघवन्ननघ पुरुषस्तपस्यति तपञ्जगतीम् ॥३१॥

अन्वय —शुचिवल्कवीततनु तिमिरच्छिदाम् अन्यतम इव अनघ पुरुष हे मघवन् भवत गिरौ जगतीम् तपन् महते जयाय तपस्यति ॥३१॥

अर्थ—हे महाराज इन्द्र ! पवित्र वल्कल से शरीर को आच्छादित कर अन्धकार दूर करनेवाले सूर्य आदि तजस्वियो मे से माना अन्यतम कोई एक निष्पाप पुरुष आपके इन्द्रकील नामक पर्वत पर, ससार को उत्तप्त करता हुआ किसी महान् विजय-लाभ के लिए तपस्या कर रहा है ॥३१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुज पृथु विद्विषा भयविधायि धनु ।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनय ॥३२॥

• अन्वय —भीषणभुजङ्गभुज स विद्विषाम् भयविधायि पृथु धनु बिभर्ति। अमलेन तस्य चरितेन धृतसच्चरिता च मुनय अतिशयिता ॥३२॥

अर्थ—भयङ्कर सर्पो के समान भुजाओ वाला वह पुरुष शत्रुओ को भयभीत करनेवाला विशाल धनुष धारण किये हुए है। उसके निर्मल आचरणो ने सच्चरित ऋषियो मुनियो को भी जीत लिया है ॥३२॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

मरुत शिवा नवतृणा जगती विमल नभो रजसि वृष्टिरपाम् ।
गुणसम्पदानुगुणता गमित कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगण ॥३३॥

*अन्वय —मरुत शिवा जगती नवतृणा नभ विमलम् रजसि अपाम् वृष्टिः अस्य गुणसम्पद अनुगुणताम् गमित भूतगण भक्तिम् कुरुते इव ॥३३॥*

अर्थ—उस तपस्वी पुरुष के सद्गुणो के प्रभाव से अनुकूलता को प्राप्त होने वाले पृथ्वी, जल आदि पाँचो महाभूत भी मानो उसके प्रति भक्ति करते हैं, क्योंकि हवाएँ सुखदायिनी हो गयी हैं, धरती नूतन कोमल घासो से आच्छादित हो गयी है, आकाश निर्मल हो गया है, धूल उठने पर जल की वृष्टि होती है ॥३३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसद ।
विनमन्ति चास्य तरव प्रचये परवान्स तेन भवतेव नग ॥३४॥

अन्वय —मृगा तम् अन्तसद गुरुम् इव इतरेतरानभिभवेन उपासते। प्रचये तरव अस्य विनमन्ति। स नग भवतेव तेन परवान् ॥३४॥

अर्थ—वन्य पशु उस तपस्वी पुरुष की सेवा विद्यार्थियो द्वारा गुरु के समान परस्पर का वैर-विरोध भूलकर करते हैं। पुष्प चुनने के समय वृक्ष उसके सामने स्वय झुक आते है। ( इस प्रकार ) वह इन्द्रकील आप की भाँति ही अब उस तपस्वी के अधीन-सा हो गया है ॥३४॥

उरु सत्वमाह विपरिश्रमता परम वपु प्रथयतीव जयम् ।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जन ॥३५॥

*अन्वय —विपरिश्रमता उरु सत्वम् आह। परम वपु जयम् प्रथयति इव शमिन अपि तस्य नवसङ्गमने जन विभुतानुषङ्गि भयम् एति ॥३५॥*

अर्थ—कठिन परिश्रम करने पर भी उसका श्रान्त न होना उसके महान् आन्तरिक बल की सूचना देता है, उसका सुन्दर एव विशाल शरीर उसकी विजय की सूचना देता है, यद्यपि वह शान्त रहता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम समागम होता है उस समय आगन्तुक व्यक्ति मे उसकी विभुता से आतक उत्पन्न हो जाता है ॥३५॥

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमिभृताम् ।
चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ।।३६।।

अन्वयः—सः ऋषिवंशजः यदि वा दैत्यकुले यदि वा महति भूमिभृताम् अन्वये तव वनेषु तपः चरतः अस्य गतिम् निरूपयितुम् वयम् न सहाः ।।३६।।

अर्थ—वह तपस्वी ऋषियों का वंशज है अथवा दैत्यों के वंश का है अथवा राजाओं के महान् कुल में उत्पन्न हुआ है ? आपके वन में तपस्या करने वाले उस पुरुष के भेद को जानने में हम असमर्थ हैं ।।३६।।

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया ।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ।।३७।।

अन्वयः—अनेकगुण कारणम् विगणय्य अथवा निजया अल्पतया कथितम् नः अदः असद् अपि सहितुम् अर्हसि । वनेचराः क्व । निपुणाः यतयः क्व ।।३७।।

अर्थ—(उसकी इस तपस्या का क्या प्रयोजन है, इसका) अनेक प्रकार से अनुमान करके अथवा अपनी स्वल्पबुद्धि से जो यह बात हमने आप से निवेदन की है, वह अनुचित भी हो तो आप उसे क्षमा करें। क्योंकि कहाँ हम बेचारे वनचारी और कहाँ वह कुशलमति तपस्वी ।।३७।।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगा प्रभवता हि धियः ।।३८।।

अन्वयः—मघवा इति गुह्यकगणात् तत् मनसः प्रियम् प्रियसुतस्य तपः, अधिगम्य उदितम् हर्षम् निजुगोप । तथा हि प्रभवताम् धियः नयवर्त्मगा ।।३८।।

अर्थ—देवराज इन्द्र ने इस प्रकार यक्षों के मुख से मन को आनन्दित करने वाली अपने प्यारे पुत्र की तपस्या का वृत्तान्त सुनकर अपनी प्रकट होने-वाली प्रसन्नता को छिपा लिया। क्यों न हो, प्रभुओं अर्थात् बड़े लोगों की बुद्धि नीतिमार्गानुसारिणी होती है ।।३८।।

टिप्पणी—बडे लोग किसी इष्ट कार्य के सिद्ध होने से उत्पन्न अपने मन की प्रसन्नता छिपाकर रखते हैं क्योंकि उसके प्रकट होने से कार्यहानि की सभावना रहती है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरि ।
उपलब्धुमस्य नियमस्थिरता सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥३६॥

अन्वय—अथ हरि चित्तम् प्रणिधाय तत्र भक्ततया विदिते अपि अपूर्व इव अस्य नियमस्थिरताम् उपलब्धुम् सुरसुन्दरी इति वच अभिदधे ॥३६॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र ने समाधिस्थ होकर अर्जुन को अपना अनन्य भक्त जान लेने पर भी, अनजान की भाति उसकी नियम निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए देवागनाओं से इस प्रकार की बातें की ॥३६॥

टिप्पणी—इन्द्र यद्यपि यह जान गये थे कि अर्जुन अनन्य भाव से तपस्या मे लीन है तथापि लोक प्रतीति के लिए अप्सराओ द्वारा उसकी दृढ नियमानुवर्तिता की परीक्षा लेना उन्होने उचित समझा। क्योंकि अर्जुन उनका पुत्र था। पुत्र के प्रति अनायास कृपा भाव का होना उनके पक्षपाती कहे जाने का कारण बनता। अत लोगो को दिखाने के लिए उन्होने यह नाटक रचा।

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरग युतममोघतया ।
अविपक्षमस्त्रमपर कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुव ॥४०॥

अन्वय—मर्मभिदाम् अस्त्रम् अपरम् कतमत् यूयम् इव सुकुमारम् एकम् अणु अतिदूरगम् अमोघतया युतम् तथा अविपक्षम् चित्तभुव विजयाय ॥४०॥

अर्थ—मर्म पर आघात करने वाले शस्त्रास्त्रो मे भला दूसरा कौनसा ऐसा अस्त्र हमारे पास है जो तुम लोगो की तरह सुकुमार, एकमात्र, सूक्ष्म, अत्यन्त दूरगामी, कभी निष्फल न होने वाला, एव प्रतिकाररहित है कामदेव के ऐसे अस्त्रो को छोडकर (आप लोगो की) विजय प्राप्ति के लिए कोई दूसरा अस्त्र नही है ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् दूसरे अस्त्र तो कठोर होते है, बहुत से धारण करने पडते है क्योकि एक से कभी काम चलने वाला नही होता, भारी और बडे होते हैं, बहुत कम अथवा निर्दिष्ट दूरी तक जा सकते हैं, कभी कभी निष्फल हो जाते हैं, और उनके प्रतिकार भी है, किन्तु तुम लोगो के सम्बन्ध मे ऐसी कोई बात नहीं है। उपमा और परिकर अलङ्कार का अगागी भाव से सकर।

भववीतये हतबृहत्तमसामवोधवारि रजस शमनम् ।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभि ॥४१॥

अन्वय—भववीतये हतबृहत्तमसाम् रजस शमनम् अवबोधवारि व असकलै नयनाञ्जलिभि परिपीयमाणम् इव अवसादम् एति ॥४१॥

अर्थ—सासारिक दु खो से सदा के लिए छूट जाने की इच्छा से माया-मोह को दूर हटानेवाले महान योगियो के, रजोगुण को शान्त करनेवाले तत्वावबोध रूप जल को, आप लोग अपने नेत्रों के कटाक्ष रूपी अजलियो से मानों क्षणभर मे पान करके उसे विनष्ट कर देती है ॥४१॥

टिप्पणी—जब मुमुक्षुओ की यह दशा केवल आपके कटाक्षो से हो जाती है तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या है ! उत्प्रेक्षा और रूपक का सकर।

बहुधा गता जगति भूतसृजा कमनीयता समभिहृत्य पुरा ।
उपपादित विदधता भवती सुरसद्मयानसुमुखी जनता ॥४२॥

अन्वय—पुरा जगति बहुधा गता कमनीयताम् समभिहृत्य भवती विदधता, भूतसृजा जनता सुरसद्मयानसुमुखी उपपादिता ॥४२॥

अर्थ—प्राचीन काल मे अनेक स्थलो मे बिखरी हुई सुन्दरता को एकत्र कर आप लोगो की रचना करनेवाले विधाता ने साधारण जनता को स्वर्ग लोक की यात्रा के लिए लालायित बना दिया है ॥४२॥

टिप्पणी—अर्थात चन्द्रमा आदि अनेक पदार्थों मे जो सुन्दरता बिखरी हुई थी उसी को एकत्र कर विधाता ने तुम लोगो की रचना की है और लोग जो स्वर्ग की प्रप्ति के लिए लालायित रहते हैं, उसमे केवल तुम लोगो की प्राप्ति की लालसा ही मूल कारण है। अतिशयोक्ति अलङ्कार।

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तप. कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हृतवीतरागमनसा ननु व. सुखसङ्गिन प्रति सुखावजितिः ॥४३॥

अन्वय —तत् कलासु कृतिभि सचिवै. सहिता उपेत्य तस्य तप. विघ्नयत ननु हृतवीतरागमनसाम् व सुखसङ्गिनम् प्रतिसुखावजिति ॥४३॥

अर्थ—अतएव आप लोग गायन-वादनादि कलाओ मे निपुण अपने सहचर गन्धर्वों के साथ जा कर उस तपस्वी पुरुष की तपस्या मे विघ्न प्रस्तुत करें। आप लोग जब वीतराग तपस्वियों के मन को भी अपनी ओर खीच लेती हैं तो सुखाभिलाषी पुरुष तो सुगमता से वश मे हो सकता है ॥४३॥

टिप्पणी—अर्थात् वह तपस्वी तो बडी सुगमता से आप लोगो के वश मे हो जायगा। उसे वश मे करना कठिन नहीं है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषता वधेन विषयाभिरतिम्।
भववीतये न हि तथा स विधि क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथ. ॥४४॥

अन्वय —( हे अप्सरस ) स द्विषताम् वधेन विषयाभिरतिम् अभिलष्यति एतत् अविमृष्यम् हि स विधि भववीतये न ( कुत ) शरासनम् क्व विमुक्तिपथश्च क्व ॥४४॥

अर्थ—वह तपस्वी अपने शत्रुओं का सहार कर विषय-सुख भोगने का अभिलाषी है, यह बात तो असदिग्ध ही है। उसकी यह तपस्या ससार से मुक्ति पाने के लिए नहीं है। क्योकि कहाँ धनुष और कहाँ मुक्ति का मार्ग ? ॥४४॥

टिप्पणी—वह धनुष लेकर तपस्या कर रहा है, यही इस बात का प्रमाण है कि मुमुक्षु नहीं है, क्योंकि मुक्ति हिंसा द्वारा प्राप्त नहीं होती दोनो विरोधी चीजें हैं अत निश्चय ही वह विषयसुखाभिलाषी है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृति. ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवता न वधूष्वघानि विमृषन्ति धिय. ॥४५॥

अन्वयः—पृथुधाम्नि तत्र अन्यमुनिवद् विकृतिः च भवतीभिः मा परिबोधि, स्वयशांसि, अवताम् विक्रमवताम् धियः वधूषु, अघानि न विमृषन्ति ॥४५॥

अर्थ—महान् तेजस्वी उस तपस्वी पुरुष के सम्बन्ध मे दूसरे मुनियो की तरह क्रुद्ध होकर शाप देने की शका तुम लोग मत करो। क्योकि अपने यश की रक्षा करनेवाले पराक्रमी लोगो की बुद्धि नारी जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नही रखती ॥४५॥

टिप्पणी—पराक्रमी एव वीर लोग अपने यश की हानि की चिन्ता से नारी जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नही रखते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

आशसितापचितिचारु पुरः सुराणा-
मादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः
सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥४६॥

अन्वयः—अमर्त्यवधूसमूहः सुराणाम् पुरः आशसितापचितिचारु अभिमुखम् भर्तुः इति आदेशम् समवाप्य पराम् द्युतिम् लेभे। तथाहि अधिकृतस्य सम्भावना तेजः तनोति ॥ ४४ ॥

अर्थ—अप्सराओ का समूह देवताओ के समक्ष इस प्रकार की प्रशसा से युक्त अपने स्वामी इन्द्र का उपर्युक्तआदेशप्राप्त करऔर अधिक सुन्दर होगया, वह खिल उठा। क्यो नही स्वामी द्वारा प्राप्त समादर किसी कर्त्तव्य पर नियुक्त सेवक की तेजोवृद्धि तो करता ही है ॥४६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सद्मनस्ताः
स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः।
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव
स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ॥४७॥

अन्वय—अथ प्रणतिम् विधाय सद्मनः प्रस्थिताः स्तनभरनमिताङ्गीः

प्रीतिभाज ता अङ्गना अचलनलिनलक्ष्मीहारि स्तिमितम् अमरभर्तु अक्ष्णाम् सहस्रम् द्रष्टुम् अलम् न बभूव ॥४७॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र को प्रणाम कर अमरावती से प्रस्थित, स्तनो के भार से अवनत अगोवाली एव स्वामी के समादर से सन्तुष्ट उन अप्सराओ को निश्चल कमल की शोभा को हरनेवाली अर्थात् कमलो के समान मनोहर एव विस्मय से निर्निमेष देवराज इन्द्र की सहस्र आँखें भी देखने म असमर्थ रह गयी ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—अर्थात् एक तो वे वैसे ही सुन्दरी थी, दूसरे इन्द्र ने देवताओ के समक्ष उनका जो अभिनन्दन किया, उससे वे और खिल उठी तथा उनका सौन्दर्य-सागर हिलोरें लेने लगा। उपमा अलङ्कार।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य म छठाँ सर्ग समाप्त ॥६॥

तथा वे आकाश मे चलते हैं। देवागनाओ के इन रथो की भी ऐसी ही स्थिति थी। इनमे यद्यपि अश्व थे, किन्तु वे अत्यन्त वेगशाली थे अत बहुत तीव्रगति से रथोको खींच रहे थे, निराधार होने से इनके भी चक्के घूमते नहो थे और ये भी देवताओ की कृपा से आकाश से टिके हुए थे। उपमा अलकार ॥४॥

कान्ताना कृतपुलक स्तनाङ्गरागे वक्त्रेपु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभ ।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषा रम्याणा विकृतिरपि श्रिय तनोति ॥५॥

अन्वय —कान्तानाम् स्तनाङ्गरागे कृतपुलक च्युततिलकेपु वक्त्रेपु मौक्तिकाभ श्रमसलिलोदगम विभूषाम् सम्पेदे। (तथाहि) रम्याणाम् विकृति अपि श्रियम् तनोति ॥५॥

अर्थ—उन देवागनाओ के परिश्रम से उत्पन्न पसीनो की बूंदे नीचे ढुलककर स्तनो मे लगे हुए अगरागो को बहाकर रोमाचित कर रही थो तथा उनके भाल के तिलक को धो रही थी, इस प्रकार मोतियो के दानो समान सुन्दर दिखाई पडने वाली वे बूंदे उनको अलकृत करने का कार्य ही कर रही थी। क्यो नहीं, सुन्दर लोगो की विकृति भी उनकी शोभा ही वढाती है ॥५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि देवागनाएँ पसीने से लयपथ हो रही थी और उनकी विचित्र शोभा थी। अर्थान्तरन्यास अलकार।

राजद्भि पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चि स्फुटगतिभिर्ध्वजाशुकानाम् ।
तेजोभि कनकनिकपराजिगौरैरायाम क्रियत इव स्म सातिरेक ॥६॥

अन्वय —मरुताम् पथि राजद्भि अभिन्नरूपै उल्कार्चि स्फुटगतिभि कनकनिकपराजिगौर ध्वजाशुकानाम् तेजोभि आयाम सातिरेक क्रियतेस्म इव ॥६॥

अर्थ—आकाश मे प्रकाशमान, एव समान दिखाई पडने वाली उल्काओ के स्फुट प्रकाश की तरह प्रतीत होने वाली, एव कसौटी पर खिंची हुई सुवर्ण की रेखा के समान अरुण वर्ण की पताकाओ के रेशमी वस्त्रो की कान्तियाँ मानो उन वस्त्रो की लम्बाई को अधिक बढाती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् आकाश म पताकाओ के रेशमी वस्त्रो की चमक कसौटी पर खिंची सुवर्ण रेखा की भाँति उल्का की गति के समान तीव्रगामी होने से

ऐसी मालूम पडती थीं मानो पताकाओ के वस्त्र ही उतने लम्बे हो गये हैं। उपमा से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलकार।

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैं प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातु ॥७॥

अन्वय—माल्यसौकुमार्ये, रामाणाम् वपुषि आतपस्य सहत्वम् सम्प्राप्ते अधिगतविस्मयैं गन्धर्वै विधातु विधिषु कल्याणी विचित्रता प्रतीये ॥७॥

अर्थ—कुसुमों से भी कोमल देवागनाओ के शरीर मे सूर्य की प्रचण्ड धूप को सहन करने की शक्ति देखकर आश्चर्य-चकित गन्धर्वो ने यह अनुभव किया कि ब्रह्मा की सृष्टि मे रचना-कुशलता बडी ही कल्याणकारिणी है॥७॥

सिन्दूरैं कृतरुचय-सहेमकक्ष्या स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मद क्षरन्त।
सादृश्य ययुररुणाशुरागभिन्नैर्वर्षद्भि स्फुरितशतह्रदैं पयोदैं ॥८॥

अन्वय—सिन्दूरैं कृतरुचय सहेमकक्ष्या स्रोतोभि मदम् क्षरन्त त्रिदश-गजा अरुणाशुरागभिन्नै वर्षद्भि स्फुरितशतह्रदैं पयोदैं सादृश्यम् ययु ॥८॥

अर्थ—सिन्दूर से अलकृत, सुवर्ण की शृखलाओ से मध्यभाग मे बँधे हुए, सातों मद-नाडियों से मद की वर्षा करते हुए देवताओ के गजराजो ने सूर्य की किरणों की लालिमा से अनुरजित बरसते हुए तथा बिजली की चमक से सुशोभित मेघो की समानता प्राप्त की ॥८॥

टिप्पणी—हाथियो की मद बहाने वाली नाडियाँ सात होती हैं। सूँड के दोनो छिद्र, दोनो गण्डस्थल, दोना आँखें तथा लिग। वे गजराज काले बादलो के समान थे। उनका सिन्दूररजित अलकार सूर्य की किरणा के सम्पर्क की शोभा धारण कर रहा था, सुवर्ण की शृखला बिजली के समान थी और सात स्थानों से मद-क्षरण जल-वृष्टि के समान था। उपमा अलकार।

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूर पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य।
आशानामुपरचितामिवैकवेणी रम्योर्मि त्रिदशनदी ययुर्बलानि ॥९॥

अन्वय—बलानि अत्यर्थम् दुरुपसदाद् अहिममयूखमण्डलस्य पर्यन्तात् दूरम् उपेत्य आशानाम् अपरचिताम् एकवेणीम् इव रम्योर्मिम् त्रिदशनदीम् ययुः ॥९॥

अर्थ—देवागनाओं की वह सेना सूर्यमडल के अत्यन्त असहनीय प्रान्त-भाग से दूर निकलकर दिग्वधुओं द्वारा मानो रची गयी एक वेणी की भाँति प्रतीत होने वाली रमणीय तरगो से युक्त देवनदी मन्दाकिनी के तट पर पहुँच गई ॥९॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार ।

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धतग्रथितरजांसि पङ्कजानि ।
कान्ताना गगननदीतरङ्गशीत सन्तापं विरमयति स्म मातरिश्वा ॥१०॥

अन्वयः—आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि, उद्धतग्रथितरजांसि पङ्कजानि धुन्वन् गगननदीतरङ्गशीत. मातरिश्वा कान्तानाम् सन्तापम् विरमयति स्म ॥१०॥

अर्थ—मधुमत्त भ्रमर-समूहो से सकुलित एव अब तक जमे हुए किन्तु भ्रमरो के सघट्ट से ऊपर उडते हुए परागो से युक्त कमलों को कम्पित करने वाली एव देवनदी मन्दाकिनी की तरगो के स्पर्श से शीतल वायु ने देवागनाओ की थकावट को दूर कर दिया ॥१०॥

सम्भिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनुपदवी विमानपंक्ती. ।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभि ॥११॥

अन्वय.—इभतुरगावगाहनेन सम्भिन्नै सुरापगाया पयोभि. पदवीम् अनु उर्वी. विमानपङ्क्ती· प्राप्य तत्पूर्वम् वप्रान्तस्खलितविवर्तनम् प्रतिविदधे ॥११॥

अर्थ—हाथियो और अश्वो की जलक्रीडा से क्षुब्ध देव नदी मन्दाकिनी के जल की लहरें ( आकाश-मण्डल मे खडे हुए देवागनाओं के ) विमानों की लबी पक्तियो के पास पहुँचकर सर्वप्रथम बार (किसी) रोकने वाले से टकरा कर वापस लौट पडी ॥११॥

टिप्पणी—आकाश मे तटवर्ती भूमि कोई नही थी, इसलिये आकाश गगा की लहरें पहले टकराकर वापस नहीं लौटती थी किन्तु इस बार वे देवागनाओं की लम्बी रथ-पक्तियों से टकरा कर वापस लौट पडी । अतिशयोक्ति अलकार ।

क्रान्ताना ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्र क्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
नि सङ्ग प्रधिभिरुपाददे विवृत्ति सपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु ॥१२॥

अन्वय —ग्रहचरितात् पथ क्रान्तानाम् अक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् रथानाम् प्रधिभि सपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु नि सङ्गम् विवृत्ति उपाददे ॥१२॥

अर्थ—सूर्य आदि ग्रहो द्वारा आश्रित मार्ग को पार करके अपने चक्को की धुरियो के अग्रभाग से दोनो ओर के देव-भवनो के चबूतरो को तोडते-फोडते हुए उन अप्सराओ के रथ पहियो की रगड से बादलो के जल को क्षुब्ध करते हुए बडे वेग से आगे बढने लगे ॥१२॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलकार ।

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्ना प्रह्लाद सुरकरिणा घना क्षरन्त ।
युक्ताना खलु महता परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्ति ॥१३॥

अन्वय —विषाणभिन्ना क्षरन्त घना तप्तानाम् सुरकरिणाम् प्रह्लादम् उपदधिरे । परोपकारे युक्तानाम् महताम् रुजत्स्वपि कल्याणी खलु प्रवृत्तिः भवति ॥१३॥

अर्थ—( हाथियो के ) दाँतो से क्षत-विक्षत होने के कारण जल विन्दु बरसाने वाले बादलो ने सन्तप्त देवगजो को खूब प्रसन्न किया । सच है, परोपकार-परायण महापुरुषो का यह स्वभाव ही है कि वे अपने को पीडा पहुँचाने वाले का भी कल्याण ही करते हैं ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार ।

सवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवराशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलाशुजाल सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वो ॥१४॥

अन्वय —सवाता अनिलेन दिव्यस्त्रीजघनवराशुके विवृत्तिम् मुहु नीयमाने पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलाशुजालम् ऊर्वो युतकम् इव अन्तरीयम् सञ्जज्ञे ॥१४॥

अर्थ—( तेजीसे ) चलने वाली वायु द्वारा (कामुक की भाँति) देवागनाओं के जघन-स्थलो को ढँकने वाले सुन्दर वस्त्रो के बारम्बार उडा देने पर रत्नों की

मेखला से चमकती हुई कान्तियो के वृहत् समूह उनके दोनो जघो को ढँकने के लिए मानो लँहगे की तरह बन गये ॥१४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार ।

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुपारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्त. ।
कान्तानां वहुमतिमाययु. पयोदा नाल्पीयान्वहुसुकृतं हिनस्ति दोप.॥१५॥

*अन्वय.—तुपारपातैः प्रत्यार्द्रीकृततिलकाः शमितपरिश्रमा प्रह्लादम् दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् वहुमतिम् आययुः । अल्पीयान् दोप. वहुसुकृतम् न हिनस्ति ॥१५॥*

अर्थ—सूक्ष्म जल-विन्दुओ की वर्षा करके देवागनाओ के तिलको को मिटा कर भी उनकी थकावट को दूर कर आनन्दित करने वाले मेघवृन्द देवागनाओ के सम्मान के पात्र बन गए । सच है, थोडा-सा अपराध वडे उपकार को नष्ट नही करता ॥१५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार ।

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले ।
आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां संधानं सुरधनुप. प्रभा मणीनाम् ॥१६॥

अन्वय—ग्रथिततरङ्गसैकताभे विपयसि वारिवाहजाले विच्छेदम् यातस्य सुरधनुप. त्रिदशवधूजनाङ्गभाजाम् मणीनाम् प्रभाः सधानम् आतेनुः ॥१६॥

अर्थ—तरगो के चिह्नो से सुशोभित बालुकामय प्रदेशो की भाति दिखाई पडने वाले निर्जल मेघ-मण्डलो पर खडित होने के कारण सम्पूर्ण रूप से न दिखाई पडने वाले इन्द्रधनुष को, देवागनाओ के शरीर पर अलङ्कृत मणियो की कान्तियो से पूर्णता प्राप्त हो गयी ॥१६॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलकार ।

ससिद्धाविति करणीयसंनिवद्धैरालापै. पिपतिपतां विलंघ्य वीथीम् ।
*आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः ॥१७॥*

अन्वय—ससिद्धौ इति करणीयसनिबद्धै आलापै दशशतलोचनध्वजिन्या पिपतिषताम् वीथीम् विलघ्य जीमूतै अपिहितसानुरिन्द्रकील आसेदे ॥१७॥

अर्थ—कार्य सिद्धि के सम्बन्ध मे क्या क्या करना चाहिए—इस प्रकार की बातें करते हुई इन्द्र की वह सेना, पक्षियो के मार्ग को पार करके उस इन्द्रकील गिरि के ऊपर पहुच गयी, जिसके शिखरो पर बादल छाए हुए थे ॥१७॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।
सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ॥१८॥

अन्वय—विलासिनीनाम् मुखनलिनै आकीर्णा उद्धूतस्फुटविशदातपत्र-फेना तूर्यध्वनितगभीरम् भूभर्तु शिरसि आपतन्ती सा नभोनदी इव रेजे ॥१८॥

अर्थ—उन देवागनाओ के मुख रूपी कमलो से व्याप्त, ऊपर उठी हुई छतरियो रूपी फेनो से युक्त तथा मृदगादि वाद्यो की ध्वनि रूपी गभीर शब्दो से युक्त, इन्द्रकील के शिखर पर उतरती हुई वह देवसेना आकाश गगा की भाँति सुशोभित हुई ॥१८॥

टिप्पणी—रूपक से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार ।

सेतुत्व दधति पयोमुचा विताने सरम्भादभिपततो रथाञ्जवेन ।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणा कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरगा ॥१९॥

अन्वय—पयोमुचाम् वितान सेतुत्वम् दधति सरम्भाद् जवेन अभिपतत रथान् नियमितरश्मिभुग्नघोणा अवनामिन तुरङ्गा कृच्छ्रेण क्षितिम् आनि-न्यु ॥ १९ ॥

अर्थ—बादलो के वितानो के पुल की भाँति स्थिर होने से उनके ऊपर से (ढालू होने के कारण) अत्यन्त वेग से नीचे उतरते हुए रथो को उनके अश्वो ने बडी कठिनाई से धरती तक पहुँचाया। उस समय रास के अत्यधिक खीच जाने के कारण उनकी नासिका का अगला भाग टेढा हो गया था और वे सम्पूर्ण अगो का भार अपने अगले अगो पर सँभाले हुए थे ॥१९॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार ।

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ॥२०॥

अन्वयः—माहेन्द्रम् नगम् अभितः दिवः पतन्तः पर्यन्तस्थितजलदाः करेणुवर्याः निलयननिष्प्रकम्पपक्षैः जलनिधिशायिभिः नगेन्द्रैः सादृश्यम् आजग्मुः ॥२०॥

अर्थ—इन्द्रकील गिरि के चारो तरफ आकाश से नीचे उतरते हुए, अगल-बगल मे बादलो के खडो से युक्त श्रेष्ठ गजराज अपने स्थान पर निश्चल पंखो से युक्त, जल मे शयन करने वाले मैनाक प्रभृति पर्वतो की समानता प्राप्त कर रहे थे ॥२०॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

उत्संगे समविषमे सम महाद्रेः क्रान्ताना वियदभिपातलाघवेन ।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्री खुरपदवी तुरंगमाणाम् ॥२१॥

अन्वयः—महाद्रेः उत्सङ्गे समविषमे वियदभिपातलाघवेन समम् क्रान्तानाम् तुरङ्गमाणाम् खुरपदवी उपनदि सैकतेषु आमूलात् सामग्री लेभे ॥२१॥

अर्थ—उस महान् पर्वत इन्द्रकील के ऊँचे-नीचे शिखर पर, आकाश मे चलने की निपुणता के कारण चढाव-उतार से रहित एक समान गति से चलने वाले अश्वो की खुरो की निशानी, नदी तट के समीप बालुकामयी भूमि मे आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण रूप से दिखाई पडने लगी ॥२१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इन्द्रकील गिरि का शिखर ऊँचा-नीचा था, उस पर खुर रखकर चलने मे कठिनाई थी, अत. आकाश मे चलने मे निपुण वे अश्व पर्वत शिखर से दस-पाँच अगुल ऊपर ही ऊपर चलते रहे, किन्तु जब वे नदी के बालुकामय तट-प्रदेशो मे आए तो पूरी खुर रखकर चलने लगे, जिससे आदि से लेकर अन्त तक उनकी खुर की निशानी दिखाई पडती थी ।

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः सम्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ॥२२॥

अन्वय.—सध्वानम् निपतितनिर्भरासु अधित्यकासु मन्द्रैः प्रतिनिनदैः समूर्च्छन् रथाना ध्वनि घनरवशङ्कया उद्ग्रीवैः मयूरैः सोत्कण्ठम् उपशुश्रुवे ॥२२॥

अर्थ—शब्द करते हुए प्रवाहित होने वाले झरनो से युक्त उस इन्द्रकील पर्वत की अधित्यका मे गम्भीर प्रतिध्वनि से प्रवर्द्धित रथो की घडघडाहट को, बादलो के गरजने के भ्रम मे पडकर गरदन ऊपर उठाकर देखनेवाले मयूरो ने उत्कठापूर्वक सुना ॥२२॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार ।

सभिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलाना भृशमुपमेखल मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भ स्रुतिमवलोकयावभूवु ॥२३॥

अन्वय —उपमेखल नीलाना मणीना अविरलपातिभि मयूखै भृश सम्भिन्ना वप्राम्भ स्रुतिम् वनिता नभोन्तराले विच्छिन्नाम् इव अवलोकयाम्बभूवु ॥२३॥

अर्थ—इन्द्रकील पर्वत के तट प्रान्त मे स्थित नीलम मणि की निरन्तर प्रकाशमान किरणो से मिलकर अत्यन्त नीले वर्ण के शिखरो से गिरने वाली जलधाराओ को अप्सराओ ने आकाश के मध्य भाग मे बीच से गुप्त (छिपी हुई) के समान देखा ॥२३॥

टिप्पणी—नीलम मणि की किरणें शिखरो से गिरती हुई जलधारा को भी नीला बना देती थी, जिसके कारण वे नीले आकाश मे लुप्त-सी हो जाती थी। तद्‌गुण अलङ्कार से उत्थापित उत्प्रेक्षा। दोनो अलङ्कारो का अगागीभाव से सकर और भ्रान्तिमान् की व्यजना।

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
सव्याज निजकरिणीभिरात्तचित्ता प्रस्थान सुरकरिण कथञ्चिदीयु ॥२४।

अन्वय —धूर्गतानाम् धियम् अवमत्य आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्त सव्याजम् निजकरणीभि आत्तचित्ता सुरकरिण प्रस्थानम् कथञ्चित् ईयु ॥२

अन्वय —तदा हरिसखवाहिनीनिवेशः भूभर्तुः उर्व्याः समधिकम् श्रीमत्ताम् आदधे। महोदयानाम् मसक्तौ किमसुलभम्। यदृच्छया योग अपि उच्छ्रायम् नयति ॥२७॥

अर्थ—उस समय गन्धर्वों की सेना के उस शिविर ने इन्द्रकील गिरि की उस धरती की पूर्व की अपेक्षा अधिक श्रीवृद्धि की। सच है, महान पुरुषों का सम्पर्क होने पर कौन सी वस्तु दुर्लभ है, उनका आकस्मिक सम्पर्क भी उत्कर्ष की प्राप्ति कराता है ॥२७॥

टिप्पणी—अर्थापत्ति अलङ्कार।

सामोदा कुसुमतरुश्रियोविविक्ता सम्पत्ति किसलयशालिनीलतानाम्।
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ता सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ॥२८॥

अन्वय —सामोदा कुसुमतरुश्रिय विविक्ता किसलयशालिनीलतानाम् सम्पत्ति अमराङ्गनोपभुक्ता साफल्यम् ययु। यया परेषाम् उपकुरुते सा लक्ष्मी ॥२८॥

अर्थ—सुगन्ध से युक्त पुष्प प्रधान वृक्षों की शोभा, निर्जन प्रदेश, नूतन पल्लवों से मनोहर लताओं की छटा—ये सभी चीजें देवाङ्गनाओं द्वारा उपभुक्त होकर सफल हो गयी। सच है, जिससे दूसरों का उपकार हो वही लक्ष्मी है ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् जिसके द्वारा दूसरे का कल्याण न हो वह लक्ष्मी लक्ष्मी नही है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजन पुरस्ताल्लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम्।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् ॥२९॥

अन्वय —क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजन. पुरस्तात् लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम् सेव्यानाम् चन्दनानाम् सम्पर्कम् हतविनयै आवृतानाम् इव परिहरति स्म ॥२९॥

अर्थ—थकी होने पर भी देवागनाएँ अपने आगे खडे हुए, लिपटे हुए सर्पों की फूत्कार से चचल पल्लवो वाले सेवनीय चन्दन वृक्षो के समीप उसी प्रकार से नही गयी जिस प्रकार से दुष्ट-दुर्जनो से घिरे हुए सज्जनो के पास लोग नही जाते ॥२६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रम विनेतुम्।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ॥३०॥

अन्वय—विदितनयैः उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा श्रमम् विनेतुम् धरित्रीम् आनीता द्विपा युगान्तवातैः आक्षिप्तद्रुमगहना पर्यस्ता गिरय इव विरेजु ॥३०।

अर्थ—गज शिक्षा मे निपुण महावतो द्वारा थकावट दूर करने के लिए जिन पर से ध्वजा, झूल, हौदा आदि सामाग्रियाँ उतार कर भूमि पर रख दी गई थी, वे गज प्रलयकाल के झझावात से उखाड कर फेंके गये झाड-झखाड से विहीन पर्वतो के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३०॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

प्रस्थानश्रमजनिता विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिना क्षण विलीन सरम्भच्युतमिव शृङ्खल चकासे ॥३१

अन्वय—गजपतिना प्रस्थानश्रमजनिताम् निद्राम् विहाय आमुक्ते सदानपङ्के शय्यान्ते क्षणम् विलीनम् अलिनाम् कुलम् सरम्भच्युनम् शृङ्खलम् इव चकासे ॥३१॥

अर्थ—(सेना का एक) गजराज जब मार्ग की थकावट से उत्पन्न निद्रा को छोडकर मदजल से पकिल अपने शयन-स्थल को त्याग कर चला तब क्षणभर म ही एकत्र (गन्धलोभी) भ्रमरो की पक्ति वहाँ इस प्रकार से सुशोभित हुई मानो उस गजराज के वेग से टूटी हुई उसकी जजीर हो ॥३१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आँखें फाड फाड कर घूरने लगा। किन्तु अत्यन्त शीतल होते हुए भी उस जल को उसने नही पिया ॥३४॥

टिप्पणी—उसे प्रतिद्वन्द्वी हाथी के स्मरण से क्रोध आ गया और क्रोध आने पर बलवान का भूख-प्यास की चिन्ता छोड देना स्वाभाविक ही है।

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगाया क्रीडन्तो गजपतय पयासि कृत्वा।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरु सरसिजगन्धिभि कपोलै ॥३५॥

अन्वय —क्रीडन्ता गजपतय निम्नगाया पयासि प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखै सरसिजगन्धिभि कपोलै उत्तेरु ॥३५॥

अर्थ—क्रीडा म निमग्न वे गजराज देवनदी गङ्गा के जल को अपने चूते हुए मदजल से सुगन्धित बनाकर, कमला के पीले-पीले परागो से लाल वर्ण की मद रखा को छिपाते हुए, कमल की सुगन्ध से पूरित कपोला को लेकर बाहर निकले ॥३५॥

टिप्पणी—समपरिवृत्ति अलङ्कार।

आकीर्ण बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभै सपदि तरङ्गित तटेपु।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिंग माजिष्ठ वसनमिवाम्बु निर्वभासे॥३६॥

अन्वय —घनारुणेन बलरजसा आकीर्णम् सपदि प्रक्षोभै तटेपु तरङ्गितम् मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गम् अम्बु माञ्जिष्ठम् वसनम् इव निर्वभासे ॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त लाल रग की सेना की धूल से भरा, (हाथिया के) स्नान से शीघ्र ही क्षुब्ध होकर तटो म टकराता हुआ, एव गजराजो द्वारा विमर्दित कमलो के पीले परागो से मिश्रित वह देवनदी गगा का जल मजीठ के रग म रँगे हुए वस्त्र की तरह सुशोभित होने लगा ॥३६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तै ससक्तै रगुरुवनेपु साङ्कटाग्म्।
सम्प्रापे निसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रै प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ॥३७॥

अन्वय—श्रीमद्भिः नियमितवन्धारापरान्तैः अगुरुवनेषु साङ्गहारम् ससक्तैः निमृतमदाम्बुभिः गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा सम्प्रापे ॥३७॥

अर्थ—अत्यन्त शोभायुक्त, पिछले पैर और कन्धों से अगुरु के वृक्षों में बँधे हुए और झूमते हुए कुछ गजराज, जिनके शरीर से मद-जल की धारा बह रही थी ऐसे पर्वतों की शोभा धारण कर रहे थे, जिनसे बड़ी-बड़ी शिलाएँ टूट कर गिर रही हों और साथ ही जल की धारा भी चू रही हो ॥३७॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम्।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ॥३८॥

अन्वय—स्रोतोभिः अजस्रम् निःशेषम् प्रशमितरेणु मदजलम् उज्झताम् वारणानाम् व्यवहितभूरिपुष्पगन्धः भिन्नैलासुरभिम् आमोदम् गन्धवाहः उवाह ॥३८॥

अर्थ—देवसेना के गजराजों ने अपने सातों मदस्रावी स्थानों से निरन्तर मद चुआकर सम्पूर्ण धूल को शान्त कर दिया था। उस मदजल की सुगन्ध से पुष्पों की तीव्र सुगन्ध भी ढँक ( दब ) गयी थी और वहाँ पिसी हुई इलायची के समान मनोहर सुगन्ध बिखर रही थी। ऐसी सुगन्ध को गन्ध का वाहक वायु (चतुर्दिक्) फैला रहा था ॥३८॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

सादृश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकण्ठान् कच्छान्तानमरमहेभबृंहितानि ॥३९॥

अन्वय—गभीरमेघघोषैः सादृश्यम् दधति उन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि अमरमहेभबृंहितानि कच्छान्तान् चकितचकोरनीलकण्ठान् आतेनुः ॥३९॥

अर्थ—बादलों के गभीर रूप से गरजन की समानता धारण करने वाली, नींद के उचट जाने के कारण क्षुब्ध सिंहों द्वारा सुनी गई, देवताओं के गजराजों की चिग्घाड़ समूचे कच्छ प्रदेश में चकोरों और मयूरों को चकित करते हुए फैल गयी ॥३९॥

टिप्पणी—चकोरो और मयूरो को बादल गरजने की भ्रान्ति हुई, अत वे चकित रह गये क्योंकि आकाश मे बादल नही थे। भ्रान्तिमान् अलङ्कार।

शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानाम् ,
अध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम् ।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृताना
लक्ष्मी-पुरोपवनजा वनपादपानाम् ॥४०॥

अन्वय.—शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानाम् अध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम निवेशनविभागपरिष्कृतानाम् वनपादपानाम् पुरोपवनजा लक्ष्मी. जज्ञे ॥४०॥

अर्थ—जिनकी शाखाओ मे मनोहर वस्त्र और आभूषण टँगे हुए थे, जो मार्ग की थकावट से चूर देवागनाओ द्वारा सेवित थे, शिविर बनने के कारण जिनके नीचे की भूमि झाड-बुहार कर परिष्कृत कर दी गई थी—ऐसे वन-वृक्षो की शोभा नगर के उपवनो (पार्को) जैसी हो रही थी ॥४०॥

टिप्पणी—नगर के उपवनो मे भी भ्रमणार्थी दलो द्वारा ऐसी ही वृक्ष शोभा होती है। निदर्शना अलकार। वसन्ततिलका छन्द।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे सातवाँ सर्ग समाप्त ॥७॥

# आठवाँ सर्ग

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वल ज्वलन्मणि व्योमसदा सनातनम् ।
सुरागना गोपतिचापगोपुर पुर वनाना विजिहीर्षया जहु ॥१॥

अन्वय —अथ सुराङ्गना स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वल ज्वलन्मणि व्योमसदा सनातन गोपतिचापगोपुर वनाना विजिहीर्षया जहु ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अपनी माया से निर्मित भवनो से सुन्दर, चमकते हुए रत्ना से सुशोभित व इन्द्रधनुष के समान अनेक रगो वाले गोपुरो (फाटको) से विभूषित गन्धर्वों के उस सनातन (सदैव एक रूप रहनेवाले) नगर को देवागनाओ ने वन-विहार की इच्छा से त्याग दिया ॥१॥

टिप्पणी—अर्थात् अप्सराएँ गन्धव नगर से बाहर निकल कर वन-विहार के लिए चल पडी। छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा उपमा अलकार की समृष्टि। इस सर्ग मे वशस्थ वृत्त है।

यथायथ ता सहिता नभश्चरै प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुध ।
वन विशन्त्यो वनजायतेक्षणा क्षणद्युतीना दधुरेकरूपताम् ॥२॥

अन्वय ——वनजायतेक्षणा ता यथायथ नभश्चरै सहिता प्रभाभि उद्भासितशैलवीरुध वन विशन्त्य क्षणद्युतीनाम् एकरूपता दधु ॥२॥

अर्थ—वे कमललोचना अप्सराएँ अपने-अपने प्रिय गन्धर्वों के साथ अपनी कान्ति से पर्वतो एव लताओ आदि को उद्भासित करती हुई वन मे प्रवेश करते समय (रुक रुक कर चमकने वाली) बिजली की छटा के समान सुशोभित होने लगी ॥२॥

टिप्पणी—मेघो मे बिजली जैसे रुक रुक कर चमकती है वैसे हो वृक्षो एव लताओ के बीच-बीच मे अप्सराएँ अपने प्रियतमो के साथ चमकती हुई दिखाई पड रही थी। श्लेष से अनुप्राणित उपमा अलकार।

निवृत्तवृत्तोरपयोधरक्लम प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारव ।
नितम्बिनीना भृशमादधे धृति नभ प्रयाणादवनौ परिक्रम ॥३॥

अन्वय —निवृत्तवृत्तोरपयोधरक्लम प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारव अवनौ परिभ्रम नितम्बिनीना नभ प्रयाणात् भृश धृति आदधे ॥३॥

अर्थ—उन नितम्बिनी सुरबालाओ का पृथ्वी पर पैदल चलना आकाश के सचरण से अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ क्योकि इससे उनके गोले-गोले जघनस्थलो एव स्तनो की थकावट दूर हो रही थी और साथ ही उनके नूपुरो से मजुल ध्वनि भी हो रही थी ॥३॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलकार।

घनानि काम कुसुमानि बिभ्रत करप्रचेयान्यपहाय शाखिन ।
पुरोऽभिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिन ॥४॥

*अन्वय —घनानि करप्रचेयानि काम कुसुमानि बिभ्रत शाखिन अपहाय* सुन्दरीजनै पुर अभिसस्रे । हि कामिन गुणेषु यथोत्तरेच्छा ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त सघन हाथ से पाने योग्य यथेष्ट पुष्पो को धारण करने वाले वृक्षो को छोडकर वे सुर-बालाएँ आगे ही बढती गयी। सच है, कामी लोग सर्वदा अच्छे-अच्छे गुणो की खोज मे लगे रहते है ॥४॥

*टिप्पणी—परिकरोत्थापित अर्थान्तरन्यास अलकार।*

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवा स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृत ।
विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहृता सिषेविरे ॥५॥

अन्वय —विलेपनामोदहृता वनालय तनू *अलक्तारुणपाणिपल्लवा* स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृत विलासिनीबाहुलता सिषेविरे ॥५॥

अर्थ—अगरागो की सुगन्ध से आकृष्ट वन के भ्रमरो ने देवागनाओ की *उन पतली-पतली भुजलताओ का सेवन किया, जो आलते से रगी हुई लाल-*हथेली-रूपी पल्लवो से युक्त थी, एव चमकते हुए नखो की कान्ति रूपी मजरियो से सुशोभित थी ॥५॥

*टिप्पणी—रूपक अलकार।*

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥६॥

अन्वयः—शिलीमुखैः निपीयमानस्तबकाः चलबालपल्लवा अमन्ददष्टौष्ठकरावधूनन विडम्बयन्ती अशोकयष्टि वधूजनैः ददृशे ॥६॥

अर्थ—अप्सराओं ने भ्रमरों द्वारा जिनके पुष्प-स्तवकों के मकरन्द पी लिए गए थे, और जिनके चंचल लाल पल्लव हिल रहे थे, उन अशोक-लताओं को *नायक द्वारा कसकर होठ के काट लेने पर दोनों हाथों को झटकनेवाली नायिका* का अनुकरण करते हुए देखा ॥६॥

टिप्पणी—जैसे नायक द्वारा कस कर होंठ काट लेने पर नायिका दोनों हथेलियाँ झटकती हैं, उसी प्रकार भ्रमरों द्वारा पुष्प-स्तवकों को पी लेने पर अशोक लता भी अपने नूतन लाल पल्लवों को हिला रही थी । उपमा और समासोक्ति का अगांगीभाव से सकर ।

[ कोई नायक किसी भ्रमरपीडिता-नायिका से कहता है—]

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः ॥७॥

अन्वयः—हे मानिनि ! नवपल्लवाकृती करौ धुनाना वृथा परिश्रम मा कृथाः । कल्पलताभिशङ्कया उपेयुषी षट्पदावलिः कथं नु इतस्त्रस्यति ॥७॥

अर्थ—अरी मानिनी ! नूतन किसलयों के समान मनोहर हथेलियों को कँपाती हुई तुम व्यर्थ परिश्रम मत करो । यह भ्रमर पंक्ति कल्पलता की शका से समीप में आई हुई है, तुम इससे क्यों डर रही हो ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् इससे डरने की आवश्यकता नहीं है । भ्रान्तिमान्, उपमा और अर्थान्तरन्यास का सङ्कर ।

[ कोई सखी किसी प्रणय-कुपिता मानिनी से कह रही है—]

जहीहि कोपं दयितोऽनुगम्यतां पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः ।
इति प्रियं काञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः ॥८॥

अन्वय —प्रियम् उपैतुम् इच्छती काञ्चित् निपुण सखीजन कोप जहीहि, दयित अनुगम्यताम् । चञ्चल तव मन पुरा अनुशेते—इति पुर अनुनिन्ये ॥८॥

अर्थ—'मान त्याग दो, अपने प्रियतम के पास चलो, तुम्हारा मन चचल है, आगे चलकर पछताओगी ।' अपने प्रियतम के पास जाने के लिए इच्छुक किसी नायिका से उसकी चित्तवृत्ति समझने वाली किसी सखी ने इस प्रकार की बातें करके उसे पहले ही प्रसन्न कर लिया ॥८॥

[नीचे के चार श्लोको का अर्थ एक ही म है—]

समुन्नतै काशदुकूलशालिभि परिक्वणत्सारसपक्तमेखलै ।
प्रतीरदेशै स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिता कुञ्जसमुद्रयोषित ॥९॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुपश्च्युता प्रवाहादभित प्रसारिण ।
प्रियाङ्कशीता शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिविन्दव ॥१०॥

सखीजन प्रेम गुरूकृतादर निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तय ।
स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभि पुष्पविलोचनैर्लता ॥११॥

उपेयुपीणा वृहतीरधित्यका मनासि जह्रु सुरराजयोपिताम् ।
कपोलकापै करिणा मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दना ॥१२॥

अन्वय —समुन्नतै काशदुकूलशालिभि परिक्वणत्सारसपक्तिमेखलै स्वक लत्रचारुभि प्रतीरदेशै विभूषिता कुञ्जसमुद्रयोषित विदूरपातेन भिदा उपेयुप प्रवाहात् च्युता अभित प्रसारिण प्रियाङ्कशीता शुचिमौक्तिकत्विप वनप्रहासा इव वारिबिन्दव, स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरै विसारिभि पुष्पविलोचनै गुरूकृतादर प्रेम सखीजन निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तय लता, मदारुणै करिणाम् कपोलकापै उपाहितश्यामरुच चन्दना च वृहती अधित्यका उपेयुपीणाम् सुरराजयोपिता मनासि जह्रु ॥९ १२॥

अर्थ—फूली हुई ऊँची-ऊँची कास रूपी साडिया से अलकृत, बोलते हुए सारसो की पक्ति-रूपी मेखलाओं से सुशोभित, ऊँचे-ऊँचे कगारो रूपी अपने

मनोहर नितम्बो से विभूषित वन की नदियाँ, दूर से गिरने के कारण खण्ड-खण्ड रूप मे विभक्त प्रवाहो से दूर हटकर चारो ओर फैले हुए प्रियतम के अक के समान शीतल, पवित्र मोती के समान चमकने वाले मानो वन के हास की भाँति दिखाई पड़ने वाले जलविन्दु, निश्चल भ्रमर-रूपी अजनो से अजित एव विकसित पुष्प रूपी नेत्रो से मानो सखियो को आदर-सत्कार के लिए अत्यन्त प्रेम से देखती हुई की भाँति नीचे झुकी हुई लताएँ एव मदजल से लाल रग के कपोलो के खुजलाने से श्यामल रग के चन्दनो के वृक्ष पर्वत की अधित्यका (चोटी) पर पहुँची हुई उन देवागनाओ के मन को हरने लगे ॥९-१२॥

टिप्पणी—जिन चारो वस्तुओ ने देवागनाओ का मन मोह लिया, उन्हीं का एक-एक श्लोक मे वर्णन किया गया है। प्रथम श्लोक मे गम्यमान उपमा। द्वितीय श्लोक मे उपमा और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि। तृतीय श्लोक म रूपक और उत्प्रेक्षा का सकर और चतुर्थ श्लोक मे काव्यलिंग अलकार है।

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमाना प्रसवेन शाखिनाम्।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छता प्रियाणि चक्रु प्रणयेन योषित ॥१३॥

अन्वय—चित्तहारिणा शाखिना प्रसवेन विलोभ्यमाना योषित स्वगोचरे सत्यपि उपकर्तु इच्छता नभश्चराणा प्रणयेन प्रियाणि चक्रु ॥१३॥

अर्थ—चित्त को मोहित कर लेने वाले वृक्षो की पुष्प-समृद्धि से आकृष्ट उन देवागनाओ ने अपने हाथ से पुष्पादि के सुलभ होने पर भी, सेवा-शुश्रूषा द्वारा उपकार करने के इच्छुक गन्धर्वों के प्रेम से उनका प्रिय कार्य किया ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् यद्यपि उन वृक्षो मे पुष्पादि इतने समीप थे कि देवागनाएँ अपने ही हाथ से चुन सकती थी, तथापि गन्धर्वो को प्रसन्न करने के लिए उन्ही से चुनवा कर लिया।

प्रयच्छतोच्चै कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्र दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवल लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥१४॥

अन्वय —कुसुमानि प्रयच्छता दयितेन उच्चै विपक्षगोत्रम् लम्भिता मानिनी न किञ्चित् ऊच। केवल वाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुव लिलेख ॥१४॥

अर्थ—पुष्प चुनकर देते समय नायक ने उच्चस्वर से जब सपत्नी का नाम ले लिया तब मानिनी नायिका कुछ भी नहीं बोली। वह केवल आँसुओं से डबडबाई हुई आँखों से युक्त होकर चरणों द्वारा धरती पर मिट्टी कुरेदती रही ॥१४॥

टिप्पणी—सपत्नी का नाम लेने से उसे जलन हुई। मानिनी थी अत बोली कुछ भी नहीं, केवल रोती ही रही ।

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टि शिथिलाकुलोच्चया ।
समादधे नांशुकमाहित वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥१५॥

अन्वय —वाच यच्छति प्रिये निबद्धदृष्टि उन्मुखी शिथिलाकुलोच्चया अपरा अशुक न समादधे। पुष्पेषु वृथा आहित पाणिपल्लव न विवेद ॥१५॥

अर्थ—नायक के साथ वार्तालाप करती हुई एक दूसरी नायिका अपलक दृष्टि से उसी की ओर उन्मुख होकर देख रही थी, उसकी नीवी (फुँफुदी) ढीली हो गयी थी किन्तु वह उसे सँभाल नहीं रही थी। यही नहीं, फूलों को तोडते समय उनके पल्लव रूपी हाथ व्यर्थ ही इधर उधर हो रह थे, यह भी वह नहीं जान पा रही थी ॥१५॥

टिप्पणी—उसका चित्त नायक की बातों में लगा था। वह प्रगल्भा नायिका थी। उपमा और रूपक का सन्देह सकर।

सलीलमासक्तलतान्तभूषण समासजन्त्या कुसुमावतसकम् ।
स्तनोपपीड नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ॥१६॥

अन्वय —आसक्तलतान्तभूषण कुसुमावतसक सलील समासजन्त्या कान्तया कश्चित् स्तनोपपीड नितम्बिना घनेन जघनेन नुनुदे ॥१६॥

अर्थ—( प्रियतम द्वारा दिए गए ) नूतन कोमल पल्लवों के साथ बनाए गए पुष्प के मस्तकाभूषण को लीलापूर्वक धारण किए हुए एक सुन्दरी ने स्तनों

का गाढ आलिंगन देकर अपने सघन जघनस्थलो मे अपने नायक को प्रसन्न कर लिया ॥१६॥

टिप्पणी—यह भी प्रगल्भा नायिका थी ।

[नीचे के दोनो श्लोको का अर्थ एक ही मे है—]

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा ।
वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥१७॥
विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ॥१८॥

अन्वय—विलोलनीविना कलत्रभारेण गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वात् ताम्यता उदरेण विलम्बमानाकुलकेशपाशया आविष्कृतबाहुमूलया कयाचित् तरुप्रसूनानि अपदिश्य सादर मनोधिनाथस्य मन समाददे ॥ १७-१८ ॥

अर्थ—एक दूसरी देवागना के, जिसके नितम्ब के भारी होने के कारण उसके भार से नीवी-बन्धन ढीले हो गए थे, जिसके वक्षस्थल के वस्त्रो के उड जाने से दोनो स्तन स्पष्ट दिखाई पड रहे थे और अति विस्तृत न होने के कारण जिसके दुर्बल उदर भाग पर त्रिवली के न होने से रोमावली स्पष्ट दिखाई पड रही थी, पीठ पर लबी लबी केशराशि लटक रही थी और उसके बाहुओ के मूलभाग भी खुले हुए । (इस प्रकार) फूलो के चुनने के बहाने से अत्यन्त अभिलाषा के साथ उसने अपने प्रियतम के मन को अपनी ओर खीच लिया ॥१७-१८॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक मे स्वभावोक्ति तथा दूसरे मे स्वभावोक्ति और काव्यलिंग का अगागीभाव से सकर ।

व्यपोहितु लोचनतो मुखानिलैरपारयन्त किल पुष्पज रज ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मना प्रिय जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥१९॥

अन्वय—उन्नतपीवरस्तनी काचित् लोचनत पुष्पज रज मुखानिलै व्यपोहितुम् अपारयन्त किल प्रियम् उन्मना पयोधरेण उरसि जघान ॥१९॥

अर्थ—ऊँचे, कठोर विशाल स्तनोवाली एक देवागना ने मुख की भाप द्वारा आंखो से पुष्प-पराग निकालने मे व्यर्थ ही असमर्थ होने वाले अपने प्रियतम के वक्षस्थलपर उत्कण्ठित होकर अपने स्तनो से प्रहार कर दिया ॥१९॥

टिप्पणी—उसका प्रियतम भाप से पराग निकालने के बहाने से उसके मुख के सुखद-स्पर्श का आनन्द ले रहा था। जब नायिका को उसकी चालाकी मालूम हो गयी तो उसने अपने स्तनो से उसके वक्षस्थल को ताडित किया। यह भी प्रगल्भा नायिका थी।

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्रपल्लवे।
विहाय नि.सारतयेव भूरुहान्पद वनश्रीर्वनितासु सन्दधे ॥२०॥

अन्वय.—यथाभिरामम् कुसुमाग्रपल्लवे इमानि अमूनि-इति शनै. अपवर्जिते वनश्री. नि.सारतया इव भूरुहान् विहाय वनितासु पद सन्दधे ॥२०॥

अर्थ—अच्छे-अच्छे पुष्पो और पल्लवो के, इनको, ( मैं लूंगी ) उनको (तुम ले लो ) धीरे-धीरे ऐसा कह कर चुन लिए जाने पर उस वन की शोभा ने मानो वृक्षो को निस्सार समझ कर छोड दिया और उन देवागनाओ मे आकर अपना आश्रय बन लिया ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् धीरे-धीरे देवागनाओ ने बन के अच्छे-अच्छे पुष्पो और पल्लवो को चुन लिया और वनश्री मानो उन्ही मे आकर बस गई। अति-शयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलकार का सकर।

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लव· परागपाण्डूकृतपीवरस्तन.।
महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ॥२१॥

अन्वय.—प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लव परागपाण्डूकृतपीवरस्तन.पुष्पसुगन्धिः अङ्गनाजनः महीरुहः वपु गुणोच्छ्राय आददे इव ॥२१॥

अर्थ—नूतन पल्लवो के तोडने के कारण उनके रस से रंगकर देवागनाओ के कर-किसलय लाल वर्ण के हो गए थे, पुष्पो के पराग से उनके कठोर स्तन पीले वर्ण के हो गए थे, उनके अग पुष्पो की सुगन्ध से सुवासित हो रहे थे,

इस प्रकार मानो उन देवागनाओ ने अपने शरीर की शोभावृद्धि की समस्त सामग्री उन्ही वृक्षो से प्राप्त कर ली थी ॥२१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार।

[नीचे के पाँच श्लोको का अर्थ एक ही मे है—]

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रिय ।
समेऽपि यातु चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलत पदे पदे ॥२२॥

विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।
स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युति श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवै ॥२३॥

समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभि ।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ॥२४॥

समानकान्तीनि तुषारभूषणै सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभि ।
चितानि घर्माम्बुकणै समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ॥२५॥

विनिर्यतीना गुरुखेदमन्थर सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मन ।
सविस्मय रूपयतो नभश्चरान्विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादर ॥२६॥

अन्वय—वारणहस्तपीवरै वरोरुभि चिराय खिन्नान् नवपल्लवश्रिय समे। अपि यातुम् अनीश्वरान् मदात् इव पदे पदे प्रस्खलत चरणान्, विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया नवसैकतद्युति जित्वा स्थितानि श्रमातिरिक्तै गौरवै जघनानि, समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलै नाभिभि उपनीवि उपाहितश्रीणि वलीविभङ्गिषु मध्येषु स्तनातिभारात् नम्रता दधन्ति उदराणि, धर्माम्बुकणै समन्तत चितानि अनुत्फुल्लविलोचनानि तुषारभूषणै अस्फुटपत्रपङ्क्तिभि सरोरुहै समानकान्तीनि मुखानि च—अनुसानु वर्त्मन गुरुखेदमन्थर विनिर्यतीना सुराङ्गनाना सविस्मय रूपयत नभश्चरान् तत्पूर्वम् इव ईक्षणादर विवेश ॥ २२-२६॥

अर्थ—इन्द्रनील के शिखरो के मार्गो पर अत्यन्त थकावट के कारण धीरे-धीरे चलती हुई उन देवागनाओ की हाथी के सूँड की सदृश मासल सुन्दर जघाओ

के भार से देर से थके हुए नूतन किसलय के समान शोभायमान कोमल चरण समतल भूमि पर भी चलने में असमर्थ थे। वे पग-पग पर मानो शराबी के पैरों की भाँति लड़खड़ा रहे थे। इसी प्रकार उनकी जघाएँ करधनी में जड़े हुए रत्नों का कान्ति से उत्पन्न मनोहर तथा ऊँचे पृथुल नितम्बो की शोभा से (गगा के) नूतन वालुकामय तटों की शोभा को जीत रही थी तथा अधिक परिश्रम की थकावट से वे बहुत भारी हो रही थी। इसी प्रकार उनके उदरो में किंचित् विकसित कमल की कलिका के समान मनोहर नाभियों से नीवी (फुफुदी) के समीप लुभावनी शोभा हो रही थी। वे (उदर) मध्यभाग में त्रिवलियो से सुशोभित तथा (जघन स्थलो पर) उन्नत एव विशाल स्तनो के भारी बोझ के पड़ने के कारण भीतर की ओर झुके हुए थे। इसी प्रकार उनके नेत्र पसीने की बूँदो से चारों ओर व्याप्त होने के कारण पूरे-पूरे नही खुल पा रहे थे, अतएव उनके मुख भी उन कमलों की शोभा की समानता कर रहे थे, जो जलबिन्दुओं से विभूषित एव अविकसित पखुडियों से युक्त होते है, इस प्रकार उपर्युक्त रीति से सुशोभित उन देवागनाओ के चरणों, जघाओ, उदरो, नेत्रो तथा मुखो को विस्मयपूर्वक देखने वाले गन्धर्वो ने इस तरह के कुतूहल से देखा मानो उन्हे वे पहली बार देख रहे हों ॥२२-२६॥

टिप्पणी—प्रथम चार श्लोको में इन्द्रकील के शिखरवर्ती मार्गों पर चलती हुई थकी देवागनाओं के चरणो, जघाओं, उदरो, नेत्रो तथा मुखों का वर्णन करते हुए कवि ने बताया है कि बहुत थक जाने के कारण उन सब की एक विचित्र ही शोभा हो गयी थी, जिससे उनके प्रियतम गन्धर्वों को भी ऐसा कुतूहल हुआ मानो वे प्रथम बार उनका दर्शन कर रहे हैं। प्रथम श्लोक में उपमा अलकार है। द्वितीय में भी उपमा अलकार है। चतुर्थ में भी उपमा है और पचम में उत्प्रेक्षा अलकार है किन्तु समष्टि रूप में इन पाँचो श्लोकों में स्वभावोक्ति अलकार है जो उत्प्रेक्षा का अग बन गया है।

[अब जलक्रीडा का वर्णन कवि आरम्भ कर रहा है—]

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसहतिः ।
पयोऽवगाढु कलहसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥२७॥

अन्वयः--अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहति. कलहसनादिनी सुरापगा वधूः पयः अवगाढु समाजुहाव इव ॥२७॥

अर्थ—(पुष्पो के चुनने के अनन्तर) चचल मछलियो के किल्लोल से जिसमे कमल कम्पित हो रहे थे, कीचड रहित तटो मे चचल लहरें जिसमे टकरा-टकरा कर फैल रही थी, एव राजहस जिसमे कलकूजन कर रहे थे—ऐसी ( वह) देवनदी मानो उन देवागनाओ को अपने शीतल जल मे स्नान के लिए बुला रही थी ॥२७॥

टिप्पणी—चचल मछलियो से गगा के नेत्र, चचल लहरो से हाथ तथा राजहसो के कलकूजन से उनकी वाणी का सकेत कवि ने किया है । उत्प्रेक्षा अलकार।

प्रशान्तघर्माभिभव. शनैर्विवान्विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरंगमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥२८॥

अन्वयः— प्रशान्तघर्माभिभवः शनै. विवान् परिमृष्टपङ्कज. आत्तशीकरः तरङ्गमालान्तरगोचरः अनिलः विलासिनीभ्य. भुजालम्बं ददौ इव ॥२८॥

अर्थ—धूप की परेशानियो को शान्त करने वाले मन्द-मन्द बहते हुए कमल-गन्धवाही वायु ने तरगो की पक्तियो मे से होते हुए मानो उन देवागनाओ को अपनी भुजाओ का अवलम्बन दे दिया ॥२८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि देवागनाएँ नदी-तट पर ज्योही पहुँची वहाँ की शीतल मन्द सुगन्ध वायु ने उनका स्वागत किया । ऊपर की ऊँची भूमि से नीचे उतरने वाली थकी-माँदी उन सुकुमार देवागनाओ को हाथ का अवलम्ब देकर उतारना उचित ही था । उत्प्रेक्षा अलकार ।

गतै. सहावैः कलहंसविभ्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः ।
मुखैः सरोजानि च दीर्घनेत्रैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥२९॥

अन्वय.—सुरस्त्रिय. सहावैः गतैः कलहंसविभ्रमं नितम्बिभिः कलत्रभारैः पुलिनं दीर्घनेत्रैः मुखैः सरोजानि च साम्यगुणान् निरासिरे ॥२९॥

अर्थ—देवागनाओ ने अपनी हाव-भाव भरी गति से राजहसो की गति को, पृथुल नितम्बो से युक्त जघनो के भार से नदी के बालुकामय तट प्रान्तों की मर्यादा एव विशाल नेत्रो से युक्त मुखो से कमलो की समानता को दूर कर दिया ॥२९॥

टिप्पणी—राजहसो की गति मे अप्सराओ की गति जैसी मन्दता तो थी किन्तु हाव-भाव नही थे, बालुकामय तट-प्रान्त उनके जघनो के समान ऊँचे एव चिकने तो थे किन्तु उनमे पृथुल नितम्बो केसमान कोई भार नही था एव कमल उनके मुखो के समान मनोहर तो थे किन्तु उनमे आँखें नही थीं। तब फिर गुणवान् एव निर्गुण मे समानता कैसी ?

विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयः पुरो विगाढाः सखिभिर्मरुत्वतः ।
कथञ्चिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथम प्रपेदिरे ॥३०॥

अन्वयः—मरुत्वत सखिभिः पुरः विगाढाः विभिन्नपर्यन्तगमीनपक्तयः सभीतिभिः सुरसुन्दरीजनैः तत्प्रथम कथञ्चित् आप. प्रपेदिरे ॥३०॥

अर्थ—इन्द्र के सचिव गन्धर्वो द्वारा ( कही गड्ढा अथवा ग्राह आदि तो नही है, इसकी प्रतीति के लिए ) प्रथम प्रवेश किये जाने पर, मछलियो की पक्तियाँ समूह से च्युत होकर जिसमे इधर-उधर तैर रही थी—ऐसे उस नदी के जल मे डरती हुई देवागनाओ का समूह, मानो प्रथम बार हो, इस तरह से किसी प्रकार प्रविष्ट हुआ ॥३०॥

*टिप्पणी—स्त्रियाँ अनजाने प्रदेश मे यो ही डरती है तब फिर नदी के जल* मे उनका यह डरना तो स्वाभाविक ही था। अतएव उनके प्रियतम गन्धर्वो ने पहिले प्रविष्ट होकर उन्हे यह विश्वास दिलाया कि इसमे गड्ढा और मगर आदि हिंसक जन्तु नही हैं।

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसवाहितपीवरोरुभिः ।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरगसहतिः ॥३१॥

*अन्वय.—प्रयत्नसवाहितपीवरोरुभिः रमणीभि. अम्भसि विगाढमात्रे* विभिद्यमाना तरङ्गसहतिः तीरेषु सारसान् उदस्य विससार ॥३१॥

अर्थ—बडे प्रयत्न से किसी प्रकार अपनी स्थूल मासल जघाओ को उठा *कर वे देवागनाएँ जैसे ही जल मे प्रविष्ट हुईं वैसे ही नदी की लहरो की* पक्तियाँ टूट-फूट कर तटो पर स्थित सारस आदि जल पक्षियो को दूर-दूर हटाकर फैल गईं ॥३१॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।
तटाभिनीतेव विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ॥३२॥

अन्वय —शिलाघनैः नाकसदा उरःस्थलैः बृहन्निवेशैः वधूपयोधरैश्च तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना अम्भसा रुषा इव कलुषत्वं भेजे ॥३२॥

अर्थ—पत्थर की शिलाओं के समान कठोर गन्धर्वों के वक्षस्थलों तथा अत्यन्त स्थूल एवं कठोर देवागनाओं के स्तनों से टकरा कर तटों पर पहुँचने के कारण टूटी हुई लहरियों से युक्त गङ्गा का जल मानो उन लोगों पर क्रुद्ध होकर कलुषित हो गया ॥३२॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से कोई मधुर स्वभाव का व्यक्ति कठोर स्वभाव के व्यक्ति द्वारा ताडित होकर निकाल दिया जाता है तब वह क्षुब्ध होता है उसी प्रकार नदी का जल भी मानो क्षुब्ध हो गया। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।
अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुस्सभया इवोर्मयः ॥३३॥

अन्वय —विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः प्रविलुप्तचन्दनाः अतिप्रसङ्गात् सुराङ्गनानां विहितागसः ऊर्मयः सभयाः इव, मुहुः प्रकम्पम् ईयुः ॥३३॥

अर्थ—देवागनाओं की केशराशि को बिखराती हुई, उनकी पुष्पमालाओं को चचल करती हुई, उनके चन्दनादि अङ्गरागों को मिटाती हुई और इस प्रकार उनका अत्यन्त अपराध करती हुई मानो वे नदी की लहरें भयभीत-सी होकर बारम्बार काँपने लगी ॥३३॥

टिप्पणी—अपराधी अपने अपराध के कारण दण्ड के भय से काँपता ही है। तात्पर्य यह है कि देवागनाओं की जलक्रीडा से नदी की लहरें चञ्चल हो गईं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।
हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान्विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः ॥३४॥

अन्वय—विपक्षचित्तोन्मथन ये नखव्रणा विभ्रममण्डनेन तिरोहिता हृतस्य, कुकुमस्य शेषान् इव विकत्थनीयान् तान् स्त्रिय अन्यया दधु ॥३४॥

अर्थ—सपत्नियो के चित्त को खटकनेवाले जो नखक्षत अब तक शृगार प्रसाधनो से ढँके हुए थे वे जल से धुलकर मानो कुकुमादि की शेष-रेखा के समान बन गए थे अत उनको उन रमणियो ने प्रियतम की प्राणवल्लभा होने की शेष मधुर स्मृति के रूप मे स्पष्ट ही रखा ॥३४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

[नीचे के दोनो श्लोको का अर्थ एक ही मे गुम्फित है—]

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टे स्विदमू विलोचने।
शिरोरुह स्विन्नतपक्ष्मसन्ततेर्द्विरेफवृन्द नु निशब्दनिश्चलम् ॥३५॥

अगूढहासस्फुटदन्तकेसर मुख स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम्।
इति प्रलीना नलिनीवने सखी विदाम्बभूवु सुचिरेण योषित ॥३६॥

अन्वय—अमू विलीनषट्पदे सरोजपत्रे नु, विलोलदृष्टे विलोचने स्वित् नतपक्ष्मसन्तते शिरोरुहा स्वित् निशब्दनिश्चलम् द्विरेफवृन्द नु। अगूढहास-स्फुटदन्तकेसर मुख स्वित् विकसत् एतत् पङ्कज नु—इति नलिनीवने, प्रलीना सखी योषित सुचिरेण विदाम्बभूवु ॥३५-३६॥

अर्थ—ये दोनो भ्रमरसेवित कमल दल हैं अथवा चचल नेत्रो वाली हमारी सखी के नेत्र ? ये सघन भौंहो वाली हमारी सखी के केशपाश हैं या चुपचाप निश्चल बैठे हुए भ्रमरो की पक्तियाँ ? मन्द-मन्द मुस्कान के कारण स्पष्ट केसर के समान शोभायमान दाँतो की कान्तियो से मनोहर हमारी सखी के ये मुख हैं या खिलते हुए कमल—इस प्रकार का तर्क वितर्क करते हुए कमलिनियो के वन मे छिपी अपनी किसी सखी को रमणियो ने बडी देर मे पहचाना ॥३५-३६॥

टिप्पणी—सन्देह अलङ्कार।

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसविधावुपाहिता वक्षसि पीवरस्तने।
स्रज न काचिद्विजहौ जलाविला वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।।३७।।

अन्वय —काचित् प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसन्निधौ पीवरस्तने वक्षसि उपाहिता स्रज जलाविला ता न विजहौ। गुणा प्रेम्णि वसन्ति वस्तुनि न ॥३७॥

अर्थ—किसी नायिका ने सपत्नी के सम्मुख प्रियतम द्वारा गूँथकर उन्नत उरोजो से सुशोभित वक्षस्थल पर पहिनाई गई पुष्पमाला को जल से म्लान होने पर भी नही छोडा। सच है, गुण तो प्रेम मे निवास करते हैं, वस्तु मे नही ॥३७॥

टिप्पणी—प्रेम वस्तु की उपयोगिता या अनुपयोगिता की अपेक्षा नही रखता। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

असशय न्यस्तमुपान्तरक्तता यदेव रोद्धु रमणीभिरञ्जनम्।
हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लता निरास रागो नयनेषु न श्रियम्।।३८।।

अन्वय —रमणीभि यत् अञ्जनम् न्यस्तम् उपान्तरक्तता रोद्धु एव असशय तस्मिन् सलिलेन हृते अपि राग नयनेषु शुक्लता निरास श्रियम् न ॥३८॥

अर्थ—सुन्दरियो ने जो अञ्जन लगा रखा था वह माना नेत्रो के समीप (कानो की) लालिमा की गति को रोकने के लिए ही था, यह निस्सन्देह समझना चाहिये, क्योकि उसके जल से धुल जाने पर भी लालिमा ने नेत्रो की श्वेतता को तो दूर कर दिया किन्तु शोभा को वह नही दूर कर सकी ॥३८॥

टिप्पणी—नदियो आदि मे देर तक स्नान करने से आँखें लाल हो जाती है। कवि उसी के सम्बन्ध मे एक नूतन उत्प्रेक्षा कर रहा है। उसका कथन है कि उन अप्सराओ का अजन का लगाना उनकी नेत्रो की शोभा-वृद्धि के लिए नही प्रत्युत आँखो समीप अर्थात् आँखो के कोनो मे जो लालिमा रहती है उसी को छिपाने के लिए था, क्योकि स्नान से जब अजन धुल गया तब लालिमा तो आँखों भर मे फैल गयी किन्तु शोभा की हानि तनिक भी नही हुई। प्रत्युत वह लालिमा भी उनका अलङ्कार ही बन गयी। गम्योत्प्रेक्षा।

द्युति वहन्तो वनितावतसका हृता प्रलोभादिव वेगिभिर्जलै ।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयता च्युताधिकारा सचिवा इवाययु ॥३९॥

अन्वय —द्युति वहन्त वेगिभि जलै प्रलोभात् हृता उपप्लुता वनितावतसका च्युताऽधिकारा सचिवा इव तत्क्षण शोचनीयता आययु ॥३९॥

अर्थ—शोभा (तेज को) धारण करने वाले वेगवान जला (मूर्खों) से लोभ के कारण छीने गए रमणियो के व बहते हुए, शिर के मलिन पुष्पाभूषण अधिकार से च्युत किए गए मन्त्रियो की भाँति तुरन्त ही शोचनीय स्थिति को पहुँच गए ॥३९॥

टिप्पणी—जिस प्रकार राजमन्त्री धूर्तो द्वारा पदच्युत करा दिए जाने पर श्रीविहीन हो जात हैं उसी प्रकार रमणियो की वे मालाएँ जिन्हे उन्होंने अपने शिर पर सजा रखा था, नदी की वेगवती जलधारा मे बहती हुई अशोभित दिखाई पडी । उपमा अलङ्कार ।

विपत्त्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि विभ्रती श्रियम् ।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलङ्कृत तद्वपुषैव मण्डनम् ॥४०॥

*अन्वय —विपत्त्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षी अपि श्रिय बिभ्रती* रामा निरीक्ष्य नभश्चरै तद्वपुषा एव मण्डनम् अलङ्कृतम बुबुधे ॥४०॥

अर्थ—स्नान के कारण रमणियो के तिलक एव अङ्गरचनाएँ धुल गयी हैं, अधरो से आलते का रङ्ग छूट गया है, आँखो मे से अजन भी पुछ गए है, किन्तु तब भी शोभा धारण करनेवाली उन रमणियो को देखकर गन्धर्वो ने यह समझ लिया कि इनके सुन्दर शरीरो से ही आभूषणो की शोभा होती है । ( न कि आभूषणो से इनके शरीरो की ) ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् सहज सुन्दर व्यक्तियो के लिए अलङ्कारो *की क्या उपयो*गिता ? विभावना अलङ्कार ।

तथा न पूर्व कृतभूषणादर प्रियानुरागेण विलासिनीजन ।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाह दृष्टीश्च विपक्षयोषिताम् ॥४१॥

अन्वय —विलासिनीजन पूर्वं प्रियानुरागेण कृतभूषणादर च विपक्षयोषिता दृष्टी तथा न ददाह यथा जलार्द्रं नखमण्डनश्रिया ।।४१।।

अर्थ—रमणियो ने अपने प्रेमियों की प्रीति के लिए जिन आभूषणो को पहन रखा था, उनके द्वारा उन्होने सपत्नियों की आखो को उतना नही जलाया जितना जल से भीग कर उन्होने अपने ( स्पष्ट दिखाई पडने वाले) नख-क्षतो की शोभा से उन्हे जलाया ।।४१।।

टिप्पणी—अर्थात् जल से भीगी हुई उन रमणियो के शरीर पर जब सपत्नियो ने नखक्षतों को देखा तो वे अत्यधिक जल उठी, उतनी जलन उन्हे प्रेमियो द्वारा पहिनाए गए सपत्नी के आभूषणो से भी नही हुई थी । जल से भीगी हुई वस्तु के सयोग से आग की जलन कुछ कम हो जाती है, किन्तु यहाँ तो ठीक उसका विपरीत हुआ । जलन बढ गई । विषम अलङ्कार ।

शुभानना साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु ।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वल न लेभिरे ता परभागमूर्मिषु ।।४२।।

अन्वय —शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्य भीरव ता साम्बुरुहेषु चलफेनपङ्क्तिषु हृतकुङ्कुमेषु ऊर्मिषु अल परभागम् न लेभिरे ।।४२।।

अर्थ—सुन्दर ( कमल से समान ) मुख वाली, मुक्ताओ की चञ्चल माला से विभूषित एव अत्यन्त गौरवर्ण की वे शङ्कालुप्रकृति रमणियाँ कमलो से विभूषित, चञ्चल फेना की पक्ति से सुशोभित तथा छूटे हुए कुकुम आदि के लाल रगो से अनुरजित जल की लहरो मे अपने से अधिक विशेषता नही पा सकी ।।४२।।

टिप्पणी—अर्थात् जो-जो विशेषताएँ जल की लहरो मे थी, वे ही और अधिक सुन्दर रूप मे स्वय उनमे भी विद्यमान थी । यथासख्य और सामान्य अलङ्कार का अगागी भाव से सकर ।

ह्रदाम्भसि व्यस्तवधूकराहते रव मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति ।
मुहु स्तनैस्तालसम समाददे मनोरम नृत्यमिव प्रवेपितम् ।।४३।।

अन्वय —ध्यस्तयधूकराहते ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिधीर रवम् उज्झति मुहु स्तनैस्तालसम मनोरमम् नृत्यम् इव प्रवेपितम् समाददे ॥४६॥

अर्थ—जलक्रीडा के समय रमणियों के एक हाथ से उठाकर दूसरे हाथ द्वारा ताडित होकर जल के मृदङ्ग के समान गभीर ध्वनि करने पर उनके स्तन ताल देने के समान हिलने लगे तथा वे शीत से कांपती हुई (स्वय) नृत्य सा करने लगी ।।४३।।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

श्रिया हसद्भि कमलानि सस्मितैरलङ्कृताम्बु प्रतिमागतैर्मुखै ।
कृतानुकूल्या सुरराजयोपिता प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ।।४४।।

अन्वय —श्रिया कमलानि हसद्भि सस्मितै प्रतिमागतै मुखै अलङ्कृताम्बु सुरराजयोपिता कृतानुकूल्या जाह्नवी प्रसादसाफल्यम् अवाप ॥४४॥

अर्थ—अपनी शोभा से कमलो का उपहास करनेवाले, ईपत् हास्य युक्त प्रतिबिंबित मुखो से सुशोभित एव देवागनाओ के जलविहारादि उपकारो मे रत गङ्गा ने अपने निर्मल स्वच्छ जल की सफलता को यथेष्ट रूप मे प्राप्त किया ।।४४।।

टिप्पणी—गगा का जल यदि स्वच्छ निर्मल न होता तो देवागनाएँ न तो उसमे विहार ही करती और न उनके मुख का प्रतिबिम्ब ही उसमे दिखाई पडता। स्वच्छ (हृदय के) लोग ही दूसरो द्वारा उपकृत हो सकते हैं और स्वय दूसरो का उपकार कर सकते है। काव्यलिंग अलङ्कार।

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टय ।
उपाययु कम्पितपाणिपल्लवा सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ।।४५।।

अन्वय —परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव त्रासविलोलदृष्टय कम्पितपाणि- पल्लवा सुरागना सखीजनस्य अपि विलोकनीयताम् उपाययु ॥४५॥

अर्थ—जल मे तैरती हुई मछलियो द्वारा जाँघो मे धक्का लग जाने से भयभीत एव चचलदृष्टि रमणियाँ जब अपने पाणि पल्लवो को झटकने लगी तो

वे अपनी सखियों के लिए भी दर्शनीय बन गयी। (प्रेमियो के बारे मे तो ही क्या ?) ॥४५॥

टिप्पणी—स्वाभावोक्ति अलङ्कार।

भयादिवाश्लिष्य झपाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामा: कृतकैरपीहितैः ॥४६॥

अन्वय —मानिनी अम्भसि झपाहते भयात् इव मुदा आश्लिष्य, प्रियं आनन्दयति स्म। रामा: अकृत्रिमप्रेमरसाहितैः कृतकैः अपि ईहितैः मनः हरन्ति ॥४६॥

अर्थ—एक मानिनी नायिका एक बड़ी मछली द्वारा जल मे धक्का लग जाने से मानो भयभीत सी होकर अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने प्रेमी से लिपट कर उसे आनन्दित करने लगी। सच है, स्त्रियाँ अपनी बनावटी चेष्टाओ से भी, यदि वे स्वाभाविक प्रेम-रस से परिपूर्ण होती हैं तो प्रेमियो का मन मोह लेती है ॥४३॥

टिप्पणी—उसका बनावटी भय वास्तविक प्रेमरस से परिपूर्ण था। मीलन अलकार तथा *अर्थान्तरन्यास की समृष्टि।*

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूना वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥४७॥

अन्वय —अपां विगाहात् नितान्तम् आकुलैः प्रसारिभिः अलकैः तिरोहितान्तानि वधूना वदनानि द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः तुल्यतां ययुः ॥४७॥

अर्थ—जल-विहार करने के कारण नितान्त बिखरे हुए लवे-लवे केशपाशो से ढँके हुए देवागनाओं के मुख भ्रमर की पक्तियो द्वारा छिपे हुए कमलो की समानता को प्राप्त हो रहे थे ॥४७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसम्भ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥४८॥

अन्वय —मानिनी पयसि अगाधे किल जातसम्भ्रमा नवपल्लवाकृती करौ धुनाना सखीषु निर्वाच्यम् अधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषं अवाप ॥४८॥

अन्वय —ध्वस्तवधूकराहते ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिधीर रवम् उज्झति मुहु स्तनैस्तालसमम मनोरमम् नृत्यम् इव प्रवेपितम् समाददे ॥४६॥

अर्थ—जलक्रीडा के समय रमणियो के एक हाथ से उठाकर दूसरे हाथ द्वारा ताडित होकर जल के मृदङ्ग के समान गभीर ध्वनि करने पर उनके स्तन ताल देने के समान हिलने लगे तथा वे शीत से काँपती हुई (स्वय) नृत्य सा करने लगी ॥४३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलङ्कृताम्बु प्रतिमागतैर्मुखै ।
कृतानुकूल्या सुरराजयोषिता प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥४४॥

अन्वय —श्रिया कमलानि हसद्भि सस्मितै प्रतिमागतै मुखै अलङ्कृताम्बु सुरराजयोषिता कृतानुकूल्या जाह्नवी प्रसादसाफल्यम् अवाप ॥४४॥

अर्थ—अपनी शोभा से कमलो का उपहास करनेवाले, ईषत् हास्य युक्त प्रतिबिंबित मुखो से सुशोभित एव देवागनाओ के जलविहारादि उपकारो मे रत गङ्गा ने अपने निर्मल स्वच्छ जल की सफलता को यथेष्ट रूप मे प्राप्त किया ॥४४॥

टिप्पणी—गगा का जल यदि स्वच्छ निर्मल न होता तो देवागनाएँ न तो उसमे विहार ही करती और न उनके मुख का प्रतिबिम्ब ही उसमे दिखाई पडता। स्वच्छ (हृदय के) लोग ही दूसरो द्वारा उपकृत हो सकते हैं और स्वय दूसरो का उपकार कर सकते हैं। काव्यलिंग अलङ्कार।

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टय ।
उपाययु कम्पितपाणिपल्लवा सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥४५॥

अन्वय —परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरव त्रासविलोलदृष्टय कम्पितपाणिपल्लवा सुरागना सखीजनस्य अपि विलोकनीयताम् उपाययु ॥४५॥

अर्थ—जल म तैरती हुई मछलियो द्वारा जाँघो मे धक्का लग जाने से भयभीत एव चचलदृष्टि रमणियाँ जब अपने पाणि पल्लवो को झटकने लगी तो

वे अपनी सखियों के लिए भी दर्शनीय बन गयीं। (प्रेमियों के बारे में तो ही क्या ?) ॥४५॥

टिप्पणी—स्वाभावोक्ति अलङ्कार।

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥४६॥

अन्वय—मानिनी अम्भसि झषाहते भयात् इव मुदा आश्लिष्य, प्रियं आनन्दयति स्म। रामाः अकृत्रिमप्रेमरसाहितैः कृतकैः अपि ईहितैः मनः हरन्ति ॥४६॥

अर्थ—एक मानिनी नायिका एक बड़ी मछली द्वारा जल में धक्का लग जाने से मानो भयभीत-सी होकर अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने प्रेमी से लिपट कर उसे आनन्दित करने लगी। सच है, स्त्रियाँ अपनी बनावटी चेष्टाओं से भी, यदि वे स्वाभाविक प्रेम रस से परिपूर्ण होती हैं तो प्रेमियों का मन मोह लेती हैं ॥४३॥

टिप्पणी—उसका बनावटी भय वास्तविक प्रेमरस से परिपूर्ण था। मीलन अलकार तथा अर्थान्तरन्यास की समृष्टि।

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥४७॥

अन्वय—अपां विगाहात् नितान्तम् आकुलैः प्रसारिभिः अलकैः तिरोहितान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः तुल्यतां ययुः ॥४७॥

अर्थ—जल विहार करने के कारण नितान्त बिखरे हुए लंबे-लंबे केशपाशों से ढँके हुए देवांगनाओं के मुख भ्रमर की पंक्तियों द्वारा छिपे हुए कमलों की समानता को प्राप्त हो रहे थे ॥४७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसम्भ्रमा।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥४८॥

अन्वय—मानिनी पयसि अगाधे किल जातसम्भ्रमा नवपल्लवाकृती करौ धुनाना सखीषु निर्वाच्यम् अधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषं अवाप ॥४८॥

अर्थ—एक मानिनी नायिका अगाध जल मे डूब जाने की शङ्का से त्रस्त होकर नूतन पल्लव के समान अपने मनोहर हाथो को कँपाती हुई अपने प्रेमी के अगो से लिपट गई। उसके इस व्यवहार पर उसकी सखिया ने धृष्टता का आरोप नही लगाया ॥४८॥

टिप्पणी—मीलन अलङ्कार।

प्रियै सलील करवारिवारित प्रवृद्धनि श्वासविकम्पितस्तन ।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजन ॥४६॥

अन्वय —प्रियै सलील करवारिवारित प्रवृद्धनि श्वासविकम्पितस्तन सविभ्रमा धूतकराग्रपल्लव विलासिनीजन यथार्थताम् आप ॥४६॥

अर्थ—प्रेमियो द्वारा लीलापूर्वक हाथो से जल का छींटा देते हुए विलासिनियाँ जब रोक दी गयी तो लबी-लबी साँसें खीचने लगी और उनके स्तन काँपने लगे और वे हाव भाव के साथ अपनी पल्लवानुकारिणी हथेलियाँ हिलाने लगी। इस प्रकार उन्होने अपने विलासिनी नाम की सार्थकता सिद्ध कर दी ॥४६॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

उदस्य धैर्य दयितेन सादर प्रसादितायाः करवारिवारितम्।
मुख निमीलन्नयन नतभ्रुव श्रिय सपत्नीवदनादिवाददे ॥५०॥

अन्वय —दयितेन धैर्य उदस्य सादर प्रसादितायाः नतभ्रुव करवारिवारितम् निमीलन् मुख सपत्नीवदनात् इव श्रियम् आददे ॥५०॥

अर्थ—प्रेमी ने अपनी धीरता अर्थात् कठोरता दूर कर आदरपूर्वक प्रसन्न की गई सुन्दरी की नम्र भौहो वाली आँखो पर जब जल के छींटे डालना शुरू किया तब उसने आँखे मूँद ली जिससे उसका मुख मानो सपत्नी के मुख की शोभा धारण करने लगा ॥५०॥

टिप्पणी—अर्थात् उस समय उसका मुख सुन्दर नही मालूम पड रहा था। सपत्नियाँ भी ऐसे प्रसगो पर क्रोध से आँखें मूँद लेती हैं। उत्प्रेक्षा अलकार।

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतस ।
सखीव काञ्चीपयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयवन्धमशुकम् ॥५१॥

अन्वय—धृताम्भसि पाणौ प्रियेण विहस्य विधृते सति मदनार्द्रचेतस. वध्वा वीतोच्चयवन्ध अशुक पयसा घनीकृता काञ्ची सखी इव बभार ॥५१॥

अर्थ—अपने प्रियतम के ऊपर डालने के लिए किसी सुन्दरी ने ज्योही अपनी अजलि मे पानी लिया त्यों ही उसके प्रियतम ने हँसकर उसका हाथ पकड लिया। इससे चित्त मे कामोद्रेक होने से परवश उस सुन्दरी का नीवी-वन्धन ढीला हो गया और वस्त्र खिसकने लगा किन्तु उसे उसी क्षण जल मे भीगने से कडी हुई करधनी ने मानो सखी की भाँति खिसकने से रोक लिया ॥५१॥

टिप्पणी—स्त्रिया की लज्जा स्त्रियाँ ही रख सकती हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

निरञ्जने साचिविलोकित दृशावयावक वेपथुरोष्ठपल्लवम्।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलक तदास्पदम् ॥५२॥

अन्वय—नतभ्रुव विग्रहे निरञ्जने दृशौ साचिविलोकित अयावक ओष्ठ-पल्लव वेपथु अतिलक तदास्पद वलिक्रिया च मण्डयति स्म ॥५२॥

अर्थ—उन नीची भौहो वाली सुन्दरियों के शरीर मे अजनरहित आँखो को उनकी तिरछी चितवन ने, लाल रग से विहीन ओठों को उनके कम्पन ने तथा तिलकरहित उनके ललाटो को उनकी ललाट की तिरछी रेखाओ ने विभूपित किया ॥५२॥

टिप्पणी—इस प्रकार इन अलङ्कारो से विहीन सुन्दरियो के शारीरिक विकारो ने ही उन्हें विभूपित किया।

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषा प्रियोपकण्ठ कृतगात्रवेपथु ।
निमज्जतीना श्वसितोद्धतस्तन श्रमो नु तासा मदनो नु पप्रथे ॥५६॥

अन्वय—प्रियोपकण्ठ निमज्जतीना निमीलदाकेकरलोलचक्षुषा तासा कृतगात्रवेपथु श्वसितोद्धतस्तन श्रम नु मदन नु पप्रथे ॥५६॥

*अर्थ*—प्रेमियो के अत्यन्त समीप मे स्नान करने के कारण अर्द्धनिमीलित एव तिरछे कटाक्षो वाली उन रमणियो के शरीर मे कम्पन एव लबी साँसो के लेने से हिलते हुए स्तन पता नही उनके थके होने की सूचना दे रहे थे या उनके कामपीडित होने की ॥५३॥

टिप्पणी—कामपीडित होने पर भी यही सब विकार उत्पन्न होते हैं। सन्देह अलङ्कार।

प्रियेण सिक्ता चरम विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनै ।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतस किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते ॥५४॥

अन्वय —काचित् प्रियेण विपक्षत चरम सिक्ता चुकोप, सान्त्वनै न तुतोष। रूढप्रणयस्य चेतस अमर्ष किमपि अनुनये भृशायते ॥५४॥

*अर्थ*—एक सुन्दरी अपने प्रेमी द्वारा अपनी *सपत्नी के अनन्तर (जल द्वारा)* भिगोए जाने पर क्रुद्ध हो गयी। उसके अनुनय विनय से भी वह सन्तुष्ट नही हुई। सच है, प्रगाढ प्रेमी जनो के चित्त का अमर्ष अनुनय विनय करने से बढ़ता ही है ॥५४॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

इत्थ विहृत्य वनिताभिरुदस्यमान
पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभि ।
*उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेश-*
मौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुर प्रतस्थे ॥५५॥

अन्वय —पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभि वनिताभि इत्थ विहृत्य उदस्यमान उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेशम् वारि औत्सुक्यनुन्नम् इव पुर प्रतस्थे ॥५५॥

अर्थ—इस प्रकार कठोर एव ऊँचे स्तनो तथा पृथुल जघन स्थलो से सुशोभित उन देवागनाओ द्वारा जल क्रीडा के अनन्तर (जल से) बाहर निकलने पर नदी का जल अत्यन्त क्षुब्ध होकर *लबी-लबी तरगो के उठने से अपने तट प्रदेश*

को लाँघकर मानो उनके विरह की व्याकुलता से प्रेरित होकर साथ-साथ बहुत आगे तक चला गया ॥५५॥

टिप्पणी—क्षुब्ध जल की लहरें अपने तट से दूर तक फैल जाती हैं। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है मानो जल देवागनाओं के वियोग से विह्वल होकर उनके साथ-साथ दूर तक चला जा रहा है। प्रियजन अथवा स्वजन लोग विदाई के समय कुछ दूर तक साथ-साथ चलते ही हैं। उत्प्रेक्षा अलङ्कार। वसन्ततिलका छन्द।

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनाम्ना
नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः।
संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारा-
स्तारावितानतरला इव यामवत्यः॥५६॥

अन्वय.—रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि तीरान्तराणि नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियः सुरसरिज्जलधौतहारा ता तारावितानतरला यामवत्य इव संरेजिरे॥५६॥

अर्थ—चक्रवाको के जोडो को दूसरे तट पर पहुँचा कर एव कमल वनो की शोभा को फीकी कर देवनदी गङ्गा के जल से धुली हुई मुक्तामालाओ से विभूषित वे देवागनाएँ तारागणो से सुशोभित रात्रियो के समान शोभायमान हुईं ॥५६॥

टिप्पणी—देवागनाओ के सभी कार्य रात्रि के समान ही हुए। रात्रि मे ही चक्रवाको के जोडो का वियोग होता है और कमल वनो की शोभा फीकी होती है, एव तारागण चमकते हैं। उपमा अलङ्कार। वसन्ततिलका छन्द।

सङ्क्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं
विच्छिन्नभूषणमणिप्रकराशुचित्रम्।
बद्धोर्मि नाकवनितापरिभुक्तमुक्तं
सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम्॥५७॥

अन्वयः—सङ्क्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेद विच्छिन्नभूषणमणि प्रकराशुचित्रम् बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तम् सिन्धो सलिलम् शयनीयलक्ष्मीम् बभार॥५७॥

अर्थ—रमणियो के अगो मे लगे हुए चन्दन के लेपो के घुल जाने से अन्य रग की यनवर, (स्नान के समय जल्दी मे) टूटे हुए आभूषणो की मणियो की कान्तियो से रग-विरगी एव लहरो से युक्त, देवागनाओ द्वारा जलविहार के अनन्तर छोडी गई उस देवनदी गगा की जलराशि, शैय्या की शोभा धारण कर रही थी ॥५७॥

टिप्पणी—शैय्या मे भी अङ्गरागो के छूटने से उसका दूसरा रग हो जाता है। विहार के समय टूटकर गिरे हुए आभूषणो के रत्न बिखरे होते हैं तथा उसमें भी लहरो के समान ही सिकुडन आ जाती है। निदर्शना अलङ्कार।

श्री भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य म आठवाँ सर्ग समाप्त ॥८॥

# नवाँ सर्ग

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्तपरिधानविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥१॥

*अन्वय.—अथ भानुमान् आत्तचित्रपरिधानविभूषा. रन्तुमनसः सुरनारीः वीक्ष्य तत्प्रियार्थम् इव अस्त यातुम् उपपयोधि ललम्बे ॥१॥*

अर्थ—(जलक्रीडा के) अनन्तर विविध वस्त्रो एव आभूषणो से विभूषित एव रमण की इच्छुक उन देवागनाओ को देखकर सूर्य मानो उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अस्त होने की इच्छा से (पश्चिम) समुद्र की ओर लबायमान हो गए ॥१॥

टिप्पणी—*अर्थात् रमणियो के जलक्रीडा से निवृत्त होकर विविध वस्त्राभूषणो से अलकृत होने के साथ सूर्य भी अस्ताचलगामी हो गए । इस सर्ग मे स्वागता छन्द है ।*

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥२॥

*अन्वयः—मध्यमोपलनिभे, लसदशौ भानौ एकतः च्युतिं उपेयुषि द्यौः परिवृत्तिविलोला वासरलक्ष्मी हारयष्टिम् इव उवाह ॥२॥*

अर्थ—हार की मध्य मणि की तरह फैलती हुई किरणो से शोभायमान भगवान् भास्कर के एक ओर लबायमान हो जाने पर आकाश ( रूपी बाला ) ने मध्याह्न बिताकर जानेवाली (दूसरे पक्ष मे, शरीर के तिरछा कर देने से बारम्बार खिसकती हुई ) दिन की लक्ष्मी को माला के समान धारण कर लिया ॥२॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

*अशुपाणिभिरतीव पिपासु पद्मज मधु भृश रसयित्वा ।*
*क्षीवतामिव गत क्षितिमेष्यल्लोहित वपुरुवाह पतङ्ग ॥३॥*

अन्वय —पतङ्ग अतीव पिपासु अशुपाणिभि पद्मज मधु भृश रसयित्वा, क्षीवता गत इव क्षितिम् एष्यन् लोहित वपु उवाह ॥३॥

अर्थ—सूर्य ने मानो अत्यन्त प्यास से युक्त होकर अपनी किरण रूपी अँजलियो से कमलो के मकरन्द रूपी मद्य का भरपूर पान करने के कारण उन्मत्त सा होकर, धरती पर लोटते हुए लाल शरीर धारण कर लिया ॥३॥

टिप्पणी—जैसे कोई शराबी अत्यधिक शराब पीकर बेहोश हो कर धरती पर लोटने लगता है और उसका शरीर लाल हो जाता है वैसे ही सूर्य भी पश्चिम के क्षितिज पर लाल होकर लोटने लगा । रूपक और उत्प्रेक्षा अलकार का अगागी भाव से सकर ।

*गम्यतामुपगते नयनाना लोहितायति सहस्रमरीचौ ।*
*आससाद विरहय्य धरित्री चक्रवाकहृदयान्यभिताप ॥४॥*

अन्वय —सहस्रमरीचौ लोहितायति नयनाना गम्यता उपगते अभिताप धरित्रीम् विरहय्य चक्रवाकहृदयानि आससाद ॥४॥

अर्थ—सहस्रमरीचि सूय के लोहित वर्ण हो जाने पर एव (सर्व साधारण की) आँखो द्वारा दशनीय बन जाने पर सन्ताप ने धरती को छोडकर चक्रवाक दम्पति के हृदया म निवास बना लिया ॥४॥

टिप्पणी—दिन भर तो सूर्य अपनी सहस्र किरणो से धरती को तपाता रहा उसे कोई आँखो से देख भी नही सकता था, किन्तु सध्या समय लोहित वर्ण हो जाने पर वह जब अस्तोन्मुख होने लगा तो चक्रवाक दम्पति भावी विरह के कारण अत्यन्त सन्तप्त हो गए । सूर्य अब आँखो से दर्शनीय भी बन गया क्योकि अब वह उतना प्रचण्ड नही रहा । अतिशयोक्ति अलकार।

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्व पश्चिमे नभसि सम्भृतसान्द्र ।
सामि मज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूह ॥५॥

अन्वय —रवौ सामि मज्जति मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वं पश्चिमे नभसि सम्भृतसान्द्र रश्मिसमूह खिन्नजिह्म इव न विरेजे ॥५॥

अर्थ—सूर्य के आधे बिम्ब के डूब जाने पर सूर्य की किरणा का समूह, सूर्य का आश्रय छोडने के कारण मानो तुच्छ होकर एव पूर्व दिशा का परित्याग कर पश्चिम दिशा मे एकत्र होकर इस प्रकार निष्प्रभ अथवा तेजोविहीन हो रहा है, जिस प्रकार अपने पूर्व स्वामी को छोडकर किसी नीच व्यक्ति का आश्रय लेने वाला कोई व्यक्ति निस्तेज अथवा श्रीहीन हो जाता है ॥५॥

टिप्पणी—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अलकार का अगागी भाव से सकर।

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्रा सायमण्डनमभि त्वरयन्त्य ॥
सादर ददृशिरे वनिताभि सौधजालपतिता रविभास ॥६॥

अन्वय —कुकुमताम्रा सायमण्डनमभि त्वरयन्त्य सौधजालपतिता रविभास कान्तदूत्य इव वनिताभि सादर ददृशिरे ॥६॥

अर्थ—कुकुम के समान लाल, रमणियो को ( अभिसार अथवा रमण के उपयुक्त) वस्त्राभूषणादि प्रसाधना को शीघ्रता से सम्पन्न करने के लिए उकसाती हुई, खिडकियो की जालियो से आनेवाली सूर्य की किरणो को, देवागनाओ ने ( प्रिय की दूती के समान ) बडे सम्मान से देखा ॥६॥

टिप्पणी—सायकाल की उन किरणा द्वारा शीघ्र ही प्रिय समागम की सूचना प्राप्त हुई, अतएव देवागनाओ ने उनका आदर किया। दूतियाँ भी इसी प्रकार आती हैं और ऐसा ही कार्य करती है। उपमा अलकार।

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य।
अस्तशैलगहन नु विवस्वानाविवेश जलधि नु मही नु ॥७॥

अन्वय —विवस्वान् अग्रसानुषु भूरुहान् नितान्तपिशङ्गै मृदुकरै अवलम्ब्य अस्तशैलगहन नु जलधि नु मही नु आविवेश ॥७॥

अर्थ—सूर्य अस्ताचल के शिखरो पर अवस्थित वृक्षो की चोटियो का अपनी अत्यन्त अरुण वर्ण की हाथ रूपी किरणा से सहारा लेकर अस्ताचल

के घने जगलो मे (पश्चिम के) समुद्र मे अथवा पृथ्वी मे जाने कहाँ डूब गया ॥७॥

टिप्पणी—अर्थात् जल्दी-जल्दी मे कहाँ डूब गया वह, इसका कुछ पता नही चलता। सन्देह अलकार।

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसराग ।
आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यता दिनमुखेन दिनान्त ॥८॥

अन्वय —चलपतत्रिकुलानाम् आरवैं आकुल अनुदितौषसराग अहरिदश्वविपाण्डु दिनान्त दिनमुखेन तुल्यताम् आययौ ॥८॥

अर्थ—नीड को लौटने वाले पक्षियो के कलरव मे व्याप्त, सन्ध्या की लालिमा से विहीन, सूर्य के अभाव मे पाण्डु वर्ण का (अन्धकार न होने से) वह दिवसावसान अर्थात् सायकाल प्रात काल की समानता प्राप्त कर रहा था ॥८॥

टिप्पणी—प्रात काल का दृश्य भी ठीक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का सन्ध्या का होता है। उसमे भी पक्षी जीविका के लिए नीड से बाहर जाते हुए कलरव करते हैं, लालिमा ( अरुणोदय के पूर्व ) नहीं रहती, सूर्य भी नही रहते और अन्धकार भी नही रहता। उपमा अलकार।

आस्थित स्थगितवारिदपक्त्या सन्ध्यया गगनपश्चिमभाग ।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधे श्रियमूहे ॥९॥

अन्वय —स्थगितवारिदपङ्क्त्या सन्ध्यया आस्थित गगनपश्चिमभाग सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधे श्रियम् ऊहे ॥९॥

अर्थ—(ऊपर) बादलो की पक्तिया तथा नीचे (लालिमा से युक्त) सन्ध्या से सुशोभित आकाश का वह पश्चिमी भाग (उस समय) तरगो से मडित प्रवाल की किरणो की कान्ति से सुशोभित समुद्र की शोभा धारण कर रहा था ॥९॥

टिप्पणी—निदर्शना अलकार।

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।
सन्ध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥१०॥

अन्वयः—प्राञ्जलौ नतमूर्ध्नि तत्प्रवणचेतसि अपि जने प्रेम हित्वा विरमन्त्या सन्ध्यया चापलेन सुजनेतरमैत्री अनुविदधे ॥१०॥

अर्थ—अजलि बाँधे हुए, शिर झुकाए हुए एवं उसके (सन्ध्या के) प्रति चित्त लगाये हुए भी भक्त जनो के प्रेम को तोड़कर विरक्त रूप से भागी जाती हुई सन्ध्या ने अपनी चञ्चलता से दुर्जनो की मित्रता का अनुकरण किया ॥१०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि लोग सन्ध्या वन्दनादि करने ही लगे थे कि सन्ध्या समाप्त हो गई। दुष्ट लोगो की मित्रता मे भी ऐसा ही होता है, जैसा सन्ध्या ने किया। उपमा अलंकार।

औपसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः ।
सन्निपत्य शनकैरिव निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ॥११॥

अन्वयः—औपसातपभयात् इव अपलीनम् वासरच्छविविरामपटीयः अन्धकारम् शनकैः निम्नात् सन्निपत्य समानि उदवाप ॥११॥

अर्थ—प्रातःकाल के आतप के भय से ही मानो कही छिपे हुए और अब आतप का अभाव हो जाने से समर्थ हुए अन्धकार ने धीरे-धीरे नीचे से ऊपर उठकर समान स्थलो पर अपना अधिकार जमा लिया ॥११॥

टिप्पणी—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का अगागी भाव से सकर।

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे ।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषाः ॥१२॥

अन्वयः—एकतां गतस्य इव महतः अपि कस्यचित् विवेकः न उपलेभे। पतितेन भास्वता भुवनानां विशेषाः आत्मनि निदधिरे इव ॥१२॥

अर्थ—अन्धकार के सघन होने पर सब पदार्थ एक मे मिल गए, मानो इसीलिए बड़ी से बड़ी वस्तुओ मे भी छोटी वस्तुओ से कोई भेद नही रह गया।

इसी से मानो अस्ताचल को जाते हुए सूर्य ने पृथ्वी के छोटे-बड़े सभी पदार्थों की विशेषताओ को अपने मे निहित कर लिया ॥१२॥

टिप्पणी—यदि सूर्य ने सब की विशेषताओं को अपने मे निहित न कर लिया होता तो वे क्यो न दिखाई देते। दो सजातीय उत्प्रेक्षाओ का अगागी भाव से सकर।

इच्छता सह वधूभिरभेद यामिनीविरहिणा विहगानाम् ॥
आपुरेव मिथुनानि वियोग लङ्घयते न खलु कालनियोग ॥१३॥

अन्वय—वधूभि सह अभेद इच्छताम् यामिनीविरहिणाम् विहगानाम् मिथुनानि वियोग आपु एव। कालनियोग न लङ्घ्यते खलु ॥१३॥

अर्थ—अपनी प्रेमिकाओ के वियोग के अनिच्छुक अर्थात् उनके सग ही रहने के इच्छुक, रात्रि मे वियुक्त रहनेवाले चक्रवाक पक्षियो के जोडे (बेचारे) वियुक्त होकर ही रहे। सच है, दैव की आज्ञा का उल्लघन कौन कर सकता है? ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

यच्छति प्रतिमुख दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ।
नीयते स्म नतिमुज्झितहर्ष पङ्कज मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥१४॥

अन्वय—शकुन्तौ अन्तिकगते अपि दयितायै प्रतिमुख वाच यच्छति। अम्बुरुहिण्या उज्झितहर्षं पकज मुखम् इव नति नीयते स्म ॥१४॥

अर्थ—रात हो जाने पर चक्रवाक अपनी प्रियतमा के बहुत समीप रहने पर भी उसके सम्मुख केवल वार्तालाप ही कर सकता था (किन्तु दूसरे तट पर होने के कारण उसका स्पर्श नही कर सकता था) मानो उसकी इस दयनीय दशा को देखकर सरोजिनी ने अपने अविकसित पकज को (मुरझाये हुए) मुख की भाँति नीचे की ओर झुका लिया था ॥१४॥

टिप्पणी—रात्रि के समय कमल मुरझा जाते हैं, कवि उसी की उत्प्रेक्षा करता है, मानो चक्रवाक दम्पती की विकल-वेदना को देखकर स्त्रीसुलभ सहानुभूति से ही सरोजिनी ऐसा कर रही है। स्त्रियाँ प्राय दूसरे की वेदना देखकर

उदाम हो ही जाती है, विशेषकर विरह वेदना में। उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार का अङ्गाङ्गी भाव से सकर।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितु नु गगनं स्थगितुं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥१५॥

अन्वयः—तिमिरेण विविधाः तरुशैलाः रञ्जिताः नु। गगनं नामितं नु। गगन स्थगित नु। धरित्री विषमेषु पूरिता नु ककुभः संहृता. नु ॥१५॥

अर्थ—अन्धकार ने सभी वृक्षों और पर्वतों को अपने समान काले रंग में रंग दिया है, अथवा आकाश को भूतल की तरफ झुका दिया है, अथवा आकाश पर काला परदा या गिलाफ तो नहीं ओढ़ा दिया है, अथवा धरती की ऊँचाई-नीचाई बराबर तो नहीं कर दी गई है अथवा दिशाएँ ही तो कहीं लुप्त नहीं हो गई हैं ? (कुछ पता नहीं चलता कि यह सब क्या हो गया है ?) ॥१५॥

टिप्पणी—सन्देह अलंकार।

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय।
स्पष्टतारकमियाय नभ. श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्व. ॥१६॥

अन्वय—श्री· रात्रिरागमलिनानि विकास रहयन्ति पङ्कजानि विहाय स्पष्टतारक नभ. इयाय। सर्व. निरापदि वस्तुम् इच्छति ॥१६॥

अर्थ—शोभा रात्रि की कालिमा से मलिन होने के कारण प्रफुल्लता को त्यागने वाले कमलों को छोड़कर जगमगाते हुए तारों से व्याप्त आकाश मण्डल में चली गयी। सच है, सभी विघ्न-बाधा रहित स्थानों पर रहना पसन्द करते हैं ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

[चन्द्रोदय वर्णन—]

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डु.।
चर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥१७॥

अर्थ—चन्द्रमा ने अपनी स्वच्छ प्रवाल के समान मनोहर उज्जवल कला से चारो ओर फैले हुए अन्धकार को इस प्रकार से दूर फेंक दिया जिस प्रकार से आदि वराह ( शूकरावतारधारी भगवान् विष्णु ) ने सोने की टाँकी के सदृश अपनी अरुणिमा मिश्रित उज्ज्वल दाढो से भूमण्डल को (प्राचीन काल मे) ऊपर फक दिया था ॥२२॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

दीपयन्नथ नभ किरणौघै कुड्कुमारुणपयोधरगौर ।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनाशु ॥२३॥

अन्वय —अथ किरणौघै नभ दीपयन् कुकुमारुणपयोधरगौर तुहिनाशु शनकै पूर्वपयोधे हेमकुम्भ इव उन्ममज्ज ॥२३॥

अर्थ—(उदय के) अनन्तर अपने किरण-समूह से आकाश को उद्‌भासित करते हुए, कुकुम से अनुरजित स्तनमण्डल के समान सुशोभित चन्द्रमा धीरे-धीरे पूर्व समुद्र से मानो सुवर्ण के कलश के समान ऊपर निकल आया ॥२३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलकार ।

उद्‌गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रा पश्यति स्म रजनीमवितृप्त ।
व्यशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मा व्रीडया नववधूमिव लोक ॥२४॥

अन्वय —उद्‌गतेन्दुम् अविभिन्नतमिस्रा रजनी व्यशुकस्फुटमुखी व्रीडया अतिजिह्मा नववधूम् इव लोक अवितृप्त पश्यति स्म ॥२४॥

अर्थ—चन्द्रोदय के हो जाने पर भी जब तक अन्धकार सम्पूर्ण रूप से नष्ट नही हुआ तब तक रात्रि को लोगो ने उस नव वधू के समान कुतूहल के साथ देखा जिसने घूंघट उठाकर अपना मुंह तो खोल दिया है किन्तु लज्जा के कारण अत्यन्त सिकुडी हुई-सी है ॥२४॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

न प्रसादमुचित गमिता द्यौर्नोद्‌धृत तिमिरमद्रिवनेभ्य ।
दिड्मुखेपु न च धाम विकीर्णं भूपितैव रजनी हिमभासा ॥२५॥

अन्वय —हिमभासा द्यौ उचितम् प्रसादम न गमिता। अद्रिवनेभ्य तिमिरम् न उद्धृतम्। दिङ्मुखेषु धाम च न विकीर्णम्। रजनी भूषिता एव ॥२५॥

अर्थ—चन्द्रमा द्वारा आकाश अभी अच्छी तरह से प्रकाशयुक्त नहीं हुआ, पर्वतो तथा वनो स अन्धकार अभी दूर नही हुआ, क्षितिजों पर चन्द्रिका नही छाई किन्तु तब भी रात्रि तो अलङ्कृत ही हो गई।

टिप्पणी—विभावना अलकार।

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषान्प्रतिगृह्णन्।
मन्दमन्दमुदित प्रययौ ख भीतभीत इव शीतमयूख ॥२६॥

अन्वय —उदित शीतमयूख उष्णवाष्पकलुषान् मानिनीजनविलोचनपातान् प्रतिगृह्णन् भीतभीत इव मन्दमन्दम् ख प्रययौ ॥२६॥

अर्थ—( पूर्व क्षितिज मे ) उदित चन्द्रमा गरम-गरम आँसुओ से कलुषित मानिनियो के कटाक्ष पातो को सहन करत हुए मानो अत्यन्त भयभीत-सा होकर धीरे-धीरे आकाश मे पहुँच गया ॥२६॥

टिप्पणी—चन्द्रोदय हो जाने से कामोद्रेक के कारण उन मानिनियो का मान भङ्ग हो गया, अत चन्द्रमा के ऊपर वे क्रोध से भर गयी। उत्प्रेक्षा अलकार।

श्लिष्यत प्रियवधूरुपकठ तारकास्ततकरस्य हिमाशो।
उद्वमन्नभिरराज समन्तादगराग इव लोहितराग ॥२७॥

अन्वय —ततकरस्य तारका प्रियवधू उपकण्ठ श्लिष्यत हिमाशो समन्तात् उद्वमन् लोहितराग अङ्गराग इव अभिरराज ॥२७॥

अर्थ—अपने किरण-रूपी हाथों को फैलाकर तारा रूपी प्रियतमा का आलिगन करते हुए चन्द्रमा के चारो ओर फैलती हुई उसकी लालिमा अङ्गराग के समान सुशोभित होने लगी ॥२७॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा की किरणें ताराओं पर फैल गयी। आलिंगन से अङ्गराग फैल ही जाता है। रूपक और उपमा का अगांगी भाव से संकर।

प्रेरित शशधरेण करौघ संहृतान्यपि नुनोद तमांसि।
क्षीरसिंधुरिव मन्दरभिन्न काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥२८॥

*अन्वय—शशधरेण प्रेरित करौघ संहृतानि अपि तमांसि मन्दरभिन्न क्षीरसिन्धु अविरलोच्चतरूणि काननानि इव नुनोद ॥२८॥*

अर्थ—चन्द्रमा द्वारा प्रेरित किरणों के समूह ने अत्यन्त सघन अन्धकार को इस प्रकार से ढँक दिया जिस प्रकार ( समुद्र मन्थन के समय ) मन्दराचल से क्षुब्ध क्षीर समुद्र ने अत्यन्त सघन एवं ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से युक्त जंगलों को ढँक लिया था ॥२८॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

शारता गमितया शशिपादैश्छायया विटपिना प्रतिपेदे।
न्यस्तशुक्लवलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभि ॥२९॥

अन्वय—शशिपाद शारता गमितया विटपिना छायया न्यस्तशुक्लवलिचित्रतलाभि वसतिवेश्ममहीभि तुल्यता प्रतिपेदे ॥२९॥

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों से चितकबरी वृक्षों की छाया श्वेत पुष्पों आदि के उपहारों से विभूषित तल वाली निवास स्थान के घरों की भूमि के समान सुशोभित हुई ॥२९॥

टिप्पणी—उपमा अलंकार।

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दु खिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥३०॥

अवन्य—आतपे वध्वा सह धृतिमता यामिनिविरहिणा विहगेन हिमरश्मेः किरणा न सेहिरे। दु खित मनसि सर्वम् असह्यम् ॥३०॥

अर्थ—रात्रि में अपनी प्रियतमा से वियुक्त रहनेवाले जिस पक्षी अर्थात् चक्रवाक ने दिन की तीखी धूप म अपनी प्रिया के साथ खुशी-खुशी समय बिताया था, वही रात्रि में चन्द्रमा की शीतल किरणो को नही सहन कर सका। सच है, मन दु खी होने पर सब चीजें असह्य हो जाती हैं ॥३०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

गन्धमुद्धतरज कणवाही विक्षिपन्विकसता कुमुदानाम्।
आदुधाव परिलीनविहगा यामिनीमरुदपा वनराजी ॥३१॥

अन्वय—अपा कणवाही विकसता कुमुदानाम गन्धम् उद्धतरज विक्षिपन् यामिनीमरुत् परिलीनविहङ्गा वनराजी आदुधाव ॥३१॥

अर्थ—जल के कणो को वहन करता हुआ विकसित कुमुदों के सुगन्ध और पराग को बिखेरने वाला वायु सुख की नीद सोये हुए पक्षियो से सुशोभित वन-पक्तियों को थोडा थोडा झकझोरने लगा ॥३१॥

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई कामी अपनी प्रेमिका को इत्रादि सुगन्धित पदार्थों से सिंचित कर उसे अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है उसी प्रकार वायु ने भी वन पक्तियो को झकझोर कर अपनी ओर आकर्षित किया।

सविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदशुजलौघ।
यामिनीवनितया ततचिह्न सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दु ॥३२॥

अन्वय—यामिनीवनितया लसदशुजलौघ ततचिह्न इन्दु सोत्पल रजतकुम्भ मन्मथस्य अभिषेक सविधातु इव उदासे ॥३२॥

अर्थ—रात्रि रूपी रमणी न किरण-रूपी जलराशि स पूर्ण एव कलक लाञ्छित होने से नीलकमलयुक्त रजत-कलश के समान चन्द्रमा को कामदेव की त्रिभुवनविजयिनी यात्रा के अभिषेचन के लिए मानो ऊपर उठा लिया ॥३२॥

टिप्पणी—किसी के मगल अभिषेक के लिए कलश चाहिये, उसमे जल भरा होना चाहिए, और जल म पुष्पादि चाहिए। रात्रि रूपी रमणी को चन्द्रमा

मे यह सभी सामग्री मिल गई। चन्द्रमा को उसने रजत-कलश बनाया, उसके हिमवर्षी किरणजल को जलराशि बनाया और उसके काले कलक को नील कमल बनाया। इस प्रकार माना कामदेव की विजयिनी यात्रा का अभिषेक सम्पन्न हो गया। उपमा और उत्प्रेक्षा का सकर।

ओजसापि खलु नूनमनून नासहायमुपयाति जयश्री ।
यद्विभु शशिमयूखसख सन्नाददे विजयि चापमनङ्ग ॥३३॥

अन्वय —ओजसा अनूनम् अपि असहाय जयश्री न उपयाति खलु नूनम्। यत् विभु अनङ्ग शशिमयूखसख सन् विजयि चापम् आददे ॥३३॥

अर्थ—ओज से सम्पन्न होने पर भी असहाय व्यक्ति के पास विजयश्री नही जाती यह बात निर्विवाद सत्य है। अतएव सर्वशक्तिमान होकर भी कामदेव ने जब चन्द्रकिरणो की सहायता प्राप्त की तब अपने विजयी धनुष को धारण किया ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

[ उद्दीपन सामग्रियो के वर्णन के अनन्तर अब कवि रति क्रीडा का वर्णन आरम्भ करता है— ]

सद्मना विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम् ।
सनिकृष्टरतिभि सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥३४॥

अन्वय —सन्निकृष्टरतिभि सुरदारै आहितशोभै अपि सद्मना विरचना, आगतप्रियकथै अपि दूत्यम्, भूषितै अपि विभूषणम् ईषे ॥३४॥

अर्थ—रति-क्रीडा का समय समीप आ जाने पर देवाङ्गनाएँ पहले ही से केलि विलास के लिए सुसज्जित भवनो को पुन सजाने, अपने प्रियतम के आगमन का सन्देश मिल रहने पर भी दूती भेजने एव वस्त्राभूषणो से भली भाँति अलकृत होने पर भी पुन अलकृत होने की अभिलाषा करने लगी ॥३४॥

टिप्पणी—अत्यन्त उत्सुकता से उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था।

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।
साधनेपु हि रतेरुपधत्ते रम्यता प्रियसमागम एव ॥३५॥

अन्वय —विरहे स्रज चन्दनानि मदिरा वा रमणीभ्य न रुरुचिरे । हि प्रियसमागम एव रते साधनेपु रम्यता उपधत्ते ॥३५॥

अर्थ—उन देवाङ्गनाओ को अपने प्रियतमो की विरहावस्था मे मालाएँ, चन्दन अथवा मदिरा रुचिकर नही लग रही थी । क्यो न ऐसा होता क्योकि प्रियतम का समागम ही इन सामग्रियो मे रमणीयता की सृष्टि करता है ॥३५॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रियतम ही यदि नही हो तो इन प्रसाधन सामग्रियों की रमणीयता दु खदायिनी हो जाती है । अर्थान्तरन्यास अलकार ।

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवास ध्वसितप्रियसखीवचनाभि ।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यं सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥३६॥

अन्वय —अधिनाथनिवास प्रस्थिताभि ध्वसितप्रियसखीवचनाभि, मानिनीभि अपहस्तितधैर्यं सादयन् अपि मद अवललम्बे ॥३६॥

अर्थ—अपने प्रियतमो के निवास स्थान को प्रस्थित एव अपनी प्रिय सखियो के आग्रहपूर्ण वचनो को तिरस्कृत करनेवाली मानिनी रमणियो ने धैर्य को छुडानेवाली एव शरीर तथा मान को दुर्बल करनवाली मदिरा का सहारा लिया ॥३६॥

टिप्पणी—वे मदिरा से बेहोश थी, अत उन्हे अपन मान एव सखियो के आग्रहपूर्ण वचनो का ध्यान नही था ।

कान्तवेश्म वहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभि ।
मन्मथेन परिलुप्तमतीना प्रायश स्खलितमप्युपकारि ॥३७॥

अन्वय —रतये वहु सन्दिशतीभि रमणीभि कान्तवेश्म यातम् एव । मन्मथेन परिलुप्तमतीना स्खलितम् अपि प्रायश उपकारि ॥३७॥

अर्थ—रति के लिए सन्देश पर सन्देश भेजती हुई रमणियाँ अपने प्रियतमो के निवास-स्थल पर पहुँच ही गयी । ( बीच मे मार्ग नही भूली )

प्राय: कामदेव के द्वारा नष्टबुद्धि वाले व्यक्तियो की भूल भी उपकार ही हो जाती है ॥३७॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार।

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषित. पुलकरुद्धकपोलम्।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखंड खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥३८॥

अन्वय—आशु कान्तम् अभिसारितवत्या योषित· पुलकरुद्धकपोलम् खण्ड-पत्रतिलकाकृति मुखम् कान्तया अखण्डम् इन्दुम् निर्जिगाय ॥३८॥

अर्थ—शीघ्रता मे प्रियतम के समीप जाती हुई ( किसी ) रमणी के पुलकित कपोलो से सुशोभित एव पत्रो की चित्रकारी और तिलको के मिट जाने से मनोहर मुख ने अपनी कान्ति से सम्पूर्ण चन्द्रमा को जीत लिया था ॥३८॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

[नीचे के दो श्लोको मे एक सखी और नायिका का सवाद है—]

उच्यता स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥३९॥
किं गतेन न हि युक्तमुपैतु कः प्रिये सुभगमानिनि मानः।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥४०॥

अन्वय:—स अशेष वचनीयम् उच्यताम्। हे सखि ! ईश्वरे परुषता न साध्वी। एनम् अनुनीय आनय। विप्रियाणि जनयन् कथ वा अनुनेय·। गतेन किं उपैतु न युक्त हि। सुभगमानिनि ! प्रिये मानः क —इति योषिता कथासु समेत. कामिभि बहुरसा धृतिः ऊहे ॥३९-४०॥

अर्थ—नायिका—हे सखि ! उस धूर्त से मेरी सारी बातें जाकर बताओ।

सखी—हे सखी ! प्रियतम के प्रति ऐसी कठोरता अच्छी नही।

नायिका—तब उसे अनुनय-विनय द्वारा मनाकर ले आओ।

सखी—इस प्रकार के अपकारो के साथ भला अनुनय-विनय क्यों किया जाय ?

नायिका—तब फिर वहाँ जाने से क्या लाभ है ?

सखी—हे मानिनी ! तुम तो अपने को सुन्दरी मानने वाली हो। फिर वैसे परम सुन्दर प्रियतम के विषय मे मान तो करना ही नही चाहिये—इस प्रकार का वार्तालाप वे ( दोनो ) सखियाँ कर रही थी कि उनके प्रेमीजन स्वय उपस्थित हो गए और उन्हे उनके इस वार्तालाप से बडा सुख मिला ॥३९-४०॥

टिप्पणी—ये प्रौढा तथा कलहान्तरिता नायिका थी।

योषित पुलकरोधि दधत्या धर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।
कान्तवक्षसि बभूव पतन्त्या मण्डनं लुलितमण्डनतैव ॥४१॥

अन्वय.—पुलकरोधि नवसङ्गमजन्म धर्मवारि दधत्याः कान्तवक्षसि पतन्त्याः योषित लुलितमण्डनता एव मडन बभूव ॥४१॥

अर्थ—प्रियतम के नूतन समागम के कारण पुलकावली ( तक ) मे व्याप्त स्वेद-विन्दुओ को धारण करनेवाली, प्रियतमो के वक्षस्थल पर लेटी हुई उन रमणियो के तिलकादि अलकार यद्यपि छूट गये थे तथापि उनका वह छूटना ही अलकार बन गया ॥४१॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्ज. ।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥४२॥

अन्वय—शीधुपानविधुरासु दयितै. सगतासु कामिनीषु आशु मान निगृह्णन् शिथिलीकृतलज्ज: मदनः नु मदः नुः उपलेभे ॥४२॥

अर्थ—ईख के रस की मदिरा के पान से उन्मत्त एव स्वय प्रियतमो के समीप उपस्थित होनेवाली उन रमणियो के मान को शीघ्र ही दूर करने वाला एव उनकी लज्जा को शिथिलित करने वाला कामदेव था या वह मदिरा थी—( इस विषय मे ) कुछ नही कहा जा सकता ॥४२॥

टिप्पणी—सन्देह अलकार।

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुत. कलहोऽस्या. ।
कामिनामिति वच. पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥४३॥

अन्वय —द्वारि चक्षु अधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि अस्याः कलहः कुतः इति कामिना प्रीतये पुनरुक्तं वचः नवनवत्वम् इयाय ॥४३॥

अर्थ—तुम्हारे आने के मार्ग पर आँखें गड़ाकर वह हथेलियों पर कपोलों को रखे हुए है। अधिक क्या उनका जीवन ही तुम्हारे अधीन है। उसका कोई कलह तुम से नहीं है—इस प्रकार बारम्बार नायक को प्रसन्न करने के लिए (सखियों द्वारा) कहा गयी वह वाणी नायक का प्रति बार नूतन लगती रही ॥४३॥

टिप्पणी—अपनी प्रियतमा के अनुराग की प्रगाढ़ता कामियों को प्रसन्न करती ही है। यह कलहान्तरिता नायिका थी।

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम्।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गतावुपरराम च लज्जा ॥४४॥

अन्वय —लोचनयुगं साचि नमयन्ती दयितवक्षसि पातं रुन्धती लज्जा सुभ्रुवः विभूषां जनयति स्म सङ्गतौ उपरराम च ॥४४॥

अर्थ—जो लज्जा पहले उन देवांगनाओं को प्रियतम की ओर सीधे न देख कर तिरछा देखने के लिए विवश करती थी प्रियतम के वक्षस्थल पर लेटने से रोकती थी, और इस प्रकार उस समय वह नायिका की शोभा बढ़ाती थी वही (अब) उनकी रतिक्रीड़ा के अवसर पर दूर हो गयी ॥४४॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन।
योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिवाष्पनिपातः ॥४५॥

अन्वय —सव्यलीकम् अवधीरितखिन्नं सपदि कोपपदेन प्रस्थितं प्राणनाथं योषितः अभिबाष्पनिपातः सुहृद् इव रुणद्धि स्म ॥४५॥

अर्थ—अपराध करने के कारण अपमानित होने से खिन्न होकर कोप का बहाना बनाकर शीघ्र जाते हुए किसी प्रियतम को उसके सम्मुख ही सुन्दरी के अश्रुपात ने मित्र की भाँति रोक लिया ॥४५॥

टिप्पणी—मित्र भी कोप से जाते हुए अपने मित्र को रोक लेता है। यह अधीरा खण्डिता नायिका थी। उपमा अलंकार।

शङ्किताय कृतबाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखिता दयिताय।
मानिनीमभिमुखाहितचित्ता शसति स्म घनरोमविभेद ॥४६॥

अन्वय —शङ्किताय दयिताय ईर्ष्यया विमुखिता कृतबाष्पनिपाताम् मानिनीम् घनरोमविभेद अभिमुखाहितचित्ता शसति स्म ॥४६॥

अर्थ—अविश्वस्त नायक को, उसके द्वारा विमुख होने के कारण आँसू बहाती हुई मानिनी की सघन पुलकावली ने उसके अनुरक्त चित्त वाली होने की सूचना दे दी ॥४६॥

टिप्पणी—यदि वह अनुरक्त न होती तो रोमाच आदि सात्विक भावो का उदय क्यो होता ? यह नायिका भी अधीरा और खडिता थी।

लोलदृष्टि वदन दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुक शिथिलतामुपपेदे ॥४७॥

अन्वय —प्रियतमे लोलदृष्टि दयितायाः वदन रभसेन चुम्बति विनीवि अशुक नितम्बात् व्रीडया सह शिथिलताम् उपपेदे ॥४७॥

अर्थ—प्रियतम द्वारा चचल नेत्रो वाली प्रियतमा का मुख बलपूर्वक चुम्बन कर लेने पर नीवी का बधन छूट जाने से उसका वस्त्र नितम्ब प्रदेश से लज्जा के साथ ही शिथिलित हो गया ॥४७॥

टिप्पणी—अर्थात् वस्त्र तो ढीला हो ही गया उसकी लज्जा भी शिथिलित हो गयी। अतिशयोक्ति मूलक सहोक्ति अलकार।

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभार सस्वजे दयितया हृदयेश ॥४८॥

अन्वय —गलितनीवि अवलम्बितकाञ्चि अन्तरीयम् निरस्यन् हृदयेशः ह्रीतया दयितया मण्डलीकृतपृथुस्तनभार सस्वजे ॥४८॥

अर्थ—नीवीबन्धन के छूट जाने से करधनी के सहारे रुके हुए अन्तरीय (अधोवस्त्र) को खींचते हुए अपने प्रियतम को, लज्जित प्रियतमा ने ऐसा गाढा

आलिंगन किया कि उसके उन्नत एवं विस्तृत स्तन मण्डल (खूब दबाने से) गोलाकार बन गए थे ॥४८॥

टिप्पणी—प्रियतम की दृष्टि को रोक रखने के लिए उसने यह चतुराई की थी।

आदृता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।
*सौकुमार्यगुणसम्भृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥४९॥*

अन्वय—परिरम्भाः नखपदैः चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः आदृताः सौकुमार्यगुणसम्भृतकीर्तिः कामः सुरतेषु अपि वामः एव ॥४९॥

अर्थ—(रमणियों का) गाढ़ आलिंगन नखक्षतों से तथा चुम्बन गाढ़ दन्तक्षतों से पुरस्कृत हुआ। अपनी सुकुमारता के लिए प्रसिद्ध कामदेव सम्भोगावस्था में भी क्रूर ही रहता है ॥४९॥

टिप्पणी—अर्थात् जब सम्भोगावस्था में उसका यह हाल है तो वियोगावस्था में क्या होगा? कामदेव सुकुमार है, यह कोरी गप्प है, वस्तुतः वह दूसरों को पीड़ा पहुँचा कर ही सुखी होता है। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

*पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।*
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥५०॥

अन्वय—रहसि गद्गदवाचां योषितां पाणिपल्लवविधूननम् अन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः मदनस्य अस्त्रताम् उपययुः ॥५०॥

अर्थ—अत्यन्त एकान्त में ( केलि भवन में ) गद्गद वाणी में बोलनेवाली रमणियों का पाणि-पल्लवों का हिलाना, सी-सी करना एवं आधे मुँदे हुए नेत्रों से देखना—ये सब (उनके प्रियतमों के लिए) कामदेव के अस्त्रों के समान (उद्दीपन) हो गए ॥५०॥

[ मदिरा पान का वर्णन—]

*पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्पयन्त्यपुनरुक्तरसानि ।*
सस्मितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः ॥५१॥

अन्वयः—युवानः आहितरतीनि अपुनरुक्तरसानि तर्षयन्ति । सस्मितानि वधूना वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुम् अभिलेषु ॥५१॥

अर्थ—युवक गन्धर्व राग को बढानेवाले, प्रतिक्षण अपूर्व स्वाद देनेवाले एवं तृष्णा को उत्पन्न करने वाले ईषद् हास्य युक्त रमणियों के मुखों तथा कमल-युक्त मदिरा को पान करने के लिए अति इच्छुक हो गए ॥५१॥

टिप्पणी—मदिरा और रमणियों के मुख के विशेषण एक ही हैं । तुल्य-योगिता अलकार ।

कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।
मानिनीजन उपाहितसन्धौ सन्दधे धनुषि नेषुमनङ्ग ॥५२॥

अन्वयः—कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे उपाहितसन्धौ मानिनीजने अनङ्ग. धनुषि इषु न सन्दधे ॥५२॥

अर्थ—प्रियतम के समागम से मानिनी रमणियों का क्रोध दूर हो गया, मदिरा के पान से विवाद शान्त हो गया, इस प्रकार प्रिय के सङ्ग उनकी सुलह हो गयी, अतः उन पर (आक्रमण करने के लिए) कामदेव ने अपने धनुष पर बाण नही चढ़ाया ॥५२॥

टिप्पणी—जब साध्य सिद्ध हो गया तब व्यर्थ मे बाण चलाने से क्या लाभ ?

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपितांश्च वरिवस्यत यूनः ।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥५३॥

अन्वयः—यून कुप्यत, आशु आनतचित्ता भवत, कोपितान् च वरिव-स्यत-इति अनेक उपदेश. इव युवतिभिः मधुवार स्वाद्यते स्म ॥५३॥

अर्थ—अपने युवक प्रेमियो को क्रुद्ध कर दो, और तुरन्त ही उनके अनुकूल हो जाओ, क्रुद्ध हो गए है तो उनकी सेवा करके उन्हें मना लो । मानों इस प्रकार के अनेक उपदेशो की भाँति स्वाद ले लेकर रमणियाँ मदिरा का बारम्बार आस्वादन करने लगी ॥५३॥

भर्तृभि· प्रणयसम्भ्रमदत्ता वारुणीमतिरसा रसयित्वा ।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटव नु हृदयं नु वधूभि ॥५४॥

अन्वय —भर्तृभि प्रणयसम्भ्रमदत्ताम् अतिरसा वारुणीम् रसयित्वा वधूभिः ह्रीविमोहविरहात् पाटव नु हृदय नु उपलेभे ॥५४॥

अर्थ—अपने प्रियतमो द्वारा प्रेम और आदर के साथ दी गयी अत्यन्त स्वादुयुक्त मदिरा का रसास्वादन कर रमणियो ने लज्जा और मूढता के दूर हो जाने से ( पता नही ) चतुरता प्राप्त की या सहृदयता प्राप्त की ? ॥५४॥

टिप्पणी—अन्यथा वे इस प्रकार का आचरण कैसे कर सकती थी । सन्देह अलङ्कार ।

स्वादित· स्वयमथैधितमान लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।
आसवः प्रतिपद प्रमदाना नैकरूपरसतामिव भेजे ॥५५॥

अन्वयः—स्वय स्वादितः अथ प्रियतमै एधितमान लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः आसवः प्रमदाना प्रतिपद नैकरूपरसताम् भेजे इव ॥५५॥

अर्थ—पहले स्वय पीने पर तदनन्तर प्रियतमो द्वारा अतिसम्मानपूर्वक दिये जाने पर पीने पर फिर प्रियतमो के साथ ( उन्ही के प्याले में ) पीने पर (वही) मदिरा उन रमणियो को प्रतिवार मानो भिन्न-भिन्न स्वाद से युक्त मालूम पडी ॥५५॥

टिप्पणी—काव्यलिंग, पर्याय तथा उत्प्रेक्षा का सकर ।

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।
आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्प ॥५६॥

अन्वयः—भ्रूविलाससुभगान् वधूनयनाना विभ्रमान् अनुकर्तुम् इव मृदुविलोलपलाशैः उत्पलै· चषकवीचिषु कम्पः आददे ॥५६॥

अर्थ—रमणियो के भ्रूविलास से मनोहर नेत्रो की लीला का मानो अनुकरण करने के लिए ईषत् चचल दलो से युक्त नीलकमल प्यालो की लहरियो मे कम्पन उत्पन्न कर रहे थे ॥५६॥

टिप्पणी—कमल पहले तो केवल रमणियो के नेत्र की समानता करते थे किन्तु मदिरा के प्यालो की लहरियो के कम्पन से युक्त होकर वे भ्रविलास युक्त नेत्रो की समानता करने लगे । उत्प्रेक्षा अलकार ।

ओष्ठपल्लवविदशरुचीना हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचपकैर्मधुवारः ॥५७॥

अन्वय—ओष्ठपल्लवविदशरुचीना रमणाना फुल्ललोचनविनीलसरोजैः अगनास्यचषकै मधुवार हृद्यताम् उपययौ ॥५७॥

*अर्थ—रमणियो के अधर-पल्लवो के रस पान के इच्छुक प्रेमियो ने प्रफुल्ल* लोचन रूपीनीलकमलो से सुशोभित रमणियो के मुखरूपी प्यालो से बार-बार मधुपान करके अत्यधिक प्रसन्नता प्राप्त की ॥५७॥

टिप्पणी—प्रेमियो की मदिरा के प्यालो पर कमल-पुष्प तैर रहे थे, इधर रमणियो के मुख-रूपी प्यालो पर भी उनके प्रफुल्ल-लोचन रूपी नील सरोज शोभायमान थे । अतएव उन्होने इन दूसरे प्रकार के प्यालो से बार-बार मधुपान करके और अधिक प्रसन्नता प्राप्त की । *काव्यलिग और रूपक अलङ्कार का सङ्कर* ।

प्राप्यते गुणवतापि गुणाना व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः ।
तत्तथा हि दयितानानदत्त व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥५८॥

*अन्वयः—गुणवता अपि आश्रयवशेन गुणाना विशेष प्राप्यते व्यक्तम् ।* तत्तथा हि दयितानानदत्तम् मधु रसातिशयेन व्यानशे ॥५८॥

अर्थ—गुणवान ( व्यक्ति ) भी हो तो उत्तम आश्रय पाकर उसमे विशेष गुण हो ही जाता है, यह बात यहाँ सत्य हुई, क्योकि प्रियतमा द्वारा दी गई मदिरा ( प्रेमी के लिए ) अत्यधिक स्वाद से पूर्ण हो गई ॥५८॥

टिप्पणी—*अर्थान्तरन्यास अलकार ।*

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्ता कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।
जज्ञिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवाराः ॥५९॥

अन्वय-—रत्नचषकेषु अतिरिक्ता कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् वीक्ष्य ओष्ठ यावकनुद मधुवारा प्रमदाना बहुमता जज्ञिरे ॥५६॥

अर्थ—स्फटिक आदि रत्नो से बने हुए मदिरा के प्याला मे ( रग के छूट जाने से पहले की अपेक्षा ) अधिक स्पष्ट दिखाई पडनेवाली प्रियतम द्वारा किये गए दन्त क्षत रूपी मण्डन की शोभा को देखकर, ओष्ठ की लालिमा को दूर करनेवाली मदिरा-पान की बारबार की आवृत्ति को रमणिया ने अपना अभीष्ट ही माना ॥५६॥

टिप्पणी—वह इसलिए कि बारम्बार मदिरा पान करने से उनके अधरो का रग छूट गया और प्रियतम द्वारा किये गये दन्तक्षत स्पष्ट दिखाई पडने लगे। उन्होंने सोचा कि यदि हमने इस प्रकार बारम्बार मदिरा सेवन न किया होता तो इन सौभाग्यसूचक चिन्हो से विमडित अधरो का ऐसा सुन्दर दृश्य कैसे देखने को मिलता।

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेपितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणाना व्यत्यय विनिमय नु वितेने ॥६०॥

अन्वय —लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेपितगन्धा वारुणी परगुणात्मगुणाना व्यत्यय विनिमयम् नु वितेने ॥६०॥

अर्थ—सुन्दरियों के नेत्रो मे लालिमा देकर तथा उनके अधरो से लालिमा का हरण कर, उनके मुखों को अपनी सुगन्ध से सुवासित कर तथा उनकी मुखगन्ध से स्वय सुरभित होकर पता नहीं वारुणी ने अपन गुणों से उनके ( सुदरियो के ) गुणो को ( जान बूझकर ) बदल लिया था अथवा (भ्रम मे ) पडकर (परस्पर) उलट-पुलट कर लिया था ( कुछ कहा नही जा सकता ) ॥६०॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्णो कर्णग निरुपकारि विदित्वा ।
योपित सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदराग ॥६१॥

अन्वय —अक्ष्णो तुल्यरूप योपित कर्णगम् असितोत्पल निरुपकारि विदित्वा मदराग सुहृद इव लम्भितेक्षणरुचि प्रविभेजे ॥६१॥

अर्थ—आँखो के समान आकृति वाले सुन्दरी के कानो मे अलकृत नील-कमल को व्यर्थ अथवा अनुपकारी समझकर मदराग ने चित्र की भाँति नेत्रों के राग को लालिमा में बदल दिया ॥६१॥

टिप्पणी—यदि आँखो का रग लालिमा मे न बदल उठता तो सभव था सुन्दरियाँ समान रग होने के कारण नीले कमलो को निकाल कर फेंक देतीं। मदराग ने इस विपदा से मित्र की भाँति उनकी रक्षा की।

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानै कान्तदन्तपदसम्भृतशोभ ।
आययावतितरामिव वध्वा सान्द्रतामधरपल्लवराग ॥६२॥

अन्वय—अतिपानै क्षीणयावकरस कान्तदन्तपदसम्भृतशोभ वध्वा अधर-पल्लवराग अतितरा सान्द्रताम् आययौ इव ॥६२॥

अर्थ—मदिरा के अतिपान के कारण (किसी नायिका के) ओठ के रग के छूट जाने से प्रियतम के दन्त क्षत अधिक स्पष्ट हो गए। इससे शोभान्वित उस सुन्दरी के अधरो की लालिमा मानो और भी घनीभूत हो गई ॥६२॥

टिप्पणी—प्रियतम के उपभोग से चिह्नित सुन्दरियो के अगो की शोभा के लिए अन्य आभूषणो की आवश्यकता नही होती। काव्यलिंग तथा उत्प्रेक्षा का सकर।

रागकान्तनयनेषु नितान्त विद्रुमारुणकपोलतलेषु ।
सर्वगापि ददृशे वनिताना दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्री ॥६३॥

अन्वय—वनिताना सर्वगा अपि मदश्री रागकान्तनयनेषु विद्रुमारुणकपोल-तलेषु दर्पणेषु इव नितान्त ददृशे ॥६६॥

अर्थ—रमणियो के सम्पूर्ण अङ्गो में व्याप्त होने पर भी मदश्री लालिमा से सुशोभित नेत्रो एव विद्रुम की तरह लाल कपोलो से युक्त उनके मुखो पर दर्पणो की भाँति निरन्तर दिखाई पड रही थी ॥६३॥

टिप्पणी—काव्यलिंग से अनुप्राणित विरोधाभास अलकार तथा उपमा की ससृष्टि।

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये ।
वश्यता मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्व ॥६४॥

अन्वय —वद्धकोपविकृति अपि रामा चारुताभिमततताम् मधुमद दयिताना वश्यता । उपनिन्ये सर्व. आत्मवर्गहितम् इच्छति ॥६४॥

अर्थ—प्रणय कोप के कारण विकृत होने पर भी उन रमणियो को उनकी 'सुन्दरता' उनके प्रियतमो के लिए अत्यन्त प्रीतिकर वना रही थी और उनका 'मदराग' उन्हे नायको की वशवर्तिनी बना रहा था । ठीक ही था, सभी अपने वर्ग का कल्याण चाहते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—सुन्दरता स्त्री होने से रमणियो का कल्याण कर रही थी और मदराग पुरुष होने से पुरुषो का । विरोधाभास तथा अर्थान्तरन्यास की ससृष्टि ।

वाससा शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि ।
योषिता विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ॥६५॥

अन्वय —उपनाभि वाससा शिथिलता ह्रीनिरासम् अपदे कुपितानि गुणपक्ष विदधती मदिरा योषिता वचनीय निर्ममार्ज ॥६५॥

*अर्थ—नाभि के समीप वस्त्रो का शिथिल होना, लज्जा का परित्याग करना, अकारण कुपित हो जाना—इन सब दोषो को गुण कोटि मे लाकर मदिरा ने रमणियो के अपवादो को धो दिया ॥६५॥*

टिप्पणी—'न नाभि दर्शयेत्' अर्थात् स्त्रियो को अपनी नाभि नही दिख-लानी चाहिये यह शास्त्रीय शिष्टाचार है । अत नाभि दिखाना आदि दोष था किन्तु मदिरा के ये सब सहज विकार थे अत उनकी गणना गुण कोटि मे हुई, दोष कोटि मे नही, अत रमणियो की कोई निन्दा नही कर सकता था ।

भर्तृपूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।
व्रीडया विफलया वनिताना न स्थित न विगत हृदयेषु ॥६६॥

अन्वय —उपसखि आत्मन भर्तृषु निक्षिपतीना मधुमदोद्यमितानाम् वनि-ताना हृदयेषु विफलया व्रीडया न स्थित न विगतम् ॥६६॥

अर्थ—सखियो के समीप ही अपने को पतियो के ऊपर गिरानेवाली मदिरा के नशे से प्रेरित अनुरक्त रमणियो के हृदयों मे निष्फल हुई लज्जा न तो स्थित ही रह सकी और न जा ही सकी ॥६६॥

टिप्पणी—अर्थात् मदिरा के नशे मे वे इतनी चूर थीं कि सखियो के सामने ही अपने प्रियतमों के ऊपर गिर पडी। उनकी लज्जा निष्फल हो गयी।

रुन्धती नयनवाक्यविकास सादितोभयकरा परिरम्भे।
व्रीडितस्य ललित युवतीना क्षीवता वहुगुणैरनुजह्रे ॥६७॥

अन्वय—नयनवाक्यविकास रुन्धती परिरम्भे सादितोभयकरा युवतीना क्षीवता वहुगुणै व्रीडितस्य ललितम् अनुजह्रे ॥६७॥

अर्थ—रमणियो के नेत्रो और वाक्यो के विस्तार को रोकती हुई एव आलिगन के अवसर पर उनके दोनो हाथो को स्तम्भित करती हुई उन युवतियो की मत्तता ने अपने इन अनेक गुणो से लज्जा का मनोहर अनुकरण किया ॥६७॥

टिप्पणी—मदिरा के नशे मे नेत्रो के विस्तार और वाक्यो के विस्तार रुक जाते हैं, नेत्र झॅपने लगते हैं और वाणी अवरुद्ध हो जाती है, और आलिगन मे हाथ भी रुक जाते हैं, यही सब कार्य लज्जा भी करती है। उपमा अलकार।

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम्।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥६८॥

अन्वय—उद्धतमनोभवरागा योषित् मानवती अपि दयिताङ्क ययौ। अनिभृता वारुणी गुणदोषे रहस्यविभेदम् कारयति खलु ॥६८॥

अर्थ—उत्कट रतिरग के लिए समुत्सुक एक रमणी मानिनी होकर भी अपने प्रियतम की गोद मे आ बैठी। मच है, चचला मदिरा गुणो और दोषो के विषय मे निश्चय ही रहस्यभेदन कर देती है ॥६८॥

टिप्पणी—मदिरा गुणों और दोषों को प्रकट करने मे पक्षपात नहीं करती। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम्।
आवभौ नव इवोद्धतराग कामिनीष्ववसर कुसुमेषो ॥६९॥

अन्वय—मधुना चेष्टितस्य मधुरत्वे आहिते नु विकास गमिते नु कुसुमेषो कामिनीषु उद्धतराग अवसर नव इव आवभौ ॥६९॥

अर्थ—( पता नही) मदिरा के द्वारा रति-क्रीडा मे अत्यन्त मधुरता आ जाने पर अथवा उसके आनन्द के और अधिक बढ जाने पर उन रमणियो मे कामदेव का उदय अत्यन्त उद्रेक के साथ मानो नूतन रूप मे हो गया ॥६९॥

टिप्पणी—संशयानुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

मा गमन्मदविमूढधियो न प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथा ।
योपितो न मदिरा भृशमीषु प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥७०॥

अन्वय—शङ्कितनाथा योषित मदविमूढधिय न प्रोज्झ्य रन्तु मा गमन् ईति मदिरा भृश न ईषु । प्रेम अपदे अपि भयानि पश्यति ॥७०॥

अर्थ—अपने प्रियतमो से सशङ्क रमणियो ने यह सोच कर कि कही हमें मदिरा से उन्मत्त समझ कर छोड कर हमारे प्रियतम रमण के लिए अन्यत्र न चले जायें—अधिक मात्रा मे मदिरा पीने की इच्छा नही की । सच है, प्रेम अकारण भी शकालु होता है ॥७०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्त मन्मथो मधुमद शशिभास ।
सङ्गमश्च दयितै स्म नयन्ति प्रेम कामपि भव प्रमदानाम् ॥७१॥

अन्वय—चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्त मन्मथ मधुमद शशिभास दयितैः सङ्गम च प्रमदाना प्रेम काम् अपि भुव नयन्ति स्म ॥७१॥

अर्थ—चित्त को परम आनन्द देनेवाला एकान्त स्थान, कामदेव, मदिरा का नशा, चन्द्रमा की किरणें और अपने प्रियतमो का समागम—इन सम्पूर्ण सामग्रियो ने रमणियो के प्रेम को पता नही किस दशा को पहुँचा दिया ॥७१॥

धाष्टर्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दय विलुलितालकमाल्ये ।
मानिनीरतिविधौ कुसुमेषुर्मत्तमत्त इव विभ्रममाप ॥७२॥

अन्वय—धाष्टर्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दय विलुलितालकमाल्ये मानिनी-रतिविधौ कुसुमेषु मत्तमत्त इव विभ्रमम् आप ॥७२॥

अर्थ—अत्यन्त धृष्टता से रमणियो ने रति के प्रसङ्ग मे मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया, निर्दयता से उनके केशपाश अस्तव्यस्त हो गए और मालाएँ मसल उठी। इस प्रकार उन मानिनियों की रतिक्रीडा मे मानो कामदेव ने मतवाले की भाँति विलास किया ॥७२॥

टिप्पणी—मतवाले क्या नहीं कर सकते। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

शीधुपानविधुरेषु वधूना निघ्नतामुपगतेषु वपुःषु।
ईहितं रतिरसाहितभाव वीतलक्ष्यमपि कामिषु रेजे ॥७३॥

अन्वय.—शीधुपानविधुरेषु वपु षु निघ्नताम् उपगतेषु वधूना रतिरसाहितभावम् कामिषु ईहित वीतलक्ष्यम् अपि रेजे ॥७३॥

अर्थ—मदिरापान से शिथिलित नववधुओ के शरीर जब उनके प्रियतमो के अधीन हो गये, तब सुरत प्रसङ्ग के रसास्वादन मे दत्तचित्त कामियो के अस्थान चुम्बन-मर्दन आदि भी सुशोभित हुए ॥७३॥

टिप्पणी—लुब्ध कामियो का स्खलन भी शोभा ही है।

अन्योन्यरक्तमनसामथ बिभ्रतीना
चेतोभुवो हरिसखाप्सरसा निदेशम्।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा
सा सह्वतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ॥६५॥

अन्वयः—अथ हरिसखाप्सरसाम् च अन्योन्यरक्तमनसा चेतोभुव निदेश बिभ्रतीना वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा सा रात्रि. सह्वता इव परिवृत्तिम् इयाय ॥ ७४ ॥

अर्थ—तदनन्तर परस्पर अनुरक्त चित्त गन्धर्वों और देवाङ्गनाओ के कामदेव की आज्ञा का पालन करते हुए वैतालिको की मङ्गल-स्वर-लहरी से सूचित

अवसान वाली वह रजनी मानो अत्यन्त छोटी-सी होकर समाप्ति को प्राप्त हो गयी ॥ ७४ ॥

*टिप्पणी—आनन्द-रग मे रत लोगो का अधिक से अधिक समय भी थोडी ही देर मे बीता हुआ मालूम पडता है । उत्प्रेक्षा अलङ्कार । वसन्ततिलका छन्द ।*

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमाना-
मायामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् ।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूना
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ॥७५॥

अन्वय—निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमानाम् आयामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् यूना रामासु भाविविरहाकुलितासु रतानि तत्पूर्वताम् समादधिरे इव॥७५॥

अर्थ—*निद्रा से रति की अत्यन्त थकावट दूर करने वाले एव दीर्घ काल तक चलनेवाली वैतालिको की मगलवाणी से जगाये गए युवक गन्धर्वो का भावी विरह से खिन्न रमणियो के साथ पुन होने वाला रति प्रसग पूर्व रति-प्रसङ्गो से भी मानो अधिक आनन्ददायी प्रतीत हुआ ॥७५॥*

टिप्पणी—अर्थात् प्रात काल हो जाने पर भी उन्होंने प्रथम रति प्रसग की भाँति ही पुन सम्भोग किया । उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

कान्ताजन सुरतखेदनिमीलिताक्ष
सम्वाहितु समुपयानिव मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायु ॥७६॥

अन्वय—सुरतखेदनिमीलताक्ष कान्ताजन सवाहितुम् इव मन्दमन्द समुपयान् रजनीपरिवत्तिवायु हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धान् आविश्चकार ॥७६॥

अर्थ—सभोग के परिश्रम से अधमुंदी आँखो वाली रमणियों की मानो सेवा करने के लिए ( पैर आदि मीजने के लिए ) धीरे-धीरे बहते हुए प्रभात-समीरण ने केलि-भवनो मे मालाओ, मदिरा एव अगराग आदि की सुगधो को खूब फैलाया ॥७६॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायितविपाटललोचनेषु।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीना
शोभा बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ॥७७॥

अन्वय—आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकषायितविपाटललोचनेषु व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनाम् वदनेषु मदावशेष शोभा बबन्ध ॥७७॥

अर्थ—मदिरा की सुगन्ध से सुवासित चञ्चल अधर-पल्लवो मे रात भर के जागरण से लाल नेत्रो मे ( रति-सघर्ष के कारण ) पत्र रचना एव तिलकादि से रहित रमणियों के मुखो मे मदिरा का अवशेष अर्थात् खुमारी सुशोभित हो रही थी ॥७७॥

टिप्पणी—अन्य आभूषणो के न रहने पर खुमारी ही उनका आभूषण बन गयी थी।

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे
समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम्।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनाना
हृदयमवललम्बे रात्रिसम्भोगलक्ष्मी. ॥७८॥

अन्वय—अङ्गरागे नखलेखालक्ष्यताम् गतवति समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् अङ्गनानाम् विरहविधुरम् हृदयम् रात्रिसम्भोगलक्ष्मी. इष्टा सत्सखी इव अवललम्बे ॥७७॥

अर्थ—अङ्गरागो के नखरेखों ( चिह्नों ) मे ही दिखाई पडने पर मदिरा से उन्मत्त प्रियतमो द्वारा जिनके लाल बिम्बाधर पिये गए थे ऐसी रमणियों के भावी

विरह से व्याकुल हृदय को, मानो प्रिय सखी की भाँति रात्रि के सभोग की शोभा ही अवलम्ब हुई ।।७८।।

टिप्पणी—अर्थात् रात्रि के सम्भोग से चिह्न स्पष्ट हो गए । मानो उन्हो ने भावी विरह से व्याकुल उनके हृदयो को सहारा दिया । जैसे अपनी दु खित-हृदया सखी को उसकी प्रिय सहचरी नही छोडती, विपत्ति मे भी उसके सग रहती है, वैसे ही रात्रि-सभोग की वह शोभा भी अप्सराओ के सग बनी रही । वह सुख-समय की स्मृति दिलाकर उन्हें सान्त्वना देती रही । उपमा अलकार । मालिनी छन्द ।

श्रीभारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे नवम सर्ग ।।९।।

# दसवाँ सर्ग

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ता ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावा सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मु ॥१॥

*अन्वय —अथ परिमलजा लक्ष्मीं अवाप्य अवयवदीपितमण्डनश्रिय रम्य-हावा ता वसतिम् अभिविहाय सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मु ॥१॥*

अर्थ—तदनन्तर प्रभात हो जाने पर सभोग की शोभा प्राप्त कर अपने मनोहर अगो से आभूपणो की छटा बढ़ाती हुई मनोहर हाव भावो के साथ वे अप्सराएँ अपने शिविर को छोडकर देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन को मोहित करने के लिए चल पडी ॥१॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार । इस सर्ग मे पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग कवि ने किया है ।

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीना गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।
अवनिपु चरणै पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिर निपेदे ॥२॥

अन्वय—गगनपरिक्रमलाघवेन द्रुतपदम् अभियातुम् इच्छतीनाम् पृथुस्त-नीना तासाम् अलघुनितम्बतया चरणै अवनिपु चिर निपेदे ॥२॥

अर्थ—आकाश के सचरण के समान वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी चलने की इच्छुक उन विशाल स्तनोवाली अप्सराओ के चरण, बृहत् नितम्ब होने के कारण धरती पर देर-देर तक पडे रहते थे ॥२॥

टिप्पणी—अप्सराओ को आकाश में उडने का अभ्यास तो था ही अत वे धरती पर भी जल्दी जल्दी चलने की इच्छा करती थी, किन्तु स्तना और जघनस्थलों से भारी होने से उनके पैर जल्दी-जल्दी नहीं उठ पाते थे ।

निहितसरसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम् ।
अविरलवितेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री ॥३॥

अन्वयः—निहितसरसयावकैः वधूना चरणतलैः कृतपद्धतिः अरुणितनील-तृणोलपा धरित्री शक्रगोपैः अविरलवितेव बभासे ॥३॥

अर्थ—गीली महावर से रगे हुए उन सुन्दरियो के चरणो के तलुवो से चिह्नित होने के कारण लाल रग की दूब और खस से युक्त वह भूमि मानो इन्द्रवधूटियो से अविरल व्याप्त की भाँति सुशोभित हुई ॥३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणा पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।
प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ॥४॥

अन्वय.—अगविवरेषु प्रतिरववितत पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः नूपुराणा ध्वनिः वनानि मुखरसमुत्सुकहससारसानि चक्रे ॥४॥

अर्थ—पर्वतो की गुफाओ की प्रतिध्वनियो से सम्मूर्च्छित एव मोटी करधनियो की लरो के परस्पर सघर्ष से उत्पन्न मनोहर शब्दो से मिश्रित सुन्दरियो के नुपुरो की ध्वनि उत्कठित होकर बोलने वाले हसो एवं सारसो से युक्त वनस्थली को व्याप्त करने लगी ।

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलकार की व्यजना ।

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।
अभिदधुरभितो मुनि वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेत. ॥५॥

अन्वयः—अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि समुदितसाध्वसविक्लव चेतश्च वधूभ्यः अभित मुनिम् अभिदधु. ॥५॥

अर्थ—चुनने योग्य पुष्प-फलादि से युक्त तथा अपने हिंसक सिंह व्याघ्रादि के साथ ही चलने वाले अहिंसक मृगो आदि से सेवित जगलो ने एव समुदित भय से विह्वल उनके चित्तो ने उन अप्सराओ के बहुत समीप ही कहीं मुनि के ( अर्जुन के ) होने की सूचना दी ॥५॥

टिप्पणी—अर्थात् अप्सराओं ने देखा कि इस वन में अद्भुत विशेषता है, पुष्प फलादि सामग्री सब कुछ हाथ में प्राप्त करने योग्य है तथा हिरण एवं सिंहादि साथ-साथ चर रहे हैं, यही नहीं, उनका हृदय भी धड़क रहा है, अतः उन्होंने यह अनुमान लगा लिया कि अर्जुन यहीं कहीं समीप में ही तपस्या कर रहे हैं।

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसा जहार तेजः।
उपहितपरमप्रभाववाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥६॥

अन्वयः—सा भूः नृपतिमुनिपरिग्रहेण सुरसचिवाप्सरसा तेजः जहार। हि उपहितपरमप्रभावधाम्ना जयिना तपसाम् अलङ्घ्य नास्ति ॥६॥

अर्थ—उस तपोभूमि ने राजर्षि अर्जुन के वहाँ निवास करने के कारण उन गन्धर्वों एवं अप्सराओं के तेज को हर लिया। ठीक ही है, परम प्रभाव एवं सामर्थ्यशाली विजयी लोगों की तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है। अर्थान्तरन्यास अलंकार।

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ॥७॥

अन्वयः—विस्मयाकुलाभिः ताभिः शुचिसिकतासु क्षितिषु उपहितकेतुरथाङ्ग-लाञ्छनानि अतिमानुषाणि जिष्णोः पदानि सचकितमिव ददृशिरे ॥७॥

अर्थ—विस्मयविमुग्ध उन अप्सराओं ने पवित्र एवं स्वच्छ बालुकामय तटों पर अर्जुन के ध्वज एवं चक्र के चिह्नों से अङ्कित अतिमानवीय पदचिह्नों को मानो भयभीत के समान चकित नेत्रों से देखा ॥७॥

टिप्पणी—अद्भुत वस्तुओं के देखने से भय और विस्मय तो होना ही है।

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचयेऽपि तद्विधानाम्।
ऋतुरिव तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः ॥८॥

अन्वयः—अतिशयितवनान्तरद्युतीना फलकुसुमावचये अपि तद्विधानाम् तरुवीरुधा समृद्धया युवतिजनैः मुनिप्रभावः ऋतुरिव जगृहे ॥८॥

अर्थ—अन्य वनो की शोभा को तिरस्कृत करनेवाली, फलो और पुष्पो के चुन लेने पर भी उसी तरह अर्थात् पूर्ववत् शोभायमान वृक्षो और लताओ की समृद्धियो से उन युवतियो ने अर्जुन के प्रभाव को ऋतु के समान ग्रहण किया ॥८॥

टिप्पणी—उपमा अलकार।

मृदितकिसलयः सुराङ्गनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः।
बहुमतिमधिकां ययावशोक. परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम्॥९॥

अन्वय.—ससलिलवल्कलभारभुग्नशाख. मृदितकिसलयः अशोकः सुराङ्गनानाम् अधिका बहुमति ययौ। सद्गुणानाम् परिजनतापि गुणाय भवति ॥९॥

अर्थ—भीगे वल्कल के बोझ से झुकी हुई शाखावाले, मसले हुए कोमल पल्लवो से युक्त अशोक का वृक्ष अप्सराओ के लिए अधिक सम्मान का पात्र हुआ। सच है, बडे लोगो की सेवा भी उत्कर्ष का कारण होती है ॥९॥

टिप्पणी—इससे यह ध्वनित होता है कि अर्जुन के प्रभाव को देखने मात्र से अप्सराएँ प्रभावित हो गयी। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

यमनियमकृशीकृतस्थिराग. परिददृशे विधृतायुधः स ताभिः।
अनुपमशमदीप्ततागरीयान्कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेदः॥१०॥

अन्वय'—यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्ग विधृतायुध सः अनुपमशमदीप्ततागरीयान् अथर्वणा कृतपदपंक्तिः इव ताभि' परिददृशे ॥१०॥

अर्थ—यमो एव नियमो के पालन से दुर्बल किन्तु दृढ अगो वाले आयुध धारण किये हुए अर्जुन को उन अप्सराओ ने अभ्युदय काण्ड मे अनुपम शान्ति

से तथा अभिचारिक क्रियाओ मे अनुपम उग्रता से युक्त मुनिवर वसिष्ठ द्वारा रचित पदपक्ति विशिष्ट चतुर्थवेद के समान देखा ॥१०॥

टिप्पणी—अथर्व वेद के मन्त्र मुनिवर वसिष्ठ के बनाये हुए हैं। कवि के कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अथर्व वेद के मन्त्रो से अभ्युदय और अभिचार दोनो की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उसी प्रकार अर्जुन के शरीर से शान्ति एव उग्रता दोनो ही झलकती थी। उपमा अलङ्कार।

[नीचे के चार श्लोकों का अर्थ एक साथ रहेगा—]

शशधर इव लोचनाभिरामैगगनविसारिभिरशुभि परीत ।
शिखरनिचयमेकसानुसद्मा सकलमिवापि दधन्महीधरस्य ॥११॥
सुरसरिति पर तपोऽधिगच्छन्विधृतपिशगबृहज्जटाकलाप ।
हविरिव वितत शिखासमूहै समभिलपन्नुपवेदि जातवेदा ॥१२॥
सदृशमतनुमाकृते प्रयत्न तदनुगुणामपरैं क्रियामलङ्घ्याम् ।
दधदलघु तप क्रियानुरूप विजयवती च तप समा समृद्धिम् ॥१३॥
चिरनियमकृशोऽपि शैलसार शमनिरतोऽपि दुरासद प्रकृत्या ।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तु ॥१४॥

*अन्वय*—शशधर इव लोचनाभिरामै गगनविसारिभि अशुभि परीत एकसानुसद्मा महीधरस्य शिखरनिचयमपि दधत। सुरसरिति इति पर तप अधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलाप उपवेदि शिखासमूहै वितत हवि समभिलपन् जातवेदा इव। आकृते सदृशम् अतनु प्रयत्न दधत् तदनुगुणाम् अपरै अलङ्घ्या क्रियाम् दधत क्रियानुरूपम् अलघु तप दधत् विजयवर्ती तप समा समृद्धि दधत्। चिरनियमकृश अपि शैलसार शमनिरत अपि प्रकृत्या दुरासद निर्जने तिष्ठन् अपि ससचिव इव मुनिरपि त्रिलोकभर्तु तुल्यरुचि ॥११-१४॥

*अर्थ*—शशलाञ्छन चन्द्रमा के समान, नयनानन्ददायिनी आकाशव्यापिनी अपने तेज की किरणों से व्याप्त (अर्जुन) इन्द्रकील के एक शिखर पर निवास

करते हुए भी मानो उस (पर्वत) के समस्त शिखर समूहों को प्रभासित कर रहे थे। गङ्गा तट पर परम तपस्या में निरत होकर पिंगल वर्ण का विशाल जटा-जूट धारण करने के कारण वह वेदी के समीप ज्वालाओं से प्रभासमान एवं हवि के इच्छुक अग्नि के समान सुशोभित हो रहे थे। अपनी (विशाल) आकृति के अनुरूप वह महान प्रयत्न में निरत थे, तथा प्रयत्न के अनुकूल दूसरे लोगों द्वारा करने में अशक्य अनुष्ठान में परायण थे तथा अनुष्ठान के अनुकूल कठोर तपस्या में संलग्न थे एवं विजय देनेवाली तपस्या के अनुरूप ऐश्वर्य धारण कर रहे थे। दीर्घकाल की तपस्या से दुर्बल होने पर भी वह पर्वत के समान दृढ थे। शान्ति-परायण होकर भी स्वभाव से ही दुर्धर्ष थे। उस निर्जन वन में निवास करते हुए भी सपरिवार थे। ऐश्वर्यरहित मुनिवेश धारण करने पर भी त्रिलोकीपति इन्द्र के समान तेजस्वी थे ॥११-१४॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। द्वितीय में उपमा है। तृतीय में एकावली है तथा चतुर्थ में विरोधाभास अलङ्कार।

तनुमवजिततलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ॥१५॥

अन्वयः—अवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां तनुं विलोकयन्त्यः अमरस्त्रियः विजयफले तपोधिकारे अस्य यत्नं विफलम् अवययुः ॥१५॥

अर्थ—सम्पूर्ण लोकों के पराक्रम एवं तेज को तिरस्कृत करनेवाले, त्रिभुवन की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के मनोहर देह को देखनेवाली देवागनाओं ने विजय की प्राप्ति के लिए इस प्रकार की तपस्या में निरत अर्जुन के प्रयत्न को विफल समझा ॥१५॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन तो यों ही त्रिभुवन विजय करने में समर्थ है फिर ऐसी कठोर तपस्या में व्यर्थ ही कष्ट उठा रहा है। काव्यलिंग अलंकार।

मुनिदनुतनयान्विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि।
अलघुनिबहुमेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् ॥१६॥

अन्वय.—प्रतनुबलानि तपासि अधितिष्ठत. मुनिदनुतयान् सद्य. विलोभ्य कुलिशभृता अलघुनि पदे विहित स्व नियोग ताः बहु मेनिरे ॥१६॥

अर्थ—अत्यन्त उत्कृष्ट फलविहीन तपस्या मे निरत मुनियो एव दानवो को तुरन्त मोहित कर आज इन्द्र द्वारा इस महान कार्य मे हुई अपनी नियुक्ति को अप्सराओ ने बहुत समझा ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् उन्होने सोचा कि अब तक तो हमने साधारण हल्की-फुल्की एव सर्वसाधारण द्वारा करणीय तपस्या मे लगे हुए मुनियो एव दैत्यो को अपने चगुल मे फँसाया था, किन्तु आज तो हम एक ऐसे त्रिभुवनविजयी असाधारण तपस्वी को वश मे करने के लिए स्वय इन्द्र द्वारा नियुक्त की गयी हैं, अत: हमारी शक्ति के परिचय का यह एक सुन्दर अवसर है।

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ॥१७॥

अन्वयः—अथ कृतकविलोभन विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन चित्त-जन्मा प्रसभम् अवततार । हि मधुरा यौवनश्री. मन. हरति ॥१७॥

अर्थ—तदनन्तर अपने कृत्रिम प्रलोभनो से मोहित करने की इच्छा करने पर उन अप्सराओ मे इन्द्रपुत्र अर्जुन के देखते ही कामदेव बरबस ही अवतीर्ण हो गया । सच है, यौवन की मधुर रूपश्री मन को हर ही लेती है ॥१७॥

टिप्पणी—अप्सराएँ अर्जुन को मोहने के लिये आयी थी, किन्तु उनकी यहाँ विपरीत दशा हुई, वे स्वयमेव अर्जुन को देखकर मोहित हो गयी । अर्थान्तरन्यास अलकार ।

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदंगैः ।
युगपदृतुगणस्य सन्निधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥१८॥

अन्वयः—सपदि वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गै. हरिसखैः वियति वने युगपत् ऋतुगणस्य सन्निधान यथायथम् वितेने ॥१८॥

अर्थ—शीघ्र ही अप्सराओ की आज्ञा से गन्धर्वों ने ज्यो ही वीणा और मृदग को बजाना शुरू किया त्यो ही आकाश मे और वन मे एक सग ही छहों ऋतुओं का क्रमिक विकास हो गया ॥१८॥

*टिप्पणी—अर्थात् उद्दीपन सामग्री का उदय हो गया ।*

[ सर्वप्रथम वर्षा ऋतु का वर्णन आरम्भ होता है—]

सजलजलधर नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभि स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥१९॥

अन्वय —सजलजलधर नभ विरेजे । तडिल्लताना रुचि विवृतिम् इयाय व्यवहितरतिविग्रहै जलगुरुभि स्तनितै दिगन्तरेषु वितेने ॥१९॥

अर्थ—जल से भरे मेघो से आकाश सुशोभित हो उठा । बिजलियो की कौंध स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी । दम्पतियो के प्रेम कलह को दूर करनेवाले जल-भार से गभीर गजनो से दिशाएँ गूँज उठी ॥१९॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्य समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।
विरलमपजहार बद्धविन्दु सरजसतामवनेरपा निपात ॥२०॥

अन्वय —परिसुरपतिसूनुधाम सद्य मालतीना मुकुलानि समुपदधत् विरल बद्धविन्दु अपा निपात अवने सरजसताम् अपजहार ॥२०॥

अर्थ—देवराज के पुत्र अर्जुन के आश्रम के चारो ओर शीघ्र ही मालती की कलियाँ मुकुलित हो गयी और धीरे धीरे बरसने वाली जल की बूँदो से धरती की धूल शान्त हो गयी ॥२०॥

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्ट ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोक ॥२१॥

अन्वय —प्रतिदिशम् अभिगच्छता ककुभविकाससुगन्धिना अनिलेन अभिमृष्ट सचित्तजन्मा गतधृति आकुलितश्च रति जीवलोक नव इव विबभौ ॥२१॥

अर्थ—प्रत्येक दिशा मे अर्जुन नामक वृक्ष के विकसित कुसुमो की सुगन्ध

से सुगन्धित वायु के सम्पर्क से काम विकारग्रस्त, धैर्यरहित एव रति क्रीडा के प्रति व्याकुल हो कर सभी प्राणी मानो अपने को किसी नूतन अवस्था मे अनुभव करने लगे ॥२१॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

व्यथितमपि भृश मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा।
परभृतयुवति स्वन वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥२२॥

अन्वय—व्यथितमपि मन भृश हरन्ती। परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा परभृतयुवति नवनवयोजितकण्ठरागरम्य स्वन वितेने ॥२२॥

अर्थ—दु खी लोगो के मन को भी बरबस हरनेवाली, पकी जामुन के फल को खाने से हृष्ट कोकिल-युवतियो के कण्ठ स्वर नूतन-नूतन रागों के सयोग से रमणी बन कर चारो ओर फैलने लगे ॥२२॥

अभिभवति मन कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिना निनादे।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्नहि महता सुकर समाधिभङ्ग ॥२३॥

अन्वय—कदम्बवायौ मदमधुरे शिखण्डिना निनादे च मन अभिभवति सति जिष्णु जन इव धृते न चचाल। हि महता समाधिभङ्ग न सुकर ॥२३॥

अर्थ—जब कदम्बानिल से तथा मदोन्मत्त मयूरो के मधुर निनाद स सब का मन अभिभूत हो गया तब भी विजयी अर्जुन साधारण मनुष्यो की भाँति धैर्यच्युत नही हुए। सच है महान् पुरुषों की समाधि भग करना सरल काम नही होता ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् महान् पुरुषो की समाधि कोई नही भग कर सकता। अर्थान्तरन्यास अलकार।

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥२४॥

अन्वय—धृतबिसवलयावलि कुमुदवनैकदुकूलम् आत्तबाणा शरद् वधू इव घनसमयेन अमलतले सरोजपाणौ इव आललम्बे ॥२४॥

अर्थ—मृणाल तन्तुओ के कंकण धारण किये कुमुद वनो की शुभ्र साडी पहिने हुए तथा बाण नामक ( नीलझिण्टी ) वृक्ष के पुष्पो को बाण के समान अपने हाथो मे धारण किये हुए नववधू के समान आई हुई शरद् ऋतु को ( वर के समान ) वर्षा ऋतु ने अपने कमलरूपी निर्मल करो से ग्रहण किया ॥ २४ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि वधू और वर के समागम के समान वर्षा और शरद्ऋतु की सन्धि सुशोभित हुई। बाण को हाथ मे धारण करने का सकेत क्षत्रिय कुलोत्पन्ना नववधू से है। श्लेषमूलातिशयोक्ति और उपमा का अगागी-भाव से सङ्कर।

समदशिखिरुतानि हसनादै कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या।
श्रियमतिशयिनी समेत्य जग्मुर्गुणमहता महते गुणाय योग ॥२५॥

अन्वय—समदशिखिरुतानि हसनादै समेत्य कुमुदवनानि कदम्बपुष्प-वृष्ट्या समेत्य अतिशयिनी श्रिय जग्मु । हि गुणमहता योग महते गुणाय भवति ॥२५॥

अर्थ—मदोन्मत्त मयूरो का कलकूजन हसो के मनोहर स्वरो के साथ मिल-कर तथा कुमुदो की पक्तियाँ कदम्ब पुष्पो की वृष्टि के साथ मिलकर अतिशय शोभा धारण करने लगी। सच है, अधिक गुणवाले पदार्थों के परस्पर समागम से उसके गुण और अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥२५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और समालङ्कार का अगागी भाव से सङ्कर ।

सरजसमपहाय केतकीना प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम्।
प्रियमधुरसनानि षट्पदावली मलिनयति स्म विनीलवन्धनानि ॥२६॥

अन्वय—प्रियमधुर षट्पदावली उपान्तिकनीपरेणुकीर्ण सरजस केतकीना प्रसवम् अपहाय विनीलबन्धनानि असनानि मलिनयति स्म ॥२६॥

अर्थ—मकरन्द के प्रेमी भ्रमरो की पक्तियाँ समीप के कदम्ब पराग से व्याप्त धूल भरे केतकी के कुसुमो को छोड कर नील वृन्तो वाले प्रियक के (मकरन्दपूर्ण) कुसुमो को मलिन करने लगे ॥२६॥

टिप्पणी—प्रियक के वृन्त ही नील होते हैं अन्य भाग नहीं। भ्रमरो की पक्तियाँ कुसुमो को भी नीला बना रही थी।

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीव धृतजलबिन्दुपु शाद्वलस्थलीपु।
अविरलवपुप सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयाश्रिय समीयु ॥२७॥

अन्वय—धृतजलबिन्दुपु शाद्वलस्थलीपु अविरलवपुप सुरेन्द्रगोपा मुकुलित बन्धुजीवम् अतिशय्य विकचपलाशचयश्रिय समीयु ॥२७॥

अर्थ—ओस कणो से व्याप्त हरे-हरे तृणो से आच्छादित भूमि पर बडी-बडी बीरबहूटियाँ, मुकुलित बन्धुजीवो अर्थात् दोपहरिया की कलियो को तिरस्कृत करती हुई विकसित पलाश के पुष्पो की शोभा को प्राप्त कर रही थी ॥२६॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

[ *अब हेमन्त का वर्णन है*— ]

अविरलफलिनीवनप्रसून कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाह।
गुणमसमयज चिराय लेभे विरलतुपारकणस्तुपारकाल ॥२८॥

*अन्वय—अविरलफलिनीवन प्रसून कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाह विरल-तुपारकण तुपारकाल चिराय असमयज गुणम् लेभे* ॥२८॥

अर्थ—राशि राशि प्रियगु के पुष्पो से युक्त विकसित कुन्द कुसुमो की सुगन्धि से सुवासित वायु वाली, विरलओस कणो से विमण्डित हेमन्त ऋतु चिर-काल तक अकाल मे उत्पन्न गुणो की उत्कृष्टता को प्राप्त करता रहा ॥२८॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम्।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीपता हि चेत ॥२९॥

अन्वय.—निचयिनि लवलीलताविकासे लोध्रसमीरणे हर्षं च जनयति सति पाण्डुसूनुः विकृतिं न उपययौ । हि जिगीषता चेतः नयात् न चलति ॥२९॥

अर्थ—लवली लताओ के अत्यन्त पुष्पित होने एव लोध्र के कुसुम की सुगन्ध से सुवासित वायु के सचरण से सर्वत्र उत्कठा अथवा हर्ष का वातावरण उपस्थित कर देने पर भी पाण्डुपुत्र अर्जुन के मन मे विकार नही उत्पन्न हुआ । सच है, विजयाभिलाषी व्यक्तियो का चित्त नीति-मार्ग से विचलित नही होता ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अर्जुन का चित्त तो शत्रु के अपकारो के स्मरण से क्रोध से भरा था, तब फिर क्रोधाक्रान्त चित्त मे कामवासना का प्रसार होता ही कैसे, क्योकि क्रोध और कामवासना का परस्पर सहज विरोध है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशसी समुपययौ शिशिर. स्मरैकबन्धुः ॥३०॥

अन्वयः—कतिपयसहकारपुष्परम्यः तनुतुहिन. अल्पविनिद्रसिन्दुवारः सुरभिमुखहिमागमान्तशसी स्मरैकबन्धुः शिशिरः समुपययौ ॥३०॥

अर्थ—कतिपय आम्र की मजरियो से मनोहर, स्वल्प हिम युक्त, थोडे फूले हुए सिन्दुवार ( निर्गुण्डी ) के कुसुमो से सुशोभित, वसन्त के आरम्भ एव हेमन्त के अवसान की सूचना देता हुआ कामदेव का एकमात्र सहायक शिशिर काल समुपस्थित हो गया ॥३०॥

टिप्पणी—शिशिर ऋतु मे कतिपय आमो मे मजरी आ जाती है, वसन्त की तरह सब मे नही और हेमन्त की तरह किसी मे न हो, यह भी नही । इसी प्रकार हेमन्त की तरह न तो उसमे हिम अधिक पडता है और न वसन्त की तरह उसका सर्वथा अभाव ही रहता है । इसी प्रकार निर्गुण्डी का पुष्प भी न तो अधिक फूलता है न उसका नितान्त अभाव ही रहता है ॥३०॥

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम् ।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पद वसन्तलक्ष्मी ॥३१॥

अन्वय —कसुमनगवनानि उपैतुकामा वसन्तलक्ष्मी किसलयिनी चूतयष्टिम् अवलम्ब्य क्वणदलिकुलनूपुरा नलिनवनेषु पद निरासे ॥३१॥

अर्थ—पुष्प प्रधान पर्वतीय वनो मे पहुँचने की अभिलाषिणी वसन्तश्री ने नूतन पल्लवो से युक्त आम्र की छडी (शाखा) का सहारा लेकर नूपुर के समान गुजायमान भ्रमरो की पक्तियो से अलकृत होकर कमलो के वन मे प्रवेश किया ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—समासोक्ति अलकार ।

विकसितकुसुमाधर हसन्ती कुरवकराजिवधू विलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्ण सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥३२॥

अन्वय — विकसितकुसुमाधर हसन्तीम् कुरवकराजिवधू विलोकयन्तम् अशोकपल्लवेषु निषण्ण सशरम् अनङ्ग सुराङ्गना ददृशुरिव ॥३२॥

अर्थ—खिले हुए पुष्पो रूपी अधरो को फडकाती हुई, कुरवक वृक्षो की पक्ति रूपिणी वधू को देखते हुए अशोक के नूतन पल्लवो पर बैठे हुए शर समेत कामदेव को मानो उन देवागनाओ ने देख लिया ॥३२॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि विकसित कुरवको की पक्तिया तथा अशोक-पल्लवो को देखकर अप्सराओ को कामदेव का जैसे साक्षात्कार हो गया हो—इस प्रकार से मन क्षोभ हुआ । रूपक और उत्प्रेक्षा अलकार की समृष्टि ।

मुहुरनुपतता विधूयमान विरचितसहृति दक्षिणानिलेन ।
अलिकुलमलकाकृति प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्या ॥३३॥

अन्वय — मुहु अनुपतता दक्षिणानिलेन मुहु विधूयमान विरचितसहृति पङ्कजिन्या नलिनमुखान्तविसर्पि अलिकुलम् अलकाकृति प्रपेदे ॥३३॥

अर्थ—धीरे-धीरे बहते हुए दक्षिण पवन से बारम्बार कम्पित होने के कारण

पंक्तिबद्ध रूप में कमलिनियों के कुसुम-रूपी मुखों पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह अलकों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ॥३४॥

अवन्य—षट्पदेन शाललतावधू श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे मधुसुरभिणि पुष्पे मुख इव नवनिहितेर्ष्यम् अवधूनयन्ती चुचुम्बे ॥३४॥

अर्थ—भ्रमर ने शालवृक्ष की शाखा-रूपिणी वधू के श्वसन ( श्वास तथा समीर ) के कारण कम्पित पल्लवाधर से युक्त, मधु ( मदिरा तथा मकरन्द ) से सुरभित मुख-सदृश पुष्प का, प्रथम बार प्राप्त हुई ईर्ष्या की प्रेरणा से इधर-उधर फेरते हुए भी चुम्बन किया ॥३४॥

टिप्पणी—उस शाल वृक्ष की शाखा वधू थी, पुष्प उसका मुख था। पल्लव उसके चञ्चल ओष्ठ थे। पुष्प का मकरन्द मदिरा थी। वायु-वेग के कारण फूलों का हिलना ही उसके मुख की खींचातानी थी। मदिरा से मुख सुरभित होता है और उसे पान करनेवाले भ्रमर ही नायक थे। श्लेषमूलातिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार का अगागी भाव से सकर।

प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ॥३५॥

अन्वय—परः तदा विजेतुं न प्रभवति यदा जितेन्द्रियता आत्मरक्षा भवति तथाहि अवजितभुवनः पुष्पमासः सिततुरगे विजयं न लेभे ॥३५॥

अर्थ—शत्रु उस समय तक विजय प्राप्त नहीं कर सकता जब तक जितेन्द्रियता अपनी रक्षा करती है। इसी से त्रिभुवनविजयी वसन्त वीरवर अर्जुन को पराजित नहीं कर सका ॥३५॥

टिप्पणी—जितेन्द्रियता के कारण मनुष्य अपराजेय होता ही है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कथमिव तव समतिर्भविन्नी सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ।
इति विरचितमल्लिकाविकास स्मयत इव स्म मधु निदाघकाल ॥३६॥

अन्वय —विरचितमल्लिकाविकास निदाघकाल ऋतुभि सम मुनिना अवधीरितस्य तव सम्मति कथमिव भविन्नी—इति मधु स्मयते स्म इव ॥३६॥

अर्थ—(तदनन्तर) मल्लिका को विकसित करने वाला निदाघ काल अर्थात् ग्रीष्म ऋतु सभी ऋतुओ के साथ तुम अर्जुन से पराजित हो गये तव फिर तुम्हारी क्या इज्जत रह गयी—इस प्रकार से मानो वसन्त ऋतु का परिहास सा करते हुए आकर उपस्थित हो गया ॥३६॥

टिप्पणी—मल्लिका के उज्ज्वल पुष्प मानो ग्रीष्म परिहास के चिह्न थे । सहोक्ति और उत्प्रेक्षा अलकार का अगागी भाव से सकर ।

यनवदपि वल मियोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
भुवनपरिभवो न यत्तदानी तमृतुगण क्षणमुन्मनीचकार ॥३७॥

अन्वय —बलवत् अपि मिथोविरोधि वल विपक्षनिर्जयाय नैव प्रभवनि । यत् भुवनपरिभवी ऋतुगण तदानी त क्षण न उन्मनीचकार ॥३७॥

अर्थ—बलवती होने पर भी यदि आपस मे ही विरोध है तो वह सेना शत्रु को पराजित करने मे समर्थ नहीं हो सकती । इसी से त्रिभुवनविजयी होकर भी समस्त ऋतुएँ इस अवसर पर अर्जुन को क्षणभर के लिए भी व्यग्र नही कर सका ॥३६॥

टिप्पणी—परस्पर विरोध म यहाँ सभी ऋतुओ के एक साथ आविर्भूत होने का सकेत है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

श्रुतिमुखमुपवीणित सहायैरविरललाञ्छनहारिणश्च काला ।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभव वितेनु ॥३८॥

अन्वय —सहायै श्रुतिमुखम् उपवीणितम् अविरललाञ्छनहारिण काला अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभव वितेनु ॥३८॥

अर्थ—अपने सहायक गन्धर्वों द्वारा कर्णमधुर वीणा के साथ प्रस्तुत सगीत

एव प्रचुर माया मे पूर्वोक्त पुष्पो एव फलो आदि सामग्रियो की समृद्धि से युक्त ऋतुएँ इन्द्रपुत्र अर्जुन के मन मे विकार उत्पन्न करने मे असमर्थ होकर उन अप्सराओ के चित्त मे ही काम का विस्तार करने लगी ॥३८॥

*टिप्पणी*—दूसरे को आहत करने के लिए उठाये गए अस्त्र से अपने ही को आहत होना पडा । विषम अलङ्कार ।

न दलति निचये तथोत्पलाना न विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासा हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥३९॥

*अन्वय*—आसा लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति उत्पलाना निचये विषमच्छदगुच्छयूथिकासु अभिरतिं न उपलेभिरे ॥३९॥

अर्थ—उन अप्सराओ के नेत्र इन्द्रपुत्र अर्जुन के अङ्ग प्रत्यङ्ग पर इस प्रकार हर्षित होकर लुब्ध हो गये जिस प्रकार से विकसित कमलो के समूहो, छितवन के पुष्पस्तवको तथा मल्लिका की मजरियो पर नही हुए थे ॥३९॥

टिप्पणी—इसके द्वारा उनकी नेत्र-प्रीति का सकेत किया गया है ।

मुनिमभिमुखता निनीषवो या समुपययु कमनीयतागुणेन ।
मदनमुपदधे स एव तासा दुरधिगमा हि गति प्रयोजनानाम् ॥४०॥

*अन्वय*—या. कमनीयतागुणेन मुनिम् अभिमुखता निनीषव समुपययु । तासा स एव मदनम् उपदधे हि प्रयोजनानाम् गति दुरधिगमा ॥४०॥

अर्थ—जो अप्सराएँ अपने सुन्दरता-रूपी गुण से अर्जुन को अपने वश मे करने की इच्छा से गयी थी उनमे अर्जुन ने ही काम का सञ्चार कर दिया । सच है, उद्देश्यो का परिणाम बडा ही दुर्ज्ञेय होता है ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

प्रकृतमनुससार नाभिनेय प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लव वा ।
प्रथममुपहित विलासि चक्षु सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ॥४१॥

*अन्वय*.—विलासि नर्तकीना चक्षु प्रकृत अभिनेय विकसदङ्गुलि पाणिपल्लव न अनुससार । प्रथम सिततुरगे उपहितं वा न चचाल ॥४१॥

अर्थ—उन नर्तकी अप्सराओं के विलासभरे नेत्र उस समय के अभिनय के योग्य रस भावादि व्यंजक व्यापारों का अनुसरण नहीं कर सके। चञ्चल अंगुलियों वाले पाणिपल्लव भी अनुसरण नहीं कर सके। प्रत्युत हुआ यह कि प्रथम बार ही अर्जुन पर पड़ते ही वे नेत्र वहाँ से हिल तक नहीं सके ॥४१॥

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम् ।
चरणमभिपपात षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का ॥४२॥

अन्वय—अभिनयमनसः सुराङ्गनाया अलक्तकवर्तनाभिताम्रं निहितं चरणं षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का अभिपपात स्म ॥४२॥

अर्थ—रस-भावादि के अभिनय की इच्छा करने वाली देवांगनाओं के महावर लगाने से लाल धरती पर पड़े हुए चरण चिह्नों पर भ्रमरों की पंक्तियाँ नूतन कमल के पुष्प की शंका से आकर बैठ गयीं ॥४२॥

टिप्पणी—भ्रान्तिमान् अलङ्कार से उपमा की ध्वनि।

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु ।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि ॥४३॥

अन्वय—नमितशिखानि कदम्बकेसराणि अविरलं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनाम् अलसेषु पदेषु अलक्तकं सवपुषं चित्तरागम् ऊहुः ॥४३॥

अर्थ—(नर्तकियों के) पैरों से कुचले हुए अग्रभाग वाले रंग-पूजा में समर्पित कदम्बों के केसर अत्यन्त गाढ़े किन्तु अनुराग की ऊष्मा से पिघलते हुए नर्तकियों के आलस्यभरे चरणों की महावर को मानो उनके चित्त के अनुराग की मूर्ति की भाँति धारण कर रहे थे ॥४३॥

टिप्पणी—अर्जुन ने रंग-पूजा के लिए कदम्बों के केसर वहाँ रखे थे, नर्तकियाँ उन्हीं पर नाच-रंग कर रही थीं। उनका चित्त तो लगा था अर्जुन में, अतः वे धीरे-धीरे पाद-विन्यास कर रही थीं। अर्जुन के प्रति भीतरी अनुराग से उन्हें पसीना छूट रहा था जिससे महावर का रंग छूट-छूट कर उन केसरों पर लग रहा था। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मानो वे महावर

के रग नही प्रत्युत उनके अनुराग का ही पिघला हुआ रूप थे। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

नृपसुतमभित समन्मथाया परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टे ।
स्फुटमभिलषित बभूव वध्वा वदति हि सवृतिरेव कामितानि ॥४४॥

*अन्वय*—नृपसुतम् अभित परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टे समन्मथाया वध्वा अभिलषित स्फुट बभूव। सवृति एव कामितानि वदति हि ॥४४॥

अर्थ—अर्जुन के सम्मुख सखी के शरीर की आड मे छिपी हुई एक अप्सरा अत्यन्त कामपीडित हो गई थी, अर्जुन के प्रति उसकी कामाभिलाषा स्पष्ट हो गयी थी। सच है, अच्छी तरह से छिपाने की चेष्टा ही अनुराग की सूचना देती है ॥४६॥

*टिप्पणी*—*अनुराग का यह स्वभाव ही है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे* छिपाया जाता है वही चेष्टा उसकी सूचना भी देती है। अर्थान्तरन्यास अलकार।

अभिमुनि सहसा हृते परस्या घनमरुता जघनांशुकैकदेशे ।
चकितमवसनोरु सत्रपाया प्रतियुवतीरपि विस्मय निनाय ॥४५॥

*अन्वय*—*अभिमुनि घनमरुता जघनांशुकैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपाया परस्या अवसनोरु चकित प्रतियुवती अपि विस्मय निनाय ॥४५॥*

अर्थ—तपस्वी अर्जुन के समक्ष तीव्र वायु द्वारा जघनस्थल पर से वस्त्र के एक भाग के सहसा उड जाने पर लज्जित एक अप्सरा के निर्वस्त्र उरुभाग के दिखाई पडने से उसकी सपत्नी भी विस्मय-विमुग्ध हो गई ॥४५॥

*टिप्पणी*—*जब सपत्नी भी विस्मित हो गई तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या। किन्तु इसका भी अर्जुन पर कोई प्रभाव नही पडा।*

धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूपितपाण्डुगण्डलेखम् ।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचन निदध्यौ ॥४६॥

*अन्वय*—*अपरा स्मराभितापात् धृतबिसवलय पाणौ अधिरूपितपाण्डुगण्ड लेख मुख निधाय अमधुमदालसलोचन नृपसुत निदध्यौ ॥४६॥*

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा काम के सताप से मृणाल-तन्तु के वलय से विभूषित हथेलियों पर अपने चदनादि चर्चित पीले कपोलों वाले मुख को रखकर मदिरा के मद से रहित होने पर भी आलस्य युक्त नेत्रों से अर्जुन को देख रही थी ॥४६॥

[ नीचे के पाँच श्लोकों में अर्जुन के लिए एक दूती ने सन्देश दिया है— ]

मयि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता ।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद ॥४७॥

अन्वय—कुसुमेषुणा अभितप्ता सा हे सखि ! दयितम् इहानयेति मां प्रहितवती अहृदया पूर्वं भवत् उपकण्ठम् उपागतं हृदयं न विवेद नाम ॥४७॥

अर्थ—कामदेव से पीड़ित उस सुन्दरी ने—'हे सखी ! मेरे प्रियतम को यहाँ मेरे पास ले आओ'—ऐसा कह कर मुझे आपकी सेवा में भेजा है। उसने अपना हृदय तो पहले ही आप के समीप भेज दिया है, अत वह हृदयविहीना है, असमर्था है, वह यह भी नहीं जानती कि उसका हृदय भी उसके पास नहीं रह गया है ॥४७॥

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।
गतघृण गमितानि मत्सखीनां नयनयुगं सममार्द्रतां मनांसि ॥४८॥

अन्वय—चिरं कलितान्यपि परिशुष्यता मुखेन परिगदितुम् अपारयन्त्या हे गतघृण ! मत्सखीनां मनांसि नयनयुगं समम् आर्द्रतां गमितानि ॥४८॥

अर्थ—मेरी सखी ने बहुत देर से आप से कहने के लिए बहुत-सी बातें सोच रखी थीं, किन्तु ( मन सन्ताप से ) मुख के सूख जाने के कारण कहने में वह असमर्थ हो गई। हे निर्दय ! मेरी उस सुन्दरी सखी का मन भी दोनों नेत्रों के साथ ही गीला हो गया है ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् लोर के भार से चित्त भी भारी हो गया है। सहोक्ति अलङ्कार।

अचकमत सपल्लवा धरित्री मृदुसुरभि विरहय्य पुष्पशय्याम् ।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥४६॥

अन्वय—मृदुसुरभि पुष्पशय्या विरहय्य सपल्लवा धरित्रीम् अचकमत अस्या तत्र भृशम् अरतिम् अवाप्य सुखशीत तव अङ्कम् उपैतुमिच्छा ॥४६॥

अर्थ—उस सुन्दरी ने कोमल एव सुगन्धि से भरी पुष्पो की शैय्या छोडकर नूतन पल्लवो से बिछाई गई धरती पर सोने की इच्छा की थी। किन्तु धरती पर भी अत्यन्त दाहकता का अनुभव करके वह अब तुम्हारे सहज सुखदायी एव शीतल अको में सोना चाहती है ॥४६॥

टिप्पणी—पुष्पो की शैय्या और धरती पर पल्लव बिछाकर सोने का कारण यह था कि पल्लव और धरती दोनो ही शीतल होते हैं। पर्याय अलकार।

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुता त्वदर्थे।
पुनरपि सुलभ तपोऽनुरागी युवतिजन खलु नाप्यतेऽनुरूप ॥५०॥

अन्वय—तत हे अनघ ! तनु सा सकामा अस्तु। हि त्वदर्थे परासुता पुरा व्रजति। पुनरपि तप सुलभम् अनुरागी अनुरूप युवतिजन नाप्यते खलु ॥५०॥

अर्थ—इसलिए हे निष्पाप ! उस दुर्बल अगोवाली मेरी सखी की कामनाएँ पूरी करो क्योकि वह तुम्हारे ही लिए अपने प्राणो को छोडने जा रही है। तपस्या तो फिर भी तुम्हें सुलभ हो सकती है किन्तु तुम्हारे अनुरूप वैसी युवती सुन्दरी निश्चय ही नही मिलेगी ॥५०॥

[इस प्रकार से लुभाये जाने पर भी जब तपस्वी अर्जुन का मौन भङ्ग नहीं हुआ, तब वह बोली—]

जहिहि कठिनता प्रयच्छ वाच ननु करुणामृदु मानस मुनीनाम्।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्या स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥५१॥

अन्वय—कठिनता जहिहि। वाच प्रयच्छ। मुनीना मानस करुणामृदु ननु। अभव्या उपगतम् अवधीरयन्ति। एव स कयाचिद् एत्य निपुण ऊचे ॥५१॥

अर्थ—कठोरता छोड दीजिए। कुछ उत्तर तो दीजिए। तपस्वी मुनियो का

चित्त तो करुणा से भरा रहता है। जो लोग भाग्यहीन होते है वह प्राप्त वस्तु की अवहेलना करते हैं—इस प्रकार की बातें उस चतुर दूती ने समीप आकर बड़ी निपुणता से अर्जुन से कही ॥५१॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसयमनाकुलैकपाणि ।
सुरपतितनयेऽपरा निरासे मनसिजजैत्रशर विलोचनार्धम् ॥५२॥

अन्वय —सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसयमनाकुलैकपाणि अपरा, सुरपतितनय मनसिजजैत्रशर विलोचनार्धं निरासे ॥५२॥

अर्थ—विलासपूर्वक अपने कटि भाग को हिलाती हुई एव एक हाथ से बालों को बाँधने की लीला करती हुई एक दूसरी अप्सरा ने देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन पर कामदेव के विजयी बाण —अपने कटाक्षो को चलाया ॥५२॥

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥५३॥

अन्वय —इभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी काचिद् तनु कुसुमितम् उच्चै चूतम् अवलम्ब्य विसृतगुण अनङ्गचापयष्टि इव तदभिमुख समुन्ननाम ॥५६॥

अर्थ—हाथी के गण्डस्थल के समान विशाल स्तनो के भार से झुकी हुई एव कृशांगिनी अप्सरा कुसुमित रसाल की शाखा का सहारा लेकर प्रत्यञ्चा चढाए हुए कामदेव के धनुष की भाँति अर्जुन के सम्मुख जँभाई लेने लगी ॥५३॥

टिप्पणी—अर्थात् उसने स्पष्ट रूप से अर्जुन के प्रति अपनी काम व्यथा प्रकट की।

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम् ।
अभिपतितुमना ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दितावतस्थे ॥५४॥

अन्वय —अन्या विगलितनीवि विलोल नीलम अन्तरीयम् अवलम्ब्य सरभसम् अभिपतितुमना ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दिता अवतस्थे ॥५४॥

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा नीवी बन्धन के शिथिलित हो जाने के कारण अपने स्थान से गिरते हुये नीले अन्तरीय वस्त्र ( साया ) को पकड़ कर शीघ्र

ही भागना चाहती थी कि लज्जित सी होकर गिरती हुई करधनी मे अटक गई और जहाँ की तहाँ रुकी रह गई ॥५४॥

[एक नायिका अर्जुन को फटकार रही है, नीचे के दो श्लोको मे उसी का वर्णन है—]

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ॥५५॥

अन्वयः—तव मनसि शम. यदि अङ्ग चाप किम् । हे शठ ! तव विषयाः वल्लभाः न मुक्तिः । भवतु हृदये हृदयेश्वरा तव अन्यकामिनीभ्य· अवकाश न दिशति ॥५५॥

अर्थ—हे तपस्वी ! तुम्हारे चित्त मे यदि (सचमुच) शान्ति है तो यह धनुष किस लिए धारण किये हुए हो । किन्तु हे शठ ! (मैं तो ऐसा समझती हूँ कि) तुम विषयाभिलाषी हो, मुक्ति के अभिलाषी नही हो। तुम्हारे हृदय मे तो तुम्हारी कोई प्राणेश्वरी छिपी हुई है जो दूसरी कामिनी को वहाँ स्थान नहीं देना चाहती ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम किसी दूसरी सुन्दरी पर आसक्त हो, इसी से हम लोगो की अवहेलना कर रहे हो । यह तुम्हारा वैराग्य नही है, दम्भ है ।

*इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित् ।*
अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥५६॥

*अन्वय.—इति असूयया स्फुरत् अधरोष्ठम् अभिधाय विषमितचक्षुषा अगणितगुरुमानलज्जया कयाचित् असौ उरसि स्वय श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥५६॥*

अर्थ—इस प्रकार ईर्ष्या के साथ फडकते हुए ओठो से उक्त बातें कहकर *तिरछी नजरो से अर्जुन को देखते हुए गुरुजनो की लज्जा एव अपनी मान-मर्यादा* की कोई चिन्ता न कर उस सुन्दरी ने अर्जुन के वक्षस्थल पर स्वय अपने हाथो से कानो पर रखे हुए कमल द्वारा प्रहार किया ॥५६॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मी ।
श्रवणनियमितेन त निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥५७॥

अन्वय —अपरा सविनय साचि अभिसृत्य स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मी श्रवणनियमितेन असकलेन लोचनेन त सकलमिव निदध्यौ ॥५७॥

अर्थ—एक दूसरी अप्सरा विनम्रतापूर्वक तिरछी गति अर्थात् हावभावपूर्ण चाल से अर्जुन के समीप पहुँची । अपनी मनोहर मुस्कान से कपोल शोभा को बढाती हुई वह कानों तक लबे अपने कटाक्षो से मानो अर्जुन को सम्पूर्ण रूप से पी-सा गयी ॥५७॥

टिप्पणी—ऊर्जस्वल अलङ्कार ।

करुणमभिहित त्रपा निरस्ता तदभिमुख च विमुक्तमश्रु ताभि ।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतु प्रियमियती ह्यवलाजनस्य भूमिः ॥५८॥

अन्वय —ताभि तत् अभिमुखम् करुणम् अभिहितम् । त्रपा निरस्ता । अश्रु विमुक्तम् । हि अवलाजनस्य अभिसारणे प्रकुपित प्रियम् अनुनेतुम् इयती ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार उन अप्सराओं ने अर्जुन के सम्मुख अनेक दीनताभरी बातें कहीं । लज्जा का परित्याग किया और आँसू तक बहाया । स्त्रियाँ समागम के लिए रूठे हुए अपने प्रियतम को मनाने में यही सब उपाय ही तो करती हैं ॥५८॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलस परिपाण्डुता विषाद ।
इति विविधमियाय तासु भूषा प्रभवति मण्डयितु वधूरनङ्ग ॥५९॥

अन्वय —असकलनयनेक्षितानि लज्जा अलस गत परिपाण्डुता विषाद इति विविध तासु भूषाम् इयाय । हि अनङ्ग वधू मण्डयितु प्रभवति ॥५९॥

अर्थ—आधे नेत्रों से देखना अर्थात् कटाक्षपात, लज्जा, अलसाई हुई चाल, विरह से पीली पड जाना, और विषाद—ये सभी प्रकार के विकार उन अप्सराओं

की शोभा बढाने लगे। सच है, कामदेव सभी अवस्थाओ मे रमणियो को सुन्दर ही बना देता है ॥५६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[इस प्रकार अप्सराएँ अर्जुन को मोहित करने मे निष्फल हो गयी। नीचे के तीन श्लोको मे इसी का वर्णन कवि ने किया है—]

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम्।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ॥६०॥
भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ॥६१॥
रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे।
ज्वलयति महता मनास्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः ॥६२॥

अन्वयं—प्रकृत्या अलसपदमनोरमं जितकलहंसवधूगति प्रयातम् उरुजघनस्थलातिभारात् उदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं स्थितं वा। भृशकुसुमशरेषुपातमोहात् अनवसितार्थपदाकुलः अभिलापः वधूनां अधिकविततलोचनम् अयुगपत् उन्नमितभ्रु वीक्षितं च। रुचिकरम् अपि स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे अर्थवत् न बभूव। हि महता मनासि अमर्षे ज्वलयति सति सुखाभिलाषः अवसरं न लभते ॥६०—६२॥

अर्थ—सहज अलसाए हुए चरणो से हंसिनियो की गति को तिरस्कृत करने वाली उनकी मनोहर चाल, अत्यन्त विस्तृत जघनस्थलो के भार से थके हुए नेत्रो से उनका तिरछा देखना, किसी प्रकार खडा होना, कामदेव के तीक्ष्ण बाणो के प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छावस्था मे प्रयुक्त होने के कारण (सुबन्त, तिङन्त आदि वाक्यो के अव्यक्त होने के कारण) अस्पष्ट उनका वार्तालाप, आश्चर्य अथवा भय से बहु विस्तृत नेत्र, बारी-बारी से भौहे ऊपर उठा-उठाकर उनका देखना, आदि उन देवागनाओ की चेष्टाएँ यद्यपि बहुत मनोरम थी, तथापि स्थिर समाधि मे निरत एव निर्विकार-चित्त होने के कारण पवित्र अर्जुन (के हृदय) में उनका कोई परिणाम नही हुआ अर्थात् वे सब निरर्थक ही सिद्ध हुए। सच है,

महान पुरुषो के मन मे जब तक अमर्ष की अग्नि धधकती रहती है जब तक सुख की अभिलाषा को अवसर नही मिलता ॥६०—६२॥

टिप्पणी—रौद्र रस शृगार का विरोधी होता है। जब तक मनस्वी के मन मे प्रतिशोध की भावना जागती रहेगी तब तक वह विषय सुखो की ओर आकृष्ट नही होगा। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

स्वय सराध्यैव शतमखमखण्डेन तपसा
परोच्छित्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मी हरिसुते।
मनोभि. सोद्वेगै प्रणयविहतिध्वस्तरुचय.
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिता स्व प्रतिययु ॥६३॥

अन्वय —एव हरिसुते स्वयम् अखण्डेन तपसा शतमख सराध्य परोच्छित्या लभ्या लक्ष्मीम् अभिलषति सोद्वेगै मनोभि प्रणयविहतिध्वस्तरुचय सगधर्वा त्रिदशवनिता स्व धाम प्रतिययु ॥६३॥

अर्थ—इस प्रकार अर्जुन को अपनी अखड तपस्या द्वारा शतक्रतु इन्द्र की आराधना कर शत्रु का विनाश करने के बाद प्राप्त होने वाली विजयश्री को अभिलाषा मे निरत देख, प्रेम-प्रार्थना के भग होने से उदास वे दवागनाएँ उद्वेगपूर्ण चित्त होकर गधर्वो के साथ अपने निवास-स्थल को वापस लौट गयी ॥६३॥

टिप्पणी—शिखरिणी छन्द।

श्रीभारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य म दसवाँ सर्ग समाप्त ॥१०॥

# ग्यारहवाँ सर्ग

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया ।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ॥१॥

अन्वयः—अथ पाकशासनः तया आमर्षात् निसर्गात् च जितेन्द्रियतया प्रतीतः जिष्णोः आश्रमम् आजगाम ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर पाकशासन इन्द्र उन अप्सराओं द्वारा कही गयी अर्जुन की शत्रु के द्वेष से पूर्ण एवं स्वभावसिद्ध जितेन्द्रियता की बातें सुनकर परम प्रसन्न हुए और अर्जुन के आश्रम में पहुँचे ॥१॥

टिप्पणी—काव्यलिंग अलङ्कार ।

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥२॥

अन्वयः—मुनिरूपः अनुरूपेण सूनुना पुरः ददृशे । वयोतीतः द्राघीयसा अध्वना परिक्लान्तः किल ॥२॥

अर्थ—मुनिरूपधारी इन्द्र को उनके अनुरूप अर्थात् दर्शन पाने योग्य पुत्र अर्जुन ने अपने सामने देखा । वह वृद्धवेश में लंबे पथ के पथिक की भाँति मानो बहुत थके हुए से थे ॥२॥

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया ॥३॥

अन्वयः—परितः सितैः केशैः कीर्णया जटानां संहत्या इन्दुकरैः पृक्तया सन्ध्यया अह्नः पर्यन्तः इव ॥३॥

अर्थ—चारो ओर से सफेद बालो से व्याप्त जटाजूट से सुशोभित इन्द्र चन्द्रमा की किरणोयुक्त सन्ध्या से व्याप्त दिन के अवसान की भाँति दिखाई पड रहे थे ॥३॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचन ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रद ॥४॥

अन्वय—विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचन प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज ह्रद इव ॥४॥

अर्थ—वृद्धता के कारण सफेद भौंहो से युक्त झुर्रीदार नेत्रो से वह तुषार की ढेर से मुरझाये हुए मानो कमलदल से व्याप्त सरोवर की भाँति दिखाई पड रहे थे ॥४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

आसक्तभरनीकाशैरगै परिकृशैरपि ।
आद्यून सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बित ॥५॥

अन्वय—परिकृशैं अपि आसक्तभरनीकाशैं अङ्गैं आद्यून सद्गृहिण्या इव प्राय यष्ट्या अवलम्बित ॥५॥

अर्थ—अत्यन्त दुबले-पतले होने पर भी मानो भारी बोझ से दबे हुए के समान अगो से वह पत्नी के सहारे उठने-बैठने वाले पेट निकले हुए व्यक्ति की तरह एक लाठी का सहारा लिए हुये थे ॥५॥

टिप्पणी—उपमा और उत्प्रेक्षा का सकर।

गूढोऽपि वपुषा राजन्धाम्ना लोकाभिभावना ।
अशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह ॥६॥

अन्वय—वपुषा गूढ अपि तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रह अशुमान् इव लोकाभिभाविना धाम्ना राजन् ॥६॥

अर्थ—प्रच्छन्न रूप धारण करने पर भी हल्के बादलों की रेखा से छिपे हुए सूर्यमण्डल की भाँति, सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करने वाले तेज से वह दीप्त हो रहे थे ॥६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकं ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥७॥

अन्वय—जरतीम् तनुम् बिभ्राण अपि अप्राकृताकृतिः आक्रान्तलक्ष्मीकं आश्रमम् ससाध्वसम् इव चकार ॥७॥

अर्थ—वृद्ध शरीर को धारण करने पर भी अपनी अलौकिक मूर्ति से आश्रम की शोभा को फीकी बनाते हुए इन्द्र ने अर्जुन के उस आश्रम को भयभीत-सा बना दिया ॥७॥

टिप्पणी—तेजस्वी व्यक्ति के दर्शन से ऐसा भय होता ही है।

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥८॥

अन्वय—पृथासूनुः तम् अभितः स्नेहेन परितस्तरे। अविज्ञाते अपि बन्धौ बलात् मनः प्रह्लादते हि ॥८॥

अर्थ—अर्जुन इन्द्र को देखते ही अत्यन्त आदर और स्नेह से भर गये। बन्धु-बान्धवों में सम्बन्ध ज्ञान न होने पर भी दर्शन मात्र से ही (अपने आप) बलात् चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥८॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥९॥

अन्वय—अथ सुतात् आतिथेयीं अपचितिम् आसाद्य विष्टरे विश्रम्य नाम हरिः इति भारतीम् व्याजहार ॥९॥

अर्थ—तदनन्तर अपने पुत्र अर्जुन के अतिथि सत्कार को प्राप्त कर ( दिये गये ) आसन पर थोडी देर तक विश्राम कर इन्द्र इस प्रकार बोले ॥९॥

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥१०॥

अन्वय—त्वया साधु समारम्भि यत् नवे वयसि तपः मादृशः वर्षीयान् अपि प्रायः विषयैः ह्रियते ॥१०॥

अर्थ—यह तुमने अच्छा कार्य आरम्भ किया है जो यौवन मे ही तपस्या कर रहे हो, क्यो कि हमारी तरह बडे-बूढे लोग भी प्रायः विषयो से आकृष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

टिप्पणी—अर्थात् जब हम लोगों के समान असमर्थ बूढे लोग भी विषय-सुखेच्छा का त्याग नही कर सकते तो तुम्हारे समान युवक की तो बात ही क्या है ?

श्रेयसी तव सम्प्राप्ता गुणसम्पदमाकृतिः ।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥११॥

अन्वय—तव आकृतिः श्रेयसी गुणसम्पदम् सम्प्राप्ता लोके। रम्यता सुलभा हि गुणार्जनम् दुर्लभम् ॥११॥

अर्थ—तुम्हारा यह सुन्दर शरीर बडी उत्तम तपस्या-रूपी गुण-समृद्धियो से युक्त है, ( अत वह सफल है ) क्योकि ससार मे सुन्दर आकृतियाँ तो बहुत देखी जाती है किन्तु उनमे गुण भी हो, यह दुर्लभ ही होता है ॥११॥

टिप्पणी—तुम मे दोनो वस्तुएँ हैं, यह तो सोने मे सुगन्ध है। अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार।

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥१२॥

अन्वय—यौवनश्रिय शरदम्बुधरच्छायागत्वर्य. विषया आपातरम्या पर्यन्तपरितापिन ॥१२॥

अर्थ—यौवन लक्ष्मी शरदऋतु के बादलो की छाया के समान चञ्चल होती है, विषय केवल तात्कालिक सुख देनेवाले हैं, किन्तु अन्त मे वे बड़ा दु ख देते हैं ॥१२॥

अन्तक पर्यवस्याता जन्मिन सन्ततापद ।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जन ॥१३॥

अन्वय—सन्ततापद जन्मिन अन्तक पर्यवस्याता इति त्याज्ये भवे भव्य जन मुक्तौ उत्तिष्ठते ॥१३॥

अर्थ—इस ससार म जन्म लेने वालो को सर्वदा दु ख ही दु ख है और अन्त मे मृत्यु तो अवश्यम्भाविनी है (अर्थात् पहले तो अपार जन्मदु ख ही प्राणी को भोगना पडता है, और किसी प्रकार जन्म हुआ तो सारा जीवन दु ख-मय है, और फिर अन्त मे मृत्यु का महान् दु ख फिर उसे भोगना पडेगा ही—) ऐसा सोचकर इस त्यागने योग्य ससार मे ( तुम्हारे समान ) योग्य पुरुष जन्म लेकर) मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ॥१३॥

चित्तवानसि कल्याणी यत्वा मतिरुपस्थिता ।
विरुद्ध केवल वेष सन्देहयति मे मन ॥१४॥

अन्वय—चित्तवान् असि, यत् त्वा कल्याणी मति उपस्थिता केवल विरुद्ध वेष मन सन्देहयति ॥१४॥

अर्थ—तम प्रशस्त चित्त वाले हो, जो तुम्हे यह कल्याणकारिणी बुद्धि प्राप्त हुई है, किन्तु यह जो तपस्वी के विरुद्ध वेश तुम धारण किए हो, केवल वही मेरे मन मे सन्देह पैदा कर रहा है ॥१४॥

युयुत्सुनेव कवच किमामुक्तमिद त्वया ।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥१५॥

अन्वय:—युयुत्सुना इव त्वया किम् इदम् कवचम् आमुक्तम् हि तपस्विनः केवलाजिनवल्कले वसते ॥१५॥

अर्थ—लड़ाई के लिए तैयार योद्धा की तरह तुमने यह कवच किस लिए धारण कर रखा है, क्योकि तपस्वी तो केवल मृगचर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥१५॥

प्रपित्सोः किं च ते मुक्ति निःस्पृहस्य कलेवरे ।
महेपुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः ॥१६॥

टिप्पणी—किञ्च मुक्ति प्रपित्सोः कलेवरे निःस्पृहस्य भूताना अनभिद्रुहः ते महेपुधी भीम धनुः च ॥१६॥

अर्थ—तुम तो मुक्ति के अभिलाषी हो, अपने शरीर के सम्बन्ध मे भी निःस्पृह एव जीवमात्र के लिए अहिंसक भावना धारण करनेवाले हो । तब फिर यह दोनो महान् तरकस और यह भयङ्कर धनुष किस लिए धारण किए हो ? ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् इन दोनो से तुम्हारी शान्ति-परायणता का प्रमाण नही मिलता ।

भयङ्करः प्राणभृता मृत्योर्भुज इवापरः ।
असिस्तव तपस्यस्य न समर्थयते शमम् ॥१७॥

अन्वय:—मृत्योः अपरः भुजः इव प्राणभृताम् भयङ्करः असिः तपस्यस्य तव शमं न समर्थयते ॥१७॥

अर्थ—मृत्यु की दूसरी भुजा के समान जीवधारियो के लिए भयङ्कर तुम्हारी यह तलवार तपस्या मे निरत तुम्हारे शान्ति-परायण होने का समर्थन नही करती ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् शान्तचित्त को भला तलवार से क्या प्रयोजन ?

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः ।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ॥१८॥

अन्वयः—अत्र भवान् अरातिषु जयम् अभिलाषुकः नूनम् क्रोधलक्ष्म आयुधं क्व क्षमावन्तः तपोधनाः ॥१८॥

अर्थ—निश्चय ही ऐसा मुझे लग रहा है कि प्रशस्त गुणों से युक्त तुम अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के अभिलाषी हो। अन्यथा कहाँ क्रोध के सूचक शस्त्रास्त्र और कहाँ क्षमाशील तपस्वी लोग ? ॥१८॥

टिप्पणी—क्रोध और शान्ति के परस्पर विरोधी होने से शस्त्रास्त्र और तपस्या एकत्र नहीं रह सकते। इसलिए मेरा अनुमान है कि तुम शस्त्र धारण करके जो तपस्या में लीन हो, वह केवल शत्रु पर विजय की अभिलाषा से हो, मुक्ति की इच्छा से नहीं।

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयकरीः क्रियाः।
ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥१९॥

अन्वयः—यः निःश्रेयसकरीः क्रियाः वधोदर्काः करोति मूढः सः ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः अपः पङ्कयति ॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य मुक्ति-फल को देनेवाली तपस्या एवं दानादि क्रियाओं का अनुष्ठान परकीय हिंसा के लिए करता है, वह मूर्ख मार्ग की थकावट एवं पिपासा को दूर करने वाले निर्मल जल को कीचड से गन्दा करता है ॥१९॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥२०॥

अन्वयः—हिंसादेः दोषस्य मूलम् अर्थकामौ मा स्म पुषः हि तौ तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदौ उपप्लवौ ॥

अर्थ—हिंसा, चोरी, झूठ आदि अवगुणों के मूल कारण अर्थ और काम हैं अतएव इन दोनों को पुष्ट मत करो, क्योंकि ये दोनों तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में बड़े ही दुर्निवार विघ्न हैं ॥२०॥

टिप्पणी—अतएव पुरुषार्थ मे बाधा पहुँचाने वाले इन दोना पदार्थों को पुरुषार्थ (मोक्ष प्रयत्न) नही कह सक्ते।

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन्गत्वरी श्रिय ।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥२१॥

अन्वय —भूतानाम् अभिद्रोहेण गत्वरी श्रिय अर्जयन् उदन्वान् सिन्धूनाम् इव आपदाम् पात्रताम् ॥२१॥

अर्थ—प्राणियो की हिंसा करके चञ्चला लक्ष्मी को एकत्र करने वाला मनुष्य ठीक उसी तरह से विपत्तियो का आश्रय बनता है जिस तरह समुद्र नदियो का आश्रय होते हैं ॥२१॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

या गम्या सत्सहायाना यासु खेदो भय यत ।
तासा किं यन्न दु खाय विपदामिव सम्पदाम् ॥२२॥

*अन्वय—या सत्सहायानाम् गम्या यासु* खेद यत भयम्, विपदाम् इव तासाम् सम्पदाम् न किम् यत् दु खाय ॥२२॥

अर्थ—जो सम्पत्ति साधन सम्पन्न व्यक्तियो के लिए ही सुलभ है जिसके रहने पर उसकी रक्षा आदि का महान् कष्ट उठाना पडता है, जिसके कारण अनेक भय रहते हैं, विपत्तियो के समान उस सम्पत्ति की ऐसी कोई वस्तु नही है जो दु ख न देती हो ॥२२॥

टिप्पणी—विपत्तियाँ भी साधन-सम्पन्न व्यक्तियो के द्वारा ही दूर होती हैं, खेद और भय तो विपत्ति के फल ही हैं। उपमा अलकार।

दुरासदानरीनुग्रान्धृतेर्विश्वासजन्मन ।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥२३॥

अन्वय —दुरासदान् विश्वासजन्मन धृते उग्रान् अरीन् भोगान् आहेयान् भोगान इव अध्यास्य आपत् न दुर्लभा ॥२३॥

अर्थ—दुष्प्राप्य, विश्वास से उत्पन्न सन्तोष रूपी सुख के क्रूर शत्रु धन को, सर्प के फणो के समान प्राप्त करके विपत्तियाँ दुर्लभ नही रह जाती ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् भोग-विलास परायण अथवा धनी पुरुष विपत्तियो से छुटकारा कभी नही पा सकते ।

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥२४॥

अन्वय—श्रियः जातु अन्तरज्ञाः न आसां प्रियैः न भूयते । मूढाः अमी तासु आसक्ताः हि जन्तवः वामशीलाः ॥२४॥

अर्थ—लक्ष्मी कभी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती । इसका कोई प्रिय नही है । वे मूर्ख मनुष्य हैं जो अनुरक्त न होने पर भी इसमे आसक्त होते हैं । सच है, लोग कुटिल स्वभाव के होते ही है ।

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।
साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव सम्पदः ॥२५॥

अन्वयः—सम्पदः अशीलेषु यत् चञ्चलाः स्तुतिपदे कः अपवादः । क्षुद्राः साधुवृत्तान् अपि विक्षिपन्ति एव ॥२५॥

अर्थ—लक्ष्मी (सम्पत्तियाँ) दुःशील पुरुषो के सम्बन्ध मे चञ्चल होती है, अतः यदि इसे चञ्चला कहा जाता है तो इसमें निन्दा की कोई बात नही है, यह तो उसकी स्तुति योग्यता ही है । किन्तु यह नीच स्वभाव वाली लक्ष्मी सदाचारी लोगो को भी छोड देती है—यही उसकी निन्दा का विषय है ॥२५॥

टिप्पणी—इसीलिए अर्थ अर्थात् धन-सम्पत्ति को पुरुषार्थ नही कह सकते ।

[ यदि तुम यह कहो कि मैं अर्थ-कामना से नही वीरधर्म के पालन के

लिए अपने शत्रु सहार के लिए यह तपस्या कर रहा हूँ तब भी परपीडन के कारण यह अनुचित ही है, क्योंकि—]

कृतवानन्यदेहेपु कर्त्ता च विधुरं मनः ।
अप्रियैरिव सयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ।।२६।।

अन्वयः—अप्रियैः सयोगः इव प्रियैः सह विप्रयोग. अन्यदेहेपु मन. विधुरम् कृतवान् कर्ता च ।।२३।।

अर्थ—अनिष्ट वस्तुओ के सयोग के समान इष्ट वस्तुओं का वियोग अतीत जन्म के शरीर मे मन को दु.खित कर चुका है और भावी शरीर मे भी करेगा, (वर्तमान मे तो करता ही है, जैसा कि तुम्हें भी अनुभव होगा।)

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि प्रिय का विनाश दु.ख का कारण होता है।

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ।।२७।।

अन्वयः—प्रियसमागमे सति शून्यम् अपि आकीर्णताम् एति व्यसनम् उत्सवैः तुल्यम् विप्रलम्भः लाभाय ।।२७।।

अर्थ—इष्ट जनों का समागम होने पर रिक्त घर-द्वार भी भरा-पुरा-सा मालूम पडता है, विपत्तियाँ भी उत्सव के समान मालूम पडने लगती हैं, और वचना भी लाभदायक होती है ।।२७।।

टिप्पणी—बहुत अधिक क्या कहा जाय इष्ट जनो का समागम सभी अवस्थाओ मे सुखदायक होता है।

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्य तदासवः ।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ।।२८।।

अन्वयः—यदा इष्टेन रहितः तदा रम्याणि अरम्याणि प्रिया असवः शल्यम् तदा सबन्धुः सन् एकाकी ।।२८।।

अर्थ—किन्तु जब इष्ट जनो का वियोग हो जाता है, तब तो रमणीय वस्तुएँ

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः ।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ॥३१॥

अन्वयः—हे तपोधन ! रणोत्साहम् विजहीहि साधु तपः मा नीनशः जन्मनः उच्छेदम् कर्तुम् शान्तः एधि ॥३१॥

अर्थ—हे तपोधन ! (मेरी सम्मति में) इस युद्धोद्योग को छोड़ दो, मुक्तिदायिनी अपनी तपस्या को खण्डित मत करो और जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शांति का आश्रय लो अर्थात विजय की कामना त्याग दो ॥३१॥

[यदि यह कहो कि विजय प्राप्त करने का व्यसन पड़ गया है, उसकी खुजली शान्त नहीं हो सकती तो अपने शरीर के भीतर बैठे हुए शत्रुओं का नाश करके उन पर विजय प्राप्त करो—

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥३२॥

अन्वयः—दुर्जया. चक्षुरादय· देहे रिपव. जीयन्ताम् । तेषु जितेषु त्वया अयं कृत्स्नः लोक. जितः ननु ॥३२॥

अर्थ—अत्यन्त कठिनता से वश में करने योग्य आँख आदि अपने शरीर में ही विद्यमान शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । क्योंकि उन सब पर विजयप्राप्त कर लेने पर तुम निश्चय ही इस समस्त ससार के विजयी हो जाओगे ॥३२॥

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रप. ।
अविधेयेन्द्रिय. पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥३३॥

अन्वयः—अविधेयेन्द्रियः अर्थसंसिद्धौ परवान् नीचवृत्तिः अपत्रपः गौः इव पुंसाम् विधेयताम् एति ॥३३॥

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों का दास है वह स्वार्थ-साधन में पराधीन, नीच से भी नीच कर्म करने वाला, निर्लज्ज, बैल की तरह अन्य लोगों की आज्ञा का पालन करनेवाला (चाकर) होता है ॥३३॥

अर्थ—अत्यन्त सरल-सुगम भाषा मे मनोहर ढङ्ग से कही गई, समास-बहुलता से ओजस्वी, अर्थगाभीर्य से युक्त, थोड़े वाक्यो मे अधिक भाव भरी हुई, परस्पर साकाक्ष पदों से युक्त, अध्याहार से रहित, तात्पर्य से सम्बद्ध सम्पूर्ण अर्थों का बोध कराने वाली, सकुचित अर्थ से विहीन यह तुम्हारी बातें अनेक युक्तियो से युक्त होने के कारण निर्णीत अर्थों वाली है, इन्हे अन्यान्य शास्त्रो से प्रतिपादित करने की आवश्यकता नही है, प्रतिवादियो द्वारा भी ये तर्कों द्वारा अखडनीय होने के कारण वेद-वाक्यो के समान हैं। दूसरे लोग इनका उल्लघन नही कर सकते। क्षुब्ध जलराशि वाले समुद्र के समान गभीर तुम्हारी ये बातें उत्कृष्ट गुणो से तथा मुक्ति रूप परमपुरुषार्थ से युक्त होने के कारण मुनियो के चित्त के समान शान्त हैं। इस प्रकार के उत्तम गुणो से युक्त, उपयुक्त अवसर और उपाय के अनुकूल, प्रिय लगनेवाली बातो को कौन वक्ता प्रयोग मे ला सकता है, जो तुम्हारे समान बुद्धिमान न हो ॥३८-४१॥

[ अर्जुन अपनी उपयुक्त बातो से इन्द्र के प्रति अपने पूज्य भावो को व्यक्त करते हुए यह भी सूचित करना चाहते हैं कि आपने जो कुछ भी कहा है, मैं उसे सम्पूर्णतया जानता हूँ किन्तु मैं उस उपदेश का अधिकारी नही हूँ। क्योंकि—]

> न ज्ञात तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते।
> शासितु येन मा धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥४२॥

अन्वय:—तात ! अमुष्य यत्नस्य पौर्वापर्यम् ते न ज्ञातम् येन माम् मुनिभिः तुल्यम् धर्मम् शासितुम् इच्छसि ॥४२॥

अर्थ—हे तात ! आप को मेरी इस प्रकार की तपस्या के विषय मे आरम्भ से लेकर अन्त तक कुछ ज्ञात नहीं है, इसीलिए आप मुझे मुनियो के लिए उचित मोक्ष धर्म का उपदेश करना चाहते हैं ॥४२॥

> अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
> व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥४३॥

अन्वयः—अविज्ञातप्रबन्धस्य वाचस्पते अपि वचः नयद्रुहः ईहितम् इव अफलताम् व्रजति एव ॥४३॥

अर्थ—पूर्वापर प्रसङ्ग को बिना जाने हुए वृहस्पति की भी बातें नीतिविरुद्ध किए गए उद्योग के समान निष्फल ही होती हैं ॥४३॥

[ यदि कहे कि सदुपदेश कभी विफल नहीं होता तो मेरा निवेदन है कि उपयुक्त अवसर के बिना दिया गया उपदेश भी ऊसर भूमि मे की गई खेती की तरह निष्फल होता है, क्योंकि ]

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम् ।
नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥४४॥

अन्वयः—तात ! श्रेयसः अपि अस्य ते वचसः रात्रेः विपर्यय. स्फुटतारस्य नभस. इव भाजनम् न अस्मि ॥४४॥

अर्थ—हे तात ! आप की बातें कल्याणदायिनी हैं किन्तु फिर भी मैं उनका पात्र उस प्रकार से नही हूँ जिस प्रकार से नक्षत्रो और तारकाओ से चमकते हुए आकाश का पात्र दिन नही है ॥४४॥

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः ।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥४५॥

अन्वय—अहम् क्षत्रियः पाण्डो' तनयः पार्थ. धनञ्जयः । दायादैः प्रास्तस्य ज्येष्ठस्य भ्रातु. शासने स्थित. ॥४५॥

अर्थ—मैं क्षत्रिय हूँ । पाडु का कुन्ती से उत्पन्न पुत्र हूँ, मेरा नाम धनञ्जय है, परिवार के लोगो द्वारा राज्य से निकाले गए ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा से मैं यह तपस्या कर रहा हूँ ॥४५॥

*टिप्पणी—अर्जुन इन्द्र की शकाओ को निर्मूल करने के लिए तथा अपनी* तपस्या के पूर्वप्रसंगो से अवगत कराने के लिए अपना परिचय देते हैं । इन्द्र को आश्चर्य था कि अर्जुन ने तपस्या के समय भी शस्त्र क्यों धारण किया है, उसी का समाधान वह सर्वप्रथम करते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ, क्षत्रिय को सभी

अवस्थाओ मे शस्त्रास्त्र धारण करना ही चाहिये। क्षत्रिय भी वह उच्च कुल के हैं, पाडु के पुत्र हैं। पाडु को दो पत्नियाँ थी, कुन्ती और माद्री। पार्थ कह कर वह स्पष्ट कर देते हैं कि मैं ज्येष्ठ रानी पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र हूँ। कुन्ती के तीन पुत्र हैं, अतः अपना नाम धनञ्जय बता कर वह सकेत कर रहे हैं कि मैंने ही उत्तर कुरुप्रदेश को जीत कर विपुल धन अर्जित किया था। मैं मोक्ष का अभिलाषी नही, अपितु विजय का अभिलाषी हूँ, क्योकि परिवार के व्यक्तियों ने हम सब को राज्य-बहिष्कृत कर दिया है। और आप यदि यह सोचें कि मैं अपने मन से तपस्या करने आया हूँ तो यह बात भी नही है क्योकि मेरे बडे भाई ने मुझे इस कार्य के लिए आज्ञा दी है। अत. मैं यहाँ आया हूँ, क्योकि **"आज्ञा गुरूणा न विचारणीया।"** परिकर अलङ्कार।

> कृष्णद्वैपायनादेशाद्‌विभर्मि व्रतमीदृशम् ।
> भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥४६॥

अन्वयः—कृष्णद्वैपायनादेशात् ईदृशम् व्रतम् बिभर्मि। स्वाराध्यस्य मरुत्वतः भृशम् आराधने यत्त ॥४६॥

अर्थ—भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की आज्ञा से मैं इस प्रकार के व्रत का अनुष्ठान कर रहा हूँ। सुखपूर्वक आराधना करने योग्य देवराज इन्द्र की प्रसन्नता के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ ॥३६॥

टिप्पणी—इस प्रकार अपने व्रत-विरुद्ध वेश की ओर अर्जुन का सकेत है। इन्द्र क्षत्रियो के देवता हैं, अत. उनकी आराधना क्षत्रियो के लिए सुख-साध्य ही है।

> दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वय वधूः ।
> नीतानि पणता नूनमीदृशी भवितव्यता ॥४७॥

अन्वयः—दुरक्षान् दीव्यता राज्ञा राज्यम् आत्मा वयम् वधू पणताम् नीतानि नूनम् भवितव्यता ईदृशी ॥३७॥

अर्थ—छलयुक्त पाँसो के साथ जुआ खेलते हुए राजा युधिष्ठिर ने अपने

सारे राज-पाट, स्वय अपने को, हम सब को तथा पत्नी को भी दाँव.पर रख दिया। निश्चय ही ऐसी भवितव्यता थी ॥४७॥

टिप्पणी—बुद्धि भवितव्यता के अनुसार ही पलट जाती है, अन्यथा युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा की बुद्धि ऐसी क्यो होती।

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥४८॥

अन्वय:—अनुजसहायेन तेन द्रौपद्या च मया विना आयामियामासु यामिनीषु भृशम् अभितप्यते ॥४८॥

अर्थ—अपने अनुजो के साथ राजा युधिष्ठिर तथा मेरी प्रियतमा द्रौपदी मेरे बिना लवे-लवे प्रहरो से युक्त रात्रियो को अत्यन्त सन्ताप से विताती है ॥४८॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मैं उन लोगो के लिए यहाँ चिन्तित हूँ उसी प्रकार से वे लोग भी मेरे लिए सन्तप्त होते हैं, अतः मुझमे वैराग्य-भावना कहाँ से उदय हो सकती है।

हृतोत्तरीया प्रसभ सभायामागतह्रियः।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ॥४९॥

अन्वय:—अरातयः सभायाम् प्रसभम् हृतोत्तरीयाम् आगतह्रिय· नः मर्मच्छिदा वचसा निरतक्षन् ॥४९॥

अर्थ—शत्रुओ ने भरी सभा मे जबर्दस्ती प्रियतमा द्रौपदी का वस्त्र-हरण देखने वाले अत्यन्त लज्जित हम लोगो को अपने मर्मभेदी वचनो से अत्यन्त व्यथित किया है ॥४९॥

उपाधत्त सपत्नेपु कृष्णाया गुरुसन्निधौ।
भावमानयने सत्या. सत्यङ्कारमिवान्तकः ॥५०॥

अन्वय:—अन्तकः गुरुसन्निधौ सत्याः कृष्णायाः आन्यने भावम् सत्यङ्कारम् इव सपत्नेपु उपाधत्त ॥५०॥

अर्थ—काल ने भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनो के समक्ष मे ही (चीर-केशादि के आकर्षण के लिए) पतिव्रता द्रौपदी को ले आने के ( शत्रुओ के ) अभिप्राय को मानो बयाना की तरह मानकर ही शत्रुओ को दिया था ॥५०॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मानो काल ने यह सोचकर कि जिस तरह तुम लोग इस अबला को यहाँ भरी सभा मे खीच लाए हो उसी तरह मैं भी तुम सब को अपने लोक मे खीच ले जाऊँगा। विनाश काल मे लोगो की बुद्धि नष्ट हो ही जाती है, इसी से इन्होने ऐसा किया।

तामैक्षन्त क्षण सभ्या दु:शासनपुर:सराम्।
अभिसायार्कमावृत्ता छायामिव महातरो: ॥५१॥

अन्वयः—दु:शासनपुर:सरा ता सभ्याः अभिसायार्क महातरो: आवृत्ता छायाम् इव क्षणम् ऐक्षन्त ॥५१॥

अर्थ—दु:शासन द्वारा भरी सभा मे खीच कर लाई हुई द्रौपदी को, (भीष्म-द्रोणादि) सभासदो ने दिनान्त के सूर्य के सम्मुख स्थित महान् वृक्ष की छाया की भाँति क्षणमात्र के लिए देखा था ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् द्रौपदी की उस समय ऐसी दुर्दशा थी कि सभासद भी उसे देर तक नही देख सकते थे। और देखते हुए भी मध्यस्थता के भङ्ग होने के भय से अन्याय का कुछ प्रतिरोध नही कर सकते थे। दु:शासन की उपमा महान वृक्ष से है, सभासदो की तुलना सूर्य के साथ है और छाया की समानता द्रौपदी के साथ। उपमा अलङ्कार।

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः।
अरुद्ध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२॥

अन्वयः—अयथार्थक्रियारम्भैः तव पतिभिः ईक्षितैः किम् इतीव बाष्पवारिणा अस्याः नयने अरुद्ध्येताम् ॥५२॥

अर्थ—पति शब्द का अर्थ है पत्नी की रक्षा करना, विपत्ति मे रक्षा न

करने वाले इन पतियो की ओर देखने से कुछ भी फल नही मानो यही सोचकर आँसुओ ने द्रौपदी के नेत्रो को रोक लिया था ॥५२॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने पतियो की कायरता से ही मानो द्रौपदी की आँखो मे आँसू भर आये थे और उन्हें अपनी पतियो की ओर देखने से इसलिए वचित कर दिया था कि उनकी ओर देखना व्यर्थ है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

सोढवान्नो दशामन्त्या ज्यायानेव गुणप्रिय ।
सुलभो हि द्विपा भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥५३॥

अन्वय —गुणप्रिय. ज्यायान् एव न अन्त्या दशा सोढवान्। द्विपा भङ्ग. सुलभ सत्सु अवाच्यता दुर्लभा हि ॥५३॥

अर्थ—गुणो के प्रेमी हमारे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने ही हम लोगो की इस निकृष्ट दुर्दशा को सहन कर लिया क्योकि शत्रुओ का विनाश तो कभी भी हो सकता था, किन्तु सत्पुरुषो के बीच मे जो अनिन्द्यता थी, वही दुर्लभ थी ॥५३॥

टिप्पणी—अर्थात् हमारे बडे भाई युधिष्ठिर ने ही शत्रुओ के अपकारो की उपेक्षा की, जिससे हमारी यह दुर्दशा हुई है। हम लोग तो उन्ही के कारण रुके रहे। शत्रु का विनाश तो हम लोग जब चाहगे कर लेंगे किन्तु सज्जनो के बीच मे जा हमारी अनिन्दा है, वह नष्ट हो जाने पर फिर कभी नही मिलने वाली है। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।
तोयानि तोयराशीना मनासि च मनस्विनाम् ॥५४॥

अन्वय —तोयराशीना तोयानि मनस्विना मनासि च स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि आकुलितानि अपि स्वच्छानि ॥५४॥

अर्थ—जलनिधि समुद्र की जलराशि तथा मनस्वी पुरुषो के चित्त मर्यादा का उल्लघन करने में भीरु होते हैं, ये क्षुब्ध होने पर भी स्वच्छ ही रहते हैं ॥५५॥

टिप्पणी—तुल्ययोगिता अलङ्कार।

[ यदि यह कहिए कि युधिष्ठिर तो अजातशत्रु है उनसे अपने ही चचेरे भाइयों मे कैसे द्रोह हो गया तो कहते हैं कि इसका कारण हमारी उन दुर्जनो के सग हुई मित्रता ही है—]

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत।
असन्मैत्री हि दोपाय कूलच्छायेव सेविता ॥५५॥

अन्वय:—धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिः अस्मासु वैरम् असूयत हि असन्मैत्री कूलच्छाया इव सेविता दोपाय ॥५५॥

अर्थ—धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि के सङ्ग की हमारी मित्रता ही हम लोगो के बीच मे शत्रुता की जननी है। क्योंकि दुर्जनो की मित्रता गिरनेवाले नदी-तट की छाया की भांति अनर्थकारिणी होती है ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार गिरनेवाले कगार की छाया प्राणहारिणी होती है उसी प्रकार दुर्जनो की मैत्री भी विनाशकारिणी होती है। दुर्जन लोग सज्जनो की भांति मित्र-द्रोह रूपी पातक को नही देखते। उपमा से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलकार।

[यदि यह कहिये कि पहिले ही से उन सबो के गुणदोषो पर विचार करके तब मित्रता करनी चाहिये थी, जिससे यह दुर्दशा न होती, क्योकि]

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोपयोः।
असद्वृत्तेरहोवृत्त दुर्विभावं विधेरिव ॥५६॥

अन्वय:—अपवादात् अभीतस्य गुणदोपयोः समस्य असद्वृत्तः अहोवृत्तं विधेः इव दुर्विभावम् ॥५६॥

अर्थ—जन-निन्दा से डरनेवाले एव गुण तथा अवगुण दोनो मे समान निष्ठा रखनेवाले दुराचारी मनुष्यों की चेष्टाएँ दैव की इच्छा अर्थात् भाग्य की भांति जानी नही जा सकती ॥५६॥

टिप्पणी—अर्थात् कार्य सम्बन्ध पडने पर ही उन्हे जाना जा सकता है।

[ यदि यह कहिए कि मानी पुरुष मान हानि की अपेक्षा प्राण दे देना अच्छा समझता है तो क्या करूँ—]

ध्वसेत हृदय सद्य परिभूतस्य मे परै ।
यद्यमर्ष प्रतीकार भुजालम्ब न लम्भयेत ॥५७॥

अन्वय —परै परिभूतस्य मे हृदय सद्य ध्वसेत अमर्ष प्रतीकार भुजालम्ब यदि न लम्भयेत ॥५७॥

अर्थ–शत्रुओ म अपमानित हमारा हृदय शीघ्र ही फट जाता यदि हमारे क्रोध ने प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे हृदय को हाथ का सा सहारा देकर उसे बचा न लिया होता ॥५७॥

टिप्पणी—अर्थात् हम बदला चुकाने के लिए ही जीवित बचे हैं।

अवधूयारिभिर्नीता हिरणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्रीम किं पुन सहवासिनाम् ॥५८॥

अन्वय —अरिभि अवधूय हरिणैं तुल्यवृत्तिता नीता अन्योन्यस्य अपि जिह्रीम सहवासिना पुन किम् ॥५८॥

अथ–शत्रुओं द्वारा पराजित होकर मृगो के समान जीविका निर्वाह करने की स्थिति म पहुँचे हुए हम लोग अपने भाइयो मे भी परस्पर लज्जा का अनुभव करत हैं सहचारियो अर्थात् मित्र मण्डली के बीच नो कहना ही क्या ?

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से मृगादि जगली पशु कन्द-मूल फलाहारादि से अपनी जीविका चलाते हैं और मानापमान का ध्यान नही रखते उसी प्रकार से हम लोग भी जीविका चलात हैं।

[इस दुर्दशा का कारण यदि हम लोगो का स्वाभिमान है तब भी हम इसे छोड नही सकत, क्योकि]

शक्तिवैकल्यनम्रस्य नि सारत्वाल्लघीयस ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गति ॥५९॥

अन्वय:—शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वात् लघीयसः मानहीनस्य जन्मिनः तृणस्य च समा गतिः ॥५६॥

अर्थ—स्वाभिमान का परित्याग करने के कारण नम्र तथा दुर्बल एवं गौरव-हीन होने के कारण मानरहित शरीरधारी का तथा तृण का जीवन एक समान है ॥५६॥

टिप्पणी—मामूली तृण के समान गर्हित जीवन बिताने के अच्छा यही है कि पुरुष अपने स्वाभिमान का त्याग न करे। श्लेष अलंकार से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार।

[ मान के परित्याग मे केवल दोष ही नही है प्रत्युत मान-रक्षण मे अनेक **लाभ भी हैं—]**

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसी मा गान्महतां केन तुङ्गता ॥६०॥

अन्वय:—महीभृताम् यद् यद् उच्चैः तत्तत् अलङ्घ्यम् उद्वीक्ष्य महतां तुङ्गता ज्यायसी प्रियता केन मागात् ॥६०॥

अर्थ—पर्वतो के जो-जो शिखर ऊँचे होते हैं, उनको-उनको अलघनीय देखकर महान् पुरुषो की मनस्विता किसे अत्यन्त प्रिय न होगी ? ॥६०॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥६१॥

अन्वय:—तावदेव असौ लक्ष्म्या आश्रीयते तावत् अस्य यशः स्थिरं तावत् पुरुषः यावत् मानात् न हीयते ॥६१॥

अर्थ—तभी तक मनुष्य लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष भी है जब तक मान से विहीन नहीं होता है ॥६१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि मानहीन व्यक्ति के लिये संसार सूना है।

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुर.स्थिते ।
नान्यामगुलिमभ्येति सख्यायामुद्यतागुलि ॥६२॥

अन्वय —स. पुमान् अर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुर स्थिते सङ्ख्यायाम् उद्यताङ्गुलि अन्याम् अङ्गुलि न अभ्येति ॥६२॥

अर्थ—उसी पुरुष का जन्म सार्थक है, जिसका नाम योग्य पुरुषो की गणना के अवसर पर प्रथम अगुली पर आता है, द्वितीय पर नही ॥६२॥

दुरासदवनज्यायान्गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।
न जहाति महौजस्क मानप्राशुमलङ्घ्यता ॥६३॥

अन्वय—दुरासदवनज्यायान् तुङ्गः अपि भूधर. गम्य महौजस्कं मान-प्रांशुम् अलङ्घ्यता न जहाति ॥६३॥

अर्थ—दुर्गम घोर जगलो से आकीर्ण अत्यन्त ऊँचा पर्वत भी गम्य हो जाता है किन्तु प्रतापी एव मनस्वी पुरुष की उन्नता अपनी अलघनीयता कभी नही छोडती ॥६३॥

टिप्पणी—अर्थात् पर्वत से भी बढकर मनस्वी का स्वाभिमान है। व्यतिरेक अलङ्कार।

गुरून्कुर्वन्ति ते वश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा ।
येषा यशासि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमडलम् ॥६४॥

अन्वय.—ते वश्यान गुरून् कुर्वन्ति तै. वसुन्धरा अन्वर्था येषा शुभ्राणि यशासि इन्दुमण्डल ह्रेपयन्ति ॥६४॥

अर्थ—वे मनुष्य अपने वशजो की प्रतिष्ठा बढाते हैं, उन्हीं से वसुन्धरा सार्थक होती है, जिनके श्वेत यश अपनी निष्कलकता से चन्द्रमण्डल को लज्जित करते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—यश की उपमा श्वेत हो दी जाती है, क्योंकि उसे भी निष्कलक ही होना चाहिए। उपमा अलङ्कार।

उदाहरणमाशी पु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिपु पात्यते ॥६५॥

अन्वय –यैं अमर्ष शुष्के अशनि इव अरातिपु पात्यते मनस्विना प्रथमे ते आशी षु उदाहरणम् ॥६५॥

अर्थ—जो लोग अपने अमर्ष को शुष्क काष्ठादि में वज्रपात की भाँति शत्रुओ पर प्रयुक्त करते हैं वे ही मनस्वी पुरुषों मे प्रथम है और वे ही पुरुष मात्र को किस प्रकार का होना चाहिये, इस बात के उदाहरण हैं ॥६५॥

न सुख प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन्विविक्त ब्रह्मण पदम् ॥६६॥

अन्वय –उदन्वद्वीचिचञ्चल सुखम् न प्रार्थये अर्थञ्च न अनित्यताशने त्रस्यन् विविक्त ब्रह्मण पद न ॥६६॥

अर्थ—मैं समुद्र की तरङ्गो के समान चचल सुख की कामना नही करता और न धन की ही कामना मुझे है । यही नहीं, विनाश रूपी वज्र से भयभीत होकर निर्बाध ब्रह्म पद अर्थात् मोक्ष की भी कामना मुझे नही है ॥६६॥

प्रमार्ष्टुमयश पङ्कमिच्छेय छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभि ॥६७॥

अन्वय –छद्मना कृतम् अयश पङ्क वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभि प्रमार्ष्टुम् इच्छेयम् ॥६७॥

अर्थ-किन्तु मेरी इच्छा यही है कि शत्रुओ के छल से जो अपयश का कीचड हमे लगा है उसे (उन्हीं) शत्रुओ की विधवा स्त्रियो के वैधव्य-सन्ताप से निकले हुए अश्रुजल से धो डालूँ ॥६७॥

अपहस्येऽथवा सद्भि प्रमादो वास्तु मे धिय ।
अस्थानविहितायास काम जिह्रेत मा भवान् ॥६८॥

अन्वय –सद्भि अपहस्ये अथवा मे धिय प्रमाद वा अस्तु भवान् अस्थानविहितायास काम मा जिह्रेतु ॥६८॥

अर्थ—सज्जन लोग चाहे मेरा उपहास करें अथवा मेरी बुद्धि भ्रान्त हो जाय अथवा मुझ जैसे अयोग्य पात्र में मोक्ष के उपदेश का प्रयत्न निष्फल होने से आप लज्जित ही हों (किन्तु) ॥६८॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥६९॥

*अन्वय —अहं विद्विषां समुच्छेदेन वंशलक्ष्मीम् अनुद्धृत्य निर्वाणम् अपि जयश्रियः अन्तरायं मन्ये ॥६९॥*

अर्थ—मैं तो अपने शत्रुओं का संहार करके अपनी वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त राज्यलक्ष्मी का उद्धार किये बिना मुक्ति को भी विजयश्री की प्राप्ति में *बाधक ही मानता हूँ।*

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥७०॥

अन्वय —पुरुषः यावत् अरिभिः विलुप्तं यशः इषुभिः न आदत्ते तावत् अजन्मा गतासुः तृणम् एव वा ॥७०॥

अर्थ—मनुष्य जब तक शत्रुओं द्वारा विलुप्त अपने यश को अपने बाणों से पुनः नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह ऐसा है जैसे संसार में जन्म ही न लिया हो, मृतक-सा हो अथवा तिनके से भी गया बीता हो ॥७०॥

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन्ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥७१॥

अन्वय —तपोधन ! त्वं हि ब्रूहि यस्य अमर्षः द्विषताम् अनिर्जयेन प्रशाम्यति तस्मिन् पुरुषोक्तिः कथम् ॥७१॥

अर्थ—हे तपोधन ! आप ही बतलाइये कि जिस मनुष्य का क्रोध शत्रु को निर्मूल किये बिना ही शान्त हो जाता है उसे पुरुष कैसे कहा जा सकता है ? ॥७१॥

कृत पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणै श्लाघ्य सविस्मयमुदाहृत ॥७२॥

अन्वय —जातिमात्रावलम्बिना पुरुषशब्देन कृतम् अङ्गीकृतगुणै य श्लाघ्य सविस्मयम् उदाहृत ॥७२॥

अर्थ—पुरुषत्व जाति मात्र मे प्रयुक्त होने वाले पुरुष शब्द से कुछ भी नही हो सकता (क्योंकि पशु आदि जीवो मे भी तो पुरुष जाति रहती ही है। अत सच्चा पुरुष तो वही है) जो गुणग्राहियो द्वारा प्रशसित हो और शीघ्रता मे भी जिसका आदर्श रूप मे उल्लेख किया जा सके ॥७२॥

ग्रसमानमिवौजासि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥७३॥

अन्वय —सदसा गौरवेरितम् ओजासि ग्रसमानम् इव यस्य नाम द्विष अपि अभिनन्दन्ति स पुमान् पुमान् ॥७३॥

अर्थ—सभा एव गोष्ठी आदि मे गौरवपूर्वक लिया गया एव सुनने वालो के तेज को ग्रसता हुआ जिसका नाम शत्रुओ द्वारा भी अभिनन्दनीय हो, वही पुरुष पुरुष है ॥७३॥

टिप्पणी-अर्थात् वही मनस्वी पुरुषो मे गणनीय है। लाटानुप्रास अलङ्कार।

[यदि यह कहे कि भीम आदि के रहते हुए तुमको ही शत्रुओ से बदला चुकाने की इतनी चिन्ता क्यों है तो–]

यथाप्रतिज्ञ द्विषता युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृप्यन्निव जलाञ्जले ॥७४॥

अन्वय —नृपति यथाप्रतिज्ञ युधि द्विषता प्रतिचिकीर्षया तृप्यन् जलाञ्जले इव मम एव अध्येति ॥७४॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुओ से बदला चुकाने के लिए उसी प्रकार से मेरा ही स्मरण करते हैं जिस प्रकार से तृषार्त व्यक्ति जल की अञ्जलि का स्मरण करता है ॥७४॥

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लांछनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥७५॥

अन्वय.—स. अवदातस्य वंशस्य शशाङ्कस्य इव लाञ्छनम् यत्र कृच्छ्रेषु भर्तु. आज्ञया व्यर्थया भूयते ॥७५॥

अर्थ—वह व्यक्ति अपने निर्मल वंश के लिये चन्द्रमा के कलङ्क के समान कलङ्क है जो आपत्ति के समय गृह-स्वामी की आज्ञा का पालन नही करता ॥७५॥

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥७६॥

अन्वयः—धर्मरोधिनी अर्वाक् मुनिता कथं वा आदीयताम् पूर्वैः आश्रमानुक्रमः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥७६॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम से पहिले ही इस धर्मविरोधिनी वानप्रस्थाश्रम की वृत्ति का आप मुझे क्यों उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि मनुप्रभृति धर्मशास्त्रकारों ने तो चारों आश्रमों का उपदेश क्रमानुसार ही किया है, व्यतिक्रम से नहीं किया है ॥७६॥

[यदि आप यह कहें कि मैं गृहस्थ हूँ, इसके बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना क्रमानुसार ही है तो मैं कहूँगा कि उसी गृहस्थ को वानप्रस्थ में प्रविष्ट होने का अधिकार है जो गृहस्थ धर्म का पूर्णतया पालन कर चुका हो, मैं तो अभी गृहस्थ धर्म के अनेक आचरणों का पालन नहीं कर सका हूँ, क्योंकि—]

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥७७॥

अन्वयः—आसक्ता रूढा इयं धूः दूरगा जननी च नृपः आचारवान् ज्यायान् च मे स्वातन्त्र्यम् तिरस्करोति ॥७७॥

अर्थ—शत्रु से बदला चुकाने का यह गुरु भार मुझपर है, इस समय मेरी माता दूर है एवं मेरे आचारनिष्ठ ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर हैं—ये तीनों मेरी स्वतन्त्रता को दूर करने वाले हैं ॥७७॥

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभि ।
पलायन्ते कृतध्वसा नाहवान्मानशालिन ॥७८॥

अन्वय —मानशालिन स्वधर्मम् अनुरुन्धन्ते न अतिक्रमम अरातिभि कृतध्वसा आहवात न पलायन्ते ॥७८॥

अर्थ—मानी लोग अपने धम का अनुसरण करते हैं, उसका उल्लङ्घन नही करत । शत्रुआ मे अपकृत पुरप युद्ध से पलायन नही करते ॥७८॥

टिप्पणी—वाक्यार्थहेतुक काव्यलिग अलङ्कार ।

[ अधिक क्या कहूँ मेरा तो यही निश्चय है, कि—]

विच्छिन्नाभ्रविलाय वा विलीये नागमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयश शल्यमुद्धरे ॥७९॥

अन्वय —विच्छिन्नाभ्रविलायम नगमूर्धनि विलीये वा सहस्राक्षम् आराध्य अयश शल्यम् उद्धरे ॥७९॥

अर्थ—वायु से छिन्न-भिन्न होकर जिस प्रकार बादल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत पर या तो विलीन हो जाऊँगा या न्द्र की सम्यक् आराधना कर अपने अपयश-रूपी कण्टक का उद्धार करूँगा ॥७९॥

इत्युक्तवन्त परिरभ्य दोर्भ्या तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्ति ।
अघोपघात मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥८०॥

अन्वय —मघवा इति उक्तवन्तम तनूजम् आविष्कृतदिव्यमूर्ति दोर्भ्यां परिरभ्य विभूत्यै अघोपघात भवोद्भवाराधनम आदिदेश ॥८०॥

अर्थ—देवराज इन्द्र ने अपने दिव्य रूप को प्रकट करके इस प्रकार की बातें कहते हुए अपने पुत्र को दोनो बाहुओ से आलिगन करके अभीष्ट सिद्धि के लिए सम्पूर्ण दु खो को नाश करने वाली इस ससार के आदिकारण शिव जी की आराधना करने का उपदेश किया ॥८०॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै-
र्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्य ।

लक्ष्मी समुत्सुकयितासि भृशं परेषा-
मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

अन्वयः—पिनाकिनि प्रीते लोकपालैः सह मया लोकत्रये अपि विहिताप्रति-वार्यवीर्यः परेषाम् लक्ष्मीम् भृशम् समुत्सुकयिता असि इति वाचम् उच्चार्य तेन तिरोबभूवे ॥८१॥

*अर्थ*—शिव जी के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान करूँगा, जिसका निवारण तीनो लोको मे नही हो सकता, उसके प्रभाव से तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को अपनी ओर समुत्कण्ठित कर लोगे—ऐसी बातें कहते हुए देवराज इन्द्र (वही) अन्तर्धान हो गए ॥८१॥

*श्री महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥११॥*

# बारहवाँ सर्ग

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।
क्लान्तिरहितमभिराधयितु विधिवत्तपासि विदधे धनञ्जय ॥१॥

अन्वय —अथ रुचिरवदन धनञ्जय वासवस्य वचनेन त्रिलोचन क्लान्ति-रहितम् अभिराधयितु तपांसि विधिवत् विदधे ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर अपने पिता इन्द्र के साक्षात्कार से सन्तुष्ट होने के कारण प्रसन्नमुख अर्जुन इन्द्र के उपदेशानुसार श्रान्तिरहित हो शकर जी को प्रसन्न करने के लिए शास्त्रीय विधि से तपस्या करने मे लग गये ॥१॥

टिप्पणी—इस सर्ग मे उद्‌गता छन्द है ।

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुप ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथय प्रतिजग्मुरेकचरण निपीदत ॥२॥

अन्वय —अभिरश्मिमालि भुवि एकचरणम् निषीदत विमलस्य धृतजय धृत अनाशुप तस्य बहुतिथा तिथय प्रतिजग्मु ॥२॥

अर्थ—सूर्य के अभिमुख होकर पृथ्वी पर एक चरण से खडे हुए भीतर-बाहर विशुद्ध एव जय की कामना से युक्त निराहार अर्जुन की तपस्या करते हुए अनेक तिथियाँ बीत गयी ॥२॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेपु सततमसुखेपु पाण्डव ।
व्याप नगपतिरिव स्थिरता महता हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥३॥

अन्वय —पाण्डव सततम् वपुरिन्द्रियोपतपनेपु असुखेपु नगपति इव स्थि-रताम् व्याप । हि महताम धैर्यम् अविभाव्यवैभवम् ॥३॥

अर्थ—अर्जुन निरन्तर शरीर और इन्द्रियो को सन्तप्त करने वाले अनशन

यदि दु खो को सहन करते हुए हिमालय की भाँति स्थिर बने रहे। क्यो न हो महान पुरुषो के धर्म को कोई जान नही सकता ॥३॥

न पपात सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतप. सुकर्मणाम् ॥४॥

अन्वय —तस्य मानसम् सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु शुचिनि शिशिरे पयसि च न पपात। हि सुकर्म्मणाम् सुतप अमृतायते ॥४॥

अर्थ–अर्जुन का मन समीप ही स्थित सुगधयुक्त फलो मे एव स्वच्छ शीतल जल मे भी नही आसक्त होता था। क्यो न हो पुण्यकर्मा लोगो का उत्तम तप ही अमृत के समान होता है ॥४॥

न विसिस्मिये न विषसाद मुहुरलसता न चाददे ।
सत्वमुरुधृति रजस्तमसी न हत स्म तस्य हतशक्तिपेलवे ॥५॥

अन्वय —स न विसिस्मिये न विषसाद। मुहु अलसताम् च न आददे हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी उरुधृति तस्य सत्वम् न हत स्म ॥५॥

अर्थ—अर्जुन कभी यह सोचकर विस्मित नहीं होते थे कि—अहो मैंने प्रचड तपस्या की और इसके लिए कभी विषाद नहीं किया कि मेरी तपस्या का अभी तक कोई फल नही मिला। तपस्या करने मे उन्होंने कभी आलस्य भी नही किया। निस्तेज होने के कारण नश्वर रजस् एव तपोगुण उस महान् धैर्यशाली के पराक्रम को कभी विचलित नही कर सके ॥५॥

तपसा कृश वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम्।
त्रासजननमपि तत्वविदा किमिवास्ति यन्न सुकर मनस्विभि ॥६॥

अन्वय —स तपसा कृश विजितजगत्त्रयोदय तत्वविदां अपि त्रासजननम् वपु उवाह यत् मनस्विभि. सुकर किम् इव न अस्ति ॥६॥

अर्थ—अर्जुन का शरीर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश हो गया था तब भी उन्होंने तीनो लोकों के उत्कर्ष को जीत लिया था। उस शरीर को देखने से

तत्त्वज्ञ लोग भी भयभीत हो जाते थे। सच है, मनस्वी पुरुषों के लिए जो सुकर न हो, ऐसा संसार में कौन-सा कार्य है ॥६॥

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधेः।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः ॥७॥

अन्वयः—विजयी सः अनुनिशीथ ज्वलतः अनलात् अधिकरुचिः अम्भसां निधेः धैर्यगुणम् अवजयन् शैलतः समुन्नततरः ददृशे ॥७॥

अर्थ—विजयी अर्जुन आधी रात के समय जलती हुई अग्नि से भी अधिक तेजस्वी एवं जलनिधि समुद्र की गंभीरता को भी तिरस्कृत करते हुये पर्वत से भी अधिक ऊँचे दिखाई पड़ने लगे ॥७॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार।

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः।
तस्य दशनकिरणैः शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम् ॥८॥

अन्वयः—सदा उपांशु जप जपता तस्य वदनम् अभितः विसारिभि दशनकिरणै. परिवेषभीषणम् अर्कमण्डलम् इव शुशुभे ॥८॥

अर्थ—सर्वदा एकान्त में धीरे-धीरे मंत्र-जप करते हुए अर्जुन का मुखमंडल चारों ओर से फैली हुई दाँतों की श्वेत किरणों द्वारा परिधि से भयंकर सूर्यमंडल की भाँति शोभायमान हो रहा था ॥८॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुः परिवीतभीमगहनो विदिद्युते ॥९॥

अन्वयः—कवचम् बिभ्रत् उपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः सः महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनः शैलपतिः इव विदिद्युते ॥९॥

अर्थ—कवच धारण किये हुए एवं यज्ञोपवीत के स्थान पर प्रत्यंचा समेत धनुष धारण किये हुए अर्जुन इन्द्रधनुष से परिवेष्ठित एवं घने दुर्गम वनों से व्याप्त हिमालय की भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥९॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छत ।
तस्य पदविनमितो हिमवान्गुरुता नयन्ति हि गुणा न सहति ॥१०॥

अन्वय —नियमसवनाय कृशस्य गच्छत तस्य पदविनमिता हिमवान् गाम् प्रविवेश । गुणा गुरुता नयन्ति हि सहति न ॥१०॥

अर्थ—विधिविहित स्नान के लिए जाते हुए दुर्बलाङ्ग अर्जुन के चरणो के भार से नीचे की ओर दबता हुआ हिमालय धरती मे धँसता-सा प्रतीत हो रहा था । सच है, आन्तरिक शक्ति से ही गुरुता ( वजन ) अधिक होती है, बाहरी स्थूलता से नही ॥१०॥

परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम् ।
ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे निजान्मुनिदिवौकसा पथ ॥११॥

अन्वय —उद्यतभुजस्य शिरस उपरि वितत भुवनविवरे परिकीर्ण दुरासद ज्योति मुनिदिवौकसा निजान् पथ जगृहे ॥११॥

अर्थ—ऊर्ध्व बाहु होकर तपस्या मे निरत अर्जुन के शिर के ऊपर विस्तृत, आकाश और पृथ्वी मडल के अन्तराल मे व्याप्त एव दुर्द्धर्ष तेज न देवताओ और मुनियो के लिए नियत मार्गों को अवरुद्ध कर दिया था ॥११॥

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभि ।
भिन्नतिमिरनिकर न जहे शशिरश्मिसङ्गमयुजा नभ श्रिया ॥१२॥

अन्वय —बहुलसमये अपि रजनीषु राजतनयस्य धामभि भिन्नतिमिरनिकरं नभ शशिरश्मिसङ्गमयुजा श्रिया न जहे ॥१२॥

अर्थ—कृष्णपक्ष म भी रात्रि के समय राजपुत्र अर्जुन के तेज मे आकाश मडल का अन्धकार नष्ट हो गया था अतएव चन्द्रमा की सगिनी श्री ने उस आकाश का त्याग नहीं किया ॥१२॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि कृष्णपक्ष मे भी इन्द्रकील के उस शिखर पर अर्जुन के तेज से आकाश प्रकाशपूर्ण रहता था । निदर्शना अलङ्कार ।

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना ।
ह्रीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरशुमालिन ॥१३॥

अन्वय —जिष्णुजन्मना महता मयूखनिचयन शमितरुचि अशुमालिन वपु ह्रीतम् इव वीतमले नभसि न विराजते स्म ॥१३॥

अर्थ—अर्जुन के शरीर से निकलने वाली तेज की किरण-मालाओ से हत-प्रभ सूर्य नारायण का मडल मानो लज्जित सा होकर निर्मल आकाश मे भी सुशोभित नही हो रहा था ॥१३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

तमुदीरितारुणजटाशुमधिगुणशरासन जना ।
रुद्रमनुदितललाटदृश ददृशुर्मिमन्थिपुमिवासुरी पुरी ॥१४॥

अन्वय —उदीरितारुणजाशुम् अधिगुणशरासन त जना आसुरी पुरी मिमन्थिषुम् अनुदितललाटदृश रुद्रम् इव ददृशु ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन की अरुण वर्ण की जटाओ से तेज की किरणें निकल रही थी, और उनके धनुष पर प्रत्यञ्चा खिची हुई थी । उस समय उन्हे लोगो ने दानवो के नगर (त्रिपुर) को विध्वस करने के इच्छुक उन शकर भगवान् के समान देखा, जिनके ललाट पर तीसरा नेत्र न खुला हो ॥१४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से उपमा अलङ्कार की ध्वनि ।

मरुता पति स्विदहिमाशुरुत पृथुशिख शिखी तप ।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवयये स तापसै ॥१५॥

अन्वय —मरुता पति स्वित अहिमाशु उत पृथुशिख शिखी असुकरम् तप तप्तुम उपक्रमते अय जन न । स तापसै इति अवयये ॥१५॥

अर्थ—वे इन्द्र हैं अथवा सूय हैं अथवा विकराल ज्वाल मालाओ से विभूषित अग्नि देव हैं, जो कठोर तपस्या के लिए प्रस्तुत हैं ? यह कोई साधारण पुरुष नही हैं ? इस प्रकार वहाँ के तपस्वी जनो ने अर्जुन के सम्बन्ध मे जाना ॥१५॥

टिप्पणी—अपह्नुव अलङ्कार ।

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।
न स्म नयति परिशोषमपः मुमहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥१६॥

अन्वय.–दूरग हरितनयधाम भूरुहवनानि न ददाह । अप. परिशोषं न नयति स्म । सिद्धतापसैः सुसह न बभूव ॥१६॥

अर्थ–इन्द्रपुत्र अर्जुन के सर्वत्र व्याप्त तेज ने वृक्षो के समूहों को नही जलाया, और न वहाँ के जलाशयो की जलराशि का ही शोषण किया, किन्तु (फिर भी) वहाँ पर स्थित सिद्धो और तपस्वी जनो के लिए वह असहनीय हो गया ॥१६॥

टिप्पणी—विरोधाभास अलङ्कार ।

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव ।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥१७॥

अन्वयः—अथ विनय गुणा इव अपनयभिद विवेक नया इव न्यायम् अवधय इव अशरणाः महर्षयः शिव शरण ययुः ॥१७॥

अर्थ—तदनन्तर औदार्य शान्ति आदि गुण जिस प्रकार से विनय के समीप, नीति जिस प्रकार से दुर्नीति निवारक विवेक के समीप, एव अवधि (निर्दिष्ट समय) जिस प्रकार से प्रमाण के समीप जाती हैं, उसी प्रकार से (अर्जुन के तपः तेज से आतङ्कित) अशरण महर्षि गण भगवान् शङ्कर की शरण मे पहुँचे ॥१७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

परिवीनमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः ।
शम्भुमुपहतदृशः महसा न च ते निहायितमभिप्रसेहिरे ॥१८॥

अन्वयः—उदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः अंशुभिः परिवीन शम्भुम् उपहतदृशः ते (महर्षयः) सहसा निहायितु नाभिप्रसेहिरे ॥१८॥

अर्थ—सूर्य के तेजस्वी किरण मडल को भी निरस्त करने वाले तेजोपुज से चारो ओर परिव्याप्त भगवान् शङ्कर को देखकर आँखों में चकाचौंध हो जाने से वे महर्षि गण सहसा उन्हें देख नही सके ॥१८॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवा ।
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥१९॥

अन्वय —अथ भूतभव्यभवदीशम् अभिमुखयितुं कृतस्तवाः तत्र महसि कमनीय विग्रहम् अयुग्मलोचनं पुरुषं ददृशुः ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान—तीनों कालों के अधीश्वर देवदेव शंकर को अपनी ओर अभिमुख करने के लिए स्तुति करते हुए महर्षियों ने उस तेजोमंडल में विराजमान मनोहरमूर्ति त्रिलोचन भगवान शंकर को देखा ॥१९॥

[नीचे के पाँच श्लोकों द्वारा भगवान् शंकर का वर्णन है—]

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥२०॥
स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥२१॥
अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥२२॥
परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥२३॥
प्लुतमालतीसितकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसा शिरसा विसारिशशिधाम बिभ्रतम् ॥२४॥

अन्वय —अकृशपरिणाहशालिनी वृषस्य ककुदे आर्द्रचन्दने उमाकुचयुग्म-मंडल इव कृतबाहुं स्पर्शसुखम्, अनुभवन्तम् उन्नते तुहिनशैलशिरसि स्थितम् भुवनातिवर्तिना ओजसा साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिक् विश्वम् अश्नुवानमिव, अनुजानुमध्यम् अवसक्तविततवपुषा महाहिना अधिवेष्टितम् रवितेजसाम् अवधिना भूमिभृता अखिलं लोकमिव स्थितम्, तुहिनराशिविशदम् उपवीतसूत्रतां नीतम् उरगम् अनुरञ्जयता परिणाहिना विलसन्मरीचिना शितिना गलेन

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदम् अवरुद्धमूर्धजम् सुरसरित् पयसां शेषमिव विसारि शशिधाम शिरसा विभ्रतम् ॥२०-२४॥

अर्थ—पार्वती के गीले चन्दन से अनुलिप्त दोनो स्तनमडलो के समान विशाल एव पुष्ट वृषभ (नन्दीश्वर) के ककुद पर अपने हाथो को रख कर (शिवजी) स्पर्श सुख का अनुभव कर रहे थे। हिमालय के किसी शिखर पर स्थित होने पर भी मानो सम्पूर्ण भुवन को अतिक्रमण करने वाली अपने तेजोराशि से पर्वतो, समुद्रो और बादलो के मार्गो (आकाशमंडल) तथा दसो दिशाओ समेत सम्पूर्ण विश्व को वे व्याप्त कर रहे थे। उस समय वह दोनो जानुओ के मध्यभाग मे भीषणकाय सर्पराज से वेष्ठित होकर सूर्य के प्रकाश के सीमाभूत लोकालोक पर्वत के द्वारा अधिवेष्टित सम्पूर्ण विश्व की तरह शोभायमान थे। तुषारराशि के समान श्वेत-शुभ्र भुजगराज को, जो उनके (शङ्कर के) यज्ञोपवीत के स्थान पर था, कृष्ण वर्ण का बनाने वाली एवं परिस्फुरित लबी किरणो से सुशोभित नीले कठ से वह अतीव शोभा पा रहे थे। मालती के पुष्पो के समान शुद्ध कपालरूपी कुमुद को अभिषिक्त करने वाली चन्द्रमा की किरणो को, जो उनकी पिंगल वर्ण की जटाओ को व्याप्त करके चारो ओर फैल रही थी, उन्होंने गगा जल के अवशिष्ट भाग के समान शिर पर धारण कर रखा था ॥२०-२४॥

टिप्पणी—नन्दीश्वर के ककुद का स्पर्श पार्वती के स्तन-स्पर्श के समान सुखदायी था। प्रथम श्लोक मे उपमा अलङ्कार है, द्वितीय मे उत्प्रेक्षा, तृतीय मे उपमा, चतुर्थ मे तद्गुण तथा पाँचवें मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः ।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ॥२५॥

अन्वयः—ततः मुनयः अभिमुखम् एत्य नयनविनिमेषनोदिताः पाडुतनयतपसा जनितम् जगताम् अशर्म भृशम् आचचक्षिरे ॥२५॥

अर्थ—तदनन्तर मुनियो ने शकर जी के सम्मुख पहुँचकर, आँख के इशारों से सब सकेत समझकर पाडुपुत्र अर्जुन की तपस्या से उत्पन्न ससार के कष्टों को (उनसे) भलीभाँति कह सुनाया ॥२५॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति ।
ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रह ॥२६॥

अन्वय —हे भुवनैकपुरुष ! वृत्र इव भीमविग्रह कोऽपि पुरुष तरसा एव अमलवपुष रवे अपि ज्योति अभिभूय तपस्यति ॥२६॥

अर्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ ! वृत्रासुर के समान भीषण शरीर वाला न जाने कौन एक पुरुष बड़े पराक्रम एव हठ से प्रकाशमूर्ति सूर्य के भी तेज को तिरस्कृत करते हुए तपस्या कर रहा है ॥२६॥

स धनुर्महेषुधि बिभर्ति कवचमसिमुत्तम जटा ।
वल्कमजिनमिति चित्रमिद मुनिताविरोधि न च नास्य राजते ॥२७॥

अन्वय —स महेषुधि धनु कवचम् उत्तमम् असिम् जटा वल्कम् अजिनम् च बिभर्ति इदम् मुनिताविरोधि अस्य न राजते इति ॥२७॥

अर्थ—वह तपस्वी पुरुष दो विशाल तरकस, धनुष, कवच, उत्तम खड्ग, जटा, वल्कल, और मृगचर्म इन सब वस्तुओ को धारण कर तपस्या कर रहा है। यद्यपि ये सब चीजें मुनिधर्म-विरोधिनी हैं, तथापि उसे ये शोभा नही देती ऐसी बात नही है, (प्रत्युत इनस उसकी और अधिक शोभा होती है, यही आश्चर्य है।) ॥२७॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम् ।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुत नभस्तलम् ॥२८॥

अन्वय —तस्य चलने अवनि चलति करणनियम सदिङ्मुखम् शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतम नभस्तलम् स्तम्भम् अनुभवति ॥२८॥

अर्थ—उसके चलने से धरती चलने लगती है, और उसके समाधिस्थ होने पर एव इन्द्रियो का निरोध होने पर दिशाओ समेत प्रशान्त वायु एव ग्रह नक्षत्रो से युक्त आकाश मडल भी निश्चलता का अनुभव करता है ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात उसकी श्वास रुक जाने से समस्त विश्व की गति रुक

जाती है । इससे ज्ञात होता है कि उस तपस्वी की शक्ति समस्त विश्व में श्रेष्ठ है ।

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम् ।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥२६॥

अन्वयः—स ओजसा विजितसारम् अमरदितिजोपसहितम् तत् इदम् विश्वम् पुरा अपि दधाति । यत् तपसाम् अदुष्करम् तत् किमिव अस्ति न ॥२६॥

अर्थ—वह तपस्वी अपने अदम्य तेज से सुरासुर समेत इस निखिल विश्व को निस्सार बना कर इसका शीघ्र ही आच्छादन अथवा हरण कर लेगा । क्योंकि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तपस्या द्वारा दुष्कर हो ॥२६॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ सञ्जिहीर्षति ।
प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितु क्षमा रुचः ॥३०॥

अन्वय.—जगन्ति युगपत् विजिगीषते यदि अथ सञ्जिहीर्षति अभवम् प्राप्तुम् अभिवाञ्छति वा वयम् अस्य रुचः विषहितुम् नो क्षमाः ॥३०॥

अर्थ—वह तपस्वी तीनों लोकों को या तो एक साथ जीतना चाहता है या तीनों लोकों का एक साथ ही संहार करना चाहता है अथवा अपवर्ग ( मुक्ति ) प्राप्त करना चाहता है । ( ऐसा हमें कुछ भी नहीं ज्ञात है, किन्तु कुछ भी हो ) हम लोग उसके तेज को सहन करने में असमर्थ हो रहे हैं ॥३०॥

किमुपेक्षसे कथय नाथ ! तव विदितं न किञ्चन ।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः ॥३१॥

अन्वयः—नाथ ! किम् उपेक्षसे कथय तव न विदितम् न किञ्चन अभयद ! नः अलम् त्रातुम् अर्हसि । त्वयि शासति पराभव मा स्म भवत् ॥३१॥

अर्थ—हे नाथ ! आप उसकी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं, कहिये क्या कारण है ? आप से तो कुछ भी अज्ञात नहीं है । हे अभयदाता ! आप हम लोगों

की रक्षा करने मे पूर्ण समर्थ हैं। आप के शासक रहते हुये हम लोगो का पराभव नही हो सकता ॥३१॥

इति गा विधाय विरतेषु मुनिषु वचन समाददे।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ॥३२॥

अन्वयः--इति गाम् विधाय मुनिषु अन्धकान्तकः दिशा विवरम् ध्वनयन् भिन्नजलधिजलनादगुरु वचनम् समाददे ॥३२॥

अर्थ--इस प्रकार की प्रार्थना करके मुनियो के चुप हो जाने पर अन्धकासुर के शत्रु शङ्करजी दिशाओ के अन्तराल अर्थात् आकाशमण्डल को अपनी ध्वनि से पूर्ण करते हुए क्षुब्ध समुद्र के जलनाद के समान गभीर वाणी मे बोले ॥३२॥

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमशमादिपुरुषस्य गा गतम् ॥३३॥

अन्वयः—बदरीतपोवननिवासनिरतम् गा गतम् जगताम् उदयनिधने धातुः आदिपुरुषस्य अशम् नरम् अन्यथा मा अवगात ॥३३॥

अर्थ—बदरिकाश्रम के तपोवन मे निवास करनेवाले, जगत की सृष्टि एव सहार के कर्त्ता विष्णु के अंशभूत उस तपस्वी को नर ( अर्थात् नारायण का अवतार ही ) समझो, उसे कोई दूसरा साधारण तपस्वी मत मानो ॥३३॥

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ॥३४॥

अन्वयः—एषः सकलभुवनाभितापिनः क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान् द्विषतः परासिसिषुः मदुपासन महत्तपः विहितवान् ॥३४॥

अर्थ—वह सम्पूर्ण लोक को दुःख देने वाले, इन्द्र की शक्ति और सेना को तृण के समान समझने वाले अपने दुर्दान्त शत्रुओ को पराजित करने की कामना से मेरी उपासना के रूप मे यह घोर तपस्या कर रहा है ॥३४॥

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजा ।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ।।३५।।

अन्वय—विभू अयम् अच्युतः च सरसिरुहजन्मनः वचनेन असुरनिधनेन प्रजाः पातुम् भुवम् अभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ।।३५।।

अर्थ—यह परम शक्तिसम्पन्न तपस्वी तथा भगवान श्रीकृष्ण दोनों ही भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्रजा की रक्षा के लिए इस धरती पर मनुष्य योनि में जन्म लेकर निवास कर रहे हैं ।।३५।।

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः ।
हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ।।३६।।

अन्वय—मूकदानवः एतत् सुरकृत्यम् इति निपुणम् अवगम्य पाडुसुतम् हन्तुम् अभिपतति तत् अत्र मया सह त्वरया गम्यताम् ।।३६।।

अर्थ—मूक नामक एक कोई दानव ( अर्जुन की ) इस तपस्या को देवताओं का कार्य है—ऐसा भलीभाँति समझकर पाडुपुत्र को मारने के लिए जा रहा है, तो आप लोग शीघ्रता से हमारे साथ ही वहाँ (देखने के लिए) चलें ।।३६।।

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन् ।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ।।३७।।

अन्वय—पापनिरतिः एषः विवरे अपि एनम् अनिगूढम् अभिभवितुम् न पारयन् अविशङ्कितया वराहमायया विजयम् व्यवस्यति ।।३७।।

अर्थ—यह पापी ( मूक दानव ) एकान्त स्थान पाने पर भी प्रकट रूप में इन्हें (अर्जुन को) पराजित करने में अपने को असमर्थ समझकर, माया से शूकर का रूप धारण कर निःशङ्क भाव से अर्जुन को जीतने के लिए प्रयत्नशील हो रहा है ।।३७।।

निहते निहत्य विततोऽनुप्रविशेदविदुषा रिपौ मया ।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ।।३८।।

अन्वय —विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा मया रिपौ निहते मुक्तनिशितविशिख अयम् प्रसभ मृगयाविवादम् आचरिष्यति ॥३८॥

अर्थ—किरातराज का रूप धारण कर उस वराहरूप शत्रु के मेरे द्वारा मारे जाने पर यह अर्जुन उस पर तीक्ष्ण बाण प्रहार करके मेरे साथ हठपूर्वक मृगया-कलह प्रारम्भ कर देगा ॥३८॥

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पद ।
सत्वविहितमतुल भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यत ॥३६॥

अन्वय —तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पद मृधे अधिकुप्यत *अस्य सत्वविहितम् अतुलम् भुजयो बल पश्यत ॥३९॥*

अर्थ—तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल एव सहायक साधनो से हीन होने पर भी इस अर्जुन के रण मे क्रुद्ध होने पर उसकी भुजा के स्वाभाविक एव अतुल बल को तुम लोग देखो ॥३६॥

[नीचे के तीन श्लोको म किरातराज शिव की चेष्टाओं का वर्णन है—]

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना ।
घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ॥४०॥
वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।
विभ्रदरुणनयनेन रुच शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना ॥४१॥
बृहदुद्वहज्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम् ।
मेघनिचय इव सववृते रुचिर किरातपृतनापति शिव ॥४२॥

अन्वय —इति तान् उदारम् अनुनीय विषमहरिचन्दनालिना घर्मजनितपुलकेन लसद गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा । पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना अरुणनयनेन वदनेन रुचम विभ्रत् । किरात-*पृतनापति शिव जलदनादि उपहितैकमार्गणम बृहत धनु उद्वहन्* रुचिर मेघ-निचय इव सववृते ॥४०-४२॥

अर्थ—शिव जी ने इस प्रकार उन मुनियो को आगे की घटना के सम्बन्ध

में सूचना देकर किरात सेनापति का वेश धारण किया। उसी समय उनके वक्ष-स्थल में अनेक वक्राकृति हरिचन्दन की रेखाएँ खिंच गयी, स्वेद से रोमांच हो आया, और वक्षस्थल में गजमुक्ता की माला शोभायमान हो गयी। (उनके मुख-मण्डल की तो विचित्र ही शोभा हुई।) अपनी लम्बी जटाओं को पुष्पित लताओं से उन्होंने बाँध लिया था, मयूर पंख के कुंडल धारण कर लिए थे, वे कुंडल जब उनके कपोलों पर लटकने लगे तो उस समय उनके अरुण नेत्र से सुशोभित मुख की शोभा अति सुन्दर लगने लगी। इस प्रकार किरात सेनापति का विचित्र वेश धारण कर शिव जी ने मेघों के समान गंभीर ध्वनि करनेवाला एक वृहत् धनुष लिया और उस पर एक शर सन्धान किया। उस समय उनकी शोभा मेघमंडल के समान दिखाई पड़ने लगी ॥४०-४२॥

टिप्पणी—तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः ।
शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ॥४३॥

अन्वय—अस्य अनुकूलम् विचिन्त्य आत्तविग्रहैः शूलपरशुशरचापभृतैः गणपतिभिः महती वनेचरचमूः विनिर्ममे ॥४३॥

अर्थ—शिव जी की प्रसन्नता की कामना से किरात शरीर धारण कर शिव के प्रमथ गणों ने भी शूल, परशु, धनुष, बाण आदि शस्त्रास्त्र धारण कर किरातों की एक महती सेना तैयार कर ली ॥४३॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया ।
भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगया प्रतस्थिरे ॥४४॥

अन्वय—अथ ईश्वराज्ञया अनुगिरम् काननविभागम् विरचय्य भीमनिनद-पिहितोरुभुवः मृगयाम् अपदिश्य परितः प्रतस्थिरे ॥४४॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान् शङ्कर की आज्ञा से उन प्रमथ गणों ने पर्वतीय वन प्रदेश का विभाग कर अपनी भयङ्कर आवाजों से वन्य भूमि को व्याप्त करते हुए मृगया के बहाने से चारों ओर प्रस्थान कर दिया ॥४४॥

क्षुभिताभिनि सृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनि स्वनै ।
पूर्णपृथुवनगुहाविवर सहसा भयादिव ररास भूधर ॥४५॥

*अन्वय* —क्षुभिताभिनि सृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनि स्वनै पूर्णपृथुवनगुहाविवर भूधर सहसा भयात् इव ररास ॥४५॥

अर्थ—उस समय भयभीत होकर अपने अपने स्थान से निकल कर अपने-अपने समूह से बिछुडे हुए पक्षिया और मृगो के आर्त्त शब्दा से उस सम्पूर्ण वन और पर्वत प्रदेश की गुफाएँ व्याप्त हो गयी, ऐसा मालूम पडने लगा मानो *इन्द्रकील पर्वत स्वयमेव भयभीत होकर आर्त्तनाद कर रहा हो ॥४५॥*

न विरोधिनी रुपमियाय पथि मृगविहङ्गसहति ।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभिय सममागता सपदि वैरमापद ॥४६॥

अन्वय —पथि विरोधिनी मृगविहङ्गसहति रुपम् न इयाय भूरिभिय समम् आगता आपद सहजम् अपि वैरम् सपदि घ्नन्ति ॥४६॥

अर्थ—भागते समय मार्ग मे पशुओ और पक्षियो की पारस्परिक सहज वैर भावना क्रोधयुक्त नही हुई । क्यो न हो, अत्यन्त भय देनेवाली विपत्तियाँ एक *साथ आकर सहज वैर को भी शीघ्र दूर कर देती है ॥४६॥*

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

चमरीगणैर्गणवलस्य वलवति भयेऽप्युपस्थिते ।
वशवितितिषु विषक्तपृथुप्रियवालवालधिभिराददे धृति ॥४७॥

*अन्वय* —वशवितितिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभि *चमरीगणै गणबलस्य* बलवति भये उपस्थिते अपि धृति आददे ॥४७॥

अर्थ—बाँसो की काँटेदार झाडियो मे अपने प्रिय बालो वाली पूँछो के अँटक जाने पर चमरी गौओ ने *शिव के प्रमथो की सेना द्वारा भीषण भय उप*-स्थित होने पर भी अपना धैर्य बनाए ही रखा ॥४७॥

टिप्पणी—बालो के टूट जाने के डर से उन्हे प्राणहानि की भी चिन्ता ही हुई ।

हरसैनिका प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरै ।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपै ॥४८॥

अन्वय —प्रतिभये अपि गजमदसुगन्धिकेसरै सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखै मृगाधिपै स्वस्थम् हरसैनिका अभिददृशिरे ॥४८॥

*अर्थ—भय का कारण उपस्थित होने पर भी गजराजा के मदजल से सुगधित केसरो वाले मृगराजा अर्थात् सिंहो ने निद्रा त्याग कर जँभाई लेते हुए नि शङ्क भाव से शिव के सैनिको को देखा ॥४८॥*

टिप्पणी—मृगराजों के लिए यह उचित भी था।

विभराम्बभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुला ।
पङ्कविषमिततटा सरित करिरुग्णचन्दनरसारुण पय ॥४९॥

अन्वय —अपवृत्तजठरशफरीकुलाकुला पङ्कविषमिततटा सरित करिरुग्णचन्दनरसारुणम् पय विभराम्बभूवु ॥४९॥

*अर्थ—नदियाँ भयातुर होकर उछलनेवाली मछलियो से व्याप्त हो गयी। उनके तट कीचड से दुर्गम बन गये। भागते हुए हाथियो के धक्को से टूटे हुए हरिचन्दन वृक्ष के रसो से उनके जल अरुण वर्ण के हो गये ॥४९॥*

महिपक्षतागुरुतमालनलदसुरभि सदागति ।
व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुम प्रणुदन्ववौ वनसदा परिश्रमम् ॥५०॥

अन्वय —महिपक्षतागुरुतमालनलदसुरभि व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुम सदागति वनसदा परिश्रमं प्रणुदन् ववौ ॥५०॥

अर्थ—महिषो के घर्षण से क्षत विक्षत त्वचा वाले अगुरु-तमाल, एव उशीर की सुगन्धि से सुरभित तथा शुक के समान हरे हरे शिला-कुसुमो को इधर-उधर उडाने वाली वायु उन वनवासियो ( किरात सनाओ ) के परिश्रम को दूर करती हुई बहने लगी ॥५०॥

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुका ।
क्लान्तजलरुहलता सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसम्प्लव ॥५१॥

अन्वय —सत्त्वसम्प्लव निदाघ इव सरसी मथिताम्भस रयविकीर्णमृदित-कदलीगवेधुका क्लान्तजलरुहलता विदधे ॥५१॥

अर्थ—भयभीत होकर भागते हुए उन वन्य जीव-जन्तुओं के सक्षोभ ने ग्रीष्मऋतु की भाँति सरोवरो की दुर्दशा कर दी । उन्होंने उनकी जलराशि को विलोडित कर दिया । भागने के वेग से किनारे के सम्पूर्ण कदली एव नीवारो को कुचल डाला, और पद्मिनी लताओ को मलिन कर दिया ॥५१॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापति ।
प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुध वसतिमैन्द्रसूनवीम् ॥५२॥

अन्वय —इति उमापति अचलसानुवनगहनजान् चालयन् मुदितहरिणी-दशनक्षतवीरुधम् ऐन्द्रसूनवीम् वसतिम् प्राप ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार पार्वतीपति भगवान् शङ्कर इन्द्रकील के शिखर पर वृक्षो तथा जङ्गलो मे रहने वाले जीवो को विक्षुब्ध करके, हर्षित हरिणियो के दाँतो से छिन्न लताओ वाले इन्द्रपुत्र अर्जुन के आश्रम मे पहुँच गए ॥५२॥

स तमाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थित मुने ।
पोत्रनिकपणविभिन्नभुव दनुज दधानमथ सौकर वपु ॥५३॥

अन्वय —अथ स घननीलम् मुने अभिमुखम् उपस्थित पोत्रनिकषणविभि-न्नभुव सौकर वपु दधान दनुजम् तम् आससाद ॥५३॥

अर्थ—तदनन्तर भगवान् शकर बादलो के समान नीले तपस्वी अर्जुन के सम्मुख उपस्थित उस मूक नामक दानव के समीप पहुँचे, जो शूकर का शरीर धारण कर अपने थूथुन से धरती को खोद रहा था ॥५३॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेना-
मन्वीत स कतिपयैं किरातवर्यै ।
प्रच्छन्नस्तरुगहनै सगुल्मजालै-
र्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सम्प्रतस्थे ॥५४॥

अन्वयः—लक्ष्मीवान् सः सुरसरितः कच्छान्ते सेना निधाय कतिपयैः किरातवर्यैः अन्वीतः सगुल्मजालैः तरुगहनैः प्रच्छन्नः अस्य अनुपदं सम्प्रतस्थे ॥५४॥

अर्थ—अत्यन्त शोभासम्पन्न भगवान् शङ्कर सुरनदी मन्दाकिनी के तट-प्रात मे अपनी सेना को खडी करके कतिपय चुने हुए किरात सैनिको को साथ ले कर लता प्रतान से सुशोभित घने-घने वृक्षो की आड मे छिप कर उस सूकर वेपधारी (मूक) दानव के पीछे-पीछे चल पडे ॥५४॥

टिप्पणी—प्रहर्षिणी छन्द ।

श्री महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१२॥

# तेरहवाँ सर्ग

वपुषा परमेण भूधराणामथ सम्भाव्यपराक्रम विभेदे ।
मृगमाशु विलोकयाञ्चकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुख महेन्द्रसूनु ॥१॥

*अन्वय*—अथ महेन्द्रसूनु परमेण वपुषा भूधराणा विभेदे सम्भाव्यपराक्रमं स्थिरदंष्ट्रोग्रमुख मृगम् आशु विलोकयाञ्चकार ॥१॥

*अर्थ*—भगवान् शकर के प्रस्थान के अनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन ने उस शूकर वेशधारी दानव को शीघ्र ही देख लिया, जो अपने विशाल शरीर से पर्वतो को भी खड-खड कर देने मे समर्थ मालूम पड रहा था और जिसकी सुदृढ दाढो से उसका मुख अत्यन्त भयकर दिखाई पड रहा था ॥१॥

टिप्पणी—इस सर्ग मे पैंतीसवें श्लोक तक औपच्छन्दसिक वृत्त है ।

स्फुटबद्धसटोन्नति. स दूरादभिधावन्नवधीरितान्यकृत्य ।
जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीम मुहुराददे वितर्कम् ॥२॥

*अन्वय*—स्फुटबद्धसटोन्नति दूरात् अभिधावन् अवधीरितान्यकृत्य सः जयम् इच्छति जातशङ्के तस्य मनसि मुहु इम वितर्कम् आददे ॥२॥

*अर्थ*—क्रोध के कारण अयाल को ऊपर उठाए हुए, दूर से ही दौडकर आते हुए दूसरे कार्यों से विरत यह वराह विजय के लिए ही इस प्रकार आ रहा है—इस प्रकार की आशका करते ही अर्जुन के मन मे अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे ॥२॥

[नीचे के ग्यारह श्लोको मे अर्जुन के तर्क-वितर्क का वर्णन किया गया है—]

घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निविडस्कन्धनिकापरुग्णवप्र ।
अयमेकचरोऽभिवर्तते मा समरायेव समाजुहूपमाण ॥३॥

*अन्वय*—घनपोत्रविदीर्णशालमूल. निविडस्कन्धनिकापरुग्णवप्र एकचर अय समराय समाजुहूषमाण इव माम् अभिवर्तते ॥३॥

अर्थ—अपने कठोर थूथुन से किसी वृक्ष के मूलभाग को विदीर्ण करने वाला एव अपने निविड स्कन्ध के घर्षण से पर्वत की शिलाओ को भी तोडने वाला यह अकेला वराह ( अपने यूथ से अलग हो कर ) मुझसे युद्धार्थ मानो चुनौती देने के लिए मेरे सम्मुख आ रहा है ॥३॥

इह वीतभयास्तपोनुभावाज्जहति व्यालमृगा परेषु वृत्तिम् ।
मयि ता सुतरामय विधत्ते विकृति किं नु भवेदिय नु माया ॥४॥

अन्वय —इह तपोनुभावात् वीतभय व्यालमृगा परेषु वृत्तिम् जहति अय मयि ता सुतरा विधत्ते । इय विकृति किं नु माया भवेत् नु ॥४॥

अर्थ—इस आश्रम मे (मेरी) तपस्या के प्रभाव से क्रूर व्याघ्रादि जन्तुओ ने प्राणि-हिंसा करके अपनी जीविका चलाना छोड दिया है । किन्तु यह वराह तो मेरे साथ उसी हिंसा-वृत्ति का व्यवहार करना चाहता है । क्या यह भावना मेरे मन मे इसलिए तो नही उठ रही है कि मेरी तपस्या भग हो गयी है अथवा यह किसी दैत्य की कोई माया है ॥४॥

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा न मुक्त ।
*अवधूय विरोधिनी. किमारान्मृगजातीरभियाति मा जवेन ॥५॥*

अन्वय —अथ एष पूर्वं भृशम् आसेवितया रुषा कृतज्ञयेव न मुक्त । आरात् विरोधिनी मृगजाति अवधूय जवेन मा अभियाति किम् ॥५॥

अर्थ—अथवा मेरे प्रति इसका पूर्वजन्म का कोई शत्रुता सम्बन्धी प्रबल क्रोध है, जो कृतज्ञता की तरह इस जन्म मे भी इसका सग नही छोड रहा है, अन्यथा अपने सहज विरोधी अन्य जीवो को समीप मे ही छोडकर यह बडे वेग से मेरी ही ओर क्यो दौडा चला आ रहा है ? ॥५॥

न मृग खलु कोऽप्यय जिघासु स्खलति ह्यत्र तथा भृश मनो मे ।
विमल कलुषीभवच्च चेत कथयत्येव हितैषिण रिपु वा ॥६॥

अन्वय.—अय मृगः न खलु कोऽपि जिघासुः । हि अत्र मे मन. भृश स्खलति । हि विमल कलुषीभवत् चेत एव हितैषिण रिपु वा कथयति ॥६॥

अर्थ—यह वराह नही है, निश्चय ही मेरे प्राणो का ग्राहक कोई अन्य है, क्योकि इसे देखकर मेरा मन बारम्बार ऐसा ही कह रहा है । सच है, चित्त का प्रसन्न और क्लुषित होना ही मित्र अथवा शत्रु होने की सूचना दे देता है ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् जिसे देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, वही मित्र है और जिसे देखकर वह कलुषित हो जाता है वही शत्रु है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः ।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणा किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥७॥

अन्वय—मुनिः अस्मि निरागस मे कुतः भय इति एषः अभिमानः न भूतये । हि परिवृद्धिषु बद्धमत्सराणा दुरात्मनाम अलङ्घ्य किमिव अस्ति ॥७॥

अर्थ—मैं मुनि हूँ अतएव मुझ अनपकारी को किसी से क्या भय है—यह अभिमान करना अब श्रेयस्कर नही है क्योकि दूसरो की उन्नति से जलने वाले दुष्ट-दुरात्माओ के लिए कौन ऐसी मर्यादा अथवा धर्मसीमा है, जिसका वे उल्लघन नही करते ॥७॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

दनुज. स्विदय क्षपाचरो वा वनजे नेति बल बतास्ति सत्त्वे ।
अभिभूय तथा हि मेघनील सकल कम्पयतीव शैलराजिम् ॥८॥

अन्वय—अय दनुजः स्वित् क्षपाचरो वा वनजे सत्वे इति बल नास्ति बत । तथा हि मेघनीलः सकल शैलराजिम् अभिभूय कम्पयतीव ॥८॥

अर्थ—अथवा यह कोई दानव निशाचर है, वन्य पशु मे तो ऐसी शक्ति नही हो सकती ? क्योकि बादलो के समान विशालकाय एव नीला यह वराह इस पर्वतमाला को भी मानो पराजित करके विकम्पित-सा कर रहा है ॥८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षागर्भित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

अयमेव मृगव्यसनकाम प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे ।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगाणि काननानि ॥९॥

अन्वय —अयमेव शमस्थे मयि मायया प्रहरिष्यन् मृगव्यसनकाम पृथुभि र्ध्वजिनीरवै काननानि चकितोद्भ्रान्तमृगाणि अकार्षीत् ॥९॥

अर्थ—इसी वराह ने शान्तिपूर्वक तपस्या म निरत मुझ पर प्रहार करने की दुभावना से मृगया की इस भूमि को मुझसे छीनने के लिए अपनी माया से कल्पित विशाल सेना के कोलाहल से जङ्गल के पशुओ को उद्भ्रान्त एव चकित-सा कर दिया है ॥९॥

वहुश कृतसत्कृतेर्विधातु प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य ।
क्षुभित वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुलतिरश्चान् ॥१०॥

अन्वय —अथवा वहुश कृतसत्कृते सुयोधनस्य प्रिय विधातुम इच्छन् वनगोचराभियोगात् क्षुभितम् आकुल तिरश्चां गणम् अशिश्रियत् ॥१०॥

अर्थ—अथवा दुर्योधन से वहुपुरस्कृत होकर उसका प्रिय कार्य करने की इच्छा से किसी ने वनभूमि के अवरोध से क्षुब्ध पशुओ के रूप मे आश्रय लिया है ॥१०॥

टिप्पणी—अर्थात् उसने मन मे यह सोचा होगा कि यदि मैं किसी दूसरे वेश मे वहाँ जाऊँगा तो मरे कार्य सम्पादन मे ये जङ्गली पशु ही विघ्न डालेंगे अतएव मैं भी जङ्गली पशु ही क्यो न बन जाऊँ और इस प्रकार से दुर्योधन का प्रिय कार्य सम्पन्न कर आऊँ ।

अवलीढसनाभिरश्वसेन प्रसभ खाण्डवजातवेदसा वा ।
प्रतिकर्तुमुपागत समन्यु कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥११॥

अन्वय —खाण्डवजातवेदसा प्रसभम् अवलीढसनाभि समन्यु, अश्वसेनः प्रतिकर्त्तुम् उपागत यदि वा वृकोदरेण कृतमन्यु ॥११॥

अर्थ—अथवा खाण्डव दाह के समय अपने बन्धु-बान्धवों के जल जाने के कारण अत्यन्त क्रुद्ध तक्षक नागराज का पुत्र अश्वसेन ही तो मुझसे बदला लेने के लिए नहीं आया है ? अथवा यह भीमसेन के द्वारा अपकृत कोई व्यक्ति हो सकता है, जो क्रुद्ध होकर बदला चुकाने के लिए मेरे पास आया हो ॥११॥

टिप्पणी—महाभारत की एक कथा के अनुसार पाण्डवो ने खाण्डव वन को जलाते समय नागराज तक्षक के पुत्र अश्वसेन के बन्धु-बान्धवो को भी उसी मे जला डाला था। वे बेचारे आग के भय से बाहर निकल कर भागना चाहते थे किन्तु पाण्डवो ने अपने बाणो से उन्हे रोक कर उसी वन मे पुन. वापस लौटने के लिए विवश कर दिया था।

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः।
नियमेन मया निवर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः॥१२॥

अन्वयः—यथा तथा वा अय बलशालितया उच्छेदपरा धिय दधानः मया नियमेन निवर्हणीयः। हि अरातिभङ्ग परम लाभम् आहु. ॥१२॥

अर्थ—खैर जो भी हो। यह मायावी वराह हो अथवा यथार्थ मे जङ्गली शूकर ही हो, अत्यन्त बलवान् होने के कारण यह मुझे मारना तो चाहता ही है, अत. मुझे इसको मारना ही चाहिये। क्योकि पडित लोग शत्रु के सहार को ही परम लाभ बतलाते आए हैं ॥१२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

कुरु तात तपास्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्माम्।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम्॥१३॥

अन्वयः—तात ! अमार्गदायी विजयाय तपासि कुरु इति मुनिः माम् अलम् अन्वशात्, अस्य बलिनः वधादृते अन्यथा व्रतसरक्षण कर्तुम् न शक्यम् ॥१३॥

अर्थ—हे वत्स ! छिद्रान्वेषी शत्रुओ को अपने आश्रम मे प्रवेश का अवसर न देते हुए विजय के लिए तपस्या करना—इस प्रकार का उपदेश मुझे मुनिवर व्यास जी ने दिया था, अतएव इस परम बलवान वराह के वध के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय द्वारा मेरे व्रत की रक्षा नही हो सकती ॥१३॥

टिप्पणी—दुष्टों का दमन करने के लिए यदि हिंसा का भी प्रयोग करना पडे तो इसमें दोष नहीं है।

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः ॥१४॥

अन्वयः—तेन इति विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नम् आललम्बे परस्य भेदे उपलब्धगुणः शुद्धः बाणश्च सचिव इव आददे ॥१४॥

अर्थ—अर्जुन ने इस प्रकार का तर्क-वितर्क करने के अनन्तर अपने गाडीव नामक धनुष को, जो प्रथम पौरुष-चिह्न के रूप में था, ग्रहण किया एवं तदनन्तर शत्रुओं के वध करने में ज्ञात पराक्रम वाले एक सरल एवं निर्दोष बाण को भी मन्त्री के समान ग्रहण किया ॥१४॥

टिप्पणी—बाण के दोनों विशेषण मन्त्री के साथ भी जोड लेने चाहिये। श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार।

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनञ्जयेन।
स्वबलव्यसनेऽपि पीडयमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥१५॥

अन्वयः—गुरु स्थिरत्वात् अविसंवादि गुणवत् धनुः मित्रमिव अनुभाववता धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं आनतिं प्रपेदे ॥१५॥

अर्थ—महान, पूज्य, सत्यपरायण, औदार्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न सन्मित्र धन-रूप बल की अभाव दशा में भी प्रार्थित होने पर जिस प्रकार से अनुकूल आचरण करते हैं, उसी प्रकार से महान्, सारवान होने से दृढ़तर और प्रत्यञ्चा युक्त गाडीव धनुष भी कठोर तपस्या के कारण क्षीण बल होने पर भी महानुभाव अर्जुन द्वारा आकृष्ट किए जाने पर नम्र हो गया ॥१५॥

टिप्पणी—श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार।

प्रविकर्षणिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम्।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः ॥१६॥

अन्वयः—तदानी महेषौ गाण्डिवम् अधिरोहति प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितः सकलः शैलः संशयम् आरुरोह ॥१६॥

अर्थ—उस समय गाण्डीव धनुष पर अर्जुन द्वारा वाण रखते ही प्रत्यन्चा के खीचने के कठोर शब्द से पर्वत की गुफाएँ व्याप्त हो गयी, और अर्जुन के पद भार से आक्रान्त होने कारण वह सम्पूर्ण पर्वत अपने मे स्थिर रहने के लिए भी सशयग्रस्त हो गया ॥१६॥

टिप्पणी—अतिशयोक्ति अलङ्कार।

ददृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः।
रचितस्तिसृणां पुरां विधातु वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ॥१७॥

अन्वयः—अथ शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमंडलस्थः तिसृणा पुरा वध विधातु रचितः आत्मा इव परेषा भयानकः सविस्मयं ददृशे ॥१७॥

अर्थ—बाण-सन्धान के अनन्तर भगवान शकर ने सम्पूर्ण रूप से प्रत्यन्चा के खीचने के कारण विरचित निश्चल चाप-मडल मे अवस्थित अर्जुन को बड़े विस्मय के साथ त्रिपुर-विध्वस के समय स्वय अपने द्वारा रचित निज-स्वरूप के समान शत्रुओ के लिए परम भयकर रूप मे देखा ॥१७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

*विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः।*
*धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शम्भुः ॥१८॥*

अन्वयः—शम्भुश्च संहितेषुः उच्चैः चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः आयतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्निः धनुः विचकर्ष ॥१८॥

अर्थ—तदन्तर भगवान् शकर ने भी शर सन्धान पूर्वक अपने धनुष को खीचा। उस समय उसके चरणो की अत्यन्त चपेट से पर्वतराज नीचे की ओर खिसक उठा। उनके धनुष की प्रत्यन्चा पर नागराज वासुकि ही विराजमान थे, अतः उसके खीचने पर उनका शरीर खिच गया और मुख की ग्रथि से अग्नि की *( भयङ्कर ) ज्वालाएँ निकलने लगी ॥१८॥*

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार ।

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।
रिपुराप पराभवाय मध्य प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ।।१९।।

अन्वयः—सहार्थं विधास्यतोः भवक्षयैकहेतोः भवस्य सितसप्तेश्च मध्य रिपुः प्रकृतिप्रत्यययोः अनुबन्धः इव स पराभवाय आप ।।१९।।

अर्थ—एक ही समय शत्रु-सहार रूप प्रयोजन को पूरा करने के लिये उद्यत ससार के विनाश के आदि कारण शङ्कर जी और अर्जुन के मध्य मे प्राप्त वह वराह रूप शत्रु, सयुक्त रूप मे अर्थ बोध कराने वाले प्रकृति और प्रत्यय के मध्य मे स्थित इत्सञ्ज्ञक वर्ण की भाँति विनाश को प्राप्त हुआ ।।१९।।

टिप्पणी—जिस प्रकार से अर्थ प्रतिपादक प्रकृति और प्रत्यय के बीच मे क् त् उ आदि इत्सञ्ज्ञक वर्ण केवल लोप होने के लिए ही आकर उपस्थित होते हैं उसी प्रकार से शिव और अर्जुन के बीच मे वह वराह उपस्थित हुआ । उदाहरण के लिए कर्त्तव्य शब्द को लीजिए । इसमे 'कृ' धातु अर्थ प्रतिपादक प्रकृति है और तव्यत् प्रत्यय है। दोनो के बीच मे अन्तिम त कार का लोप हो जाता है जो इत्सञ्ज्ञक है। उपमा अलङ्कार ।

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रवविन्नासितवारणादवार्यः ।
निपपात जवादिपुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः ।।२०।।

अन्वयः—अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा अवार्यः इषुः रवविन्नासितवारणात् पिनाकात् महतः अभ्रात् वैद्युतः कृशानुः इव जवात् निपपात ।।२०।।

अर्थ—तदनन्तर मेघो के पथ को उद्भासित करता हुआ शङ्कर जी का अमोघ बाण, अपने घोष से हाथियो को भी विकम्पित करने वाले धनुष से, विशाल मेघमंडल से विद्युत् की ज्वाला के समान वेग से छूटा ।।२०।।

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृतताक्ष्योपनिपातवेगशङ्कः ।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ।।२१।।

*अन्वय*—व्रजत अस्य वृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्क महोरगाणा हृदयश्रोत्रभित् प्रतिनादमहान् नाद उत्पपात ॥२१॥

अर्थ—वेग से चलते हुए उस बाण के वृहत् पक्षो से उत्पन्न भीषण नाद अपनी ही प्रतिध्वनि से भयकर होकर, गरुड के वेगपूर्वक आक्रमण की आशका उत्पन्न करता हुआ महान सर्पों के हृदयो और कानो को विदीर्ण करते हुए फैल गया ॥२१॥

टिप्पणी—भ्रमोत्थापित अतिशयोक्ति अलङ्कार।

नयनादिव शूलिन प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतर यत पिशगै ।
विदधे विलसत्तडिल्लताभै किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य माग ॥२२॥

*अन्वय*—शूलिन नयनात् प्रवृत्तै इव पिशङ्गै विलसत्तडिल्लताभै मनस अपि आशुतरम यत मार्गणस्य किरणै व्योमनि मार्ग विदधे ॥२२॥

अर्थ—मानो भगवान् शकर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि ज्वाला के समान कपिल वर्ण और बिजली की रेखा के समान देदीप्यमान, मन के वेग से भी शीघ्रगामी वेग से चलते हुए शिव के उस बाण की किरणो ने आकाशमण्डल मे उल्कारेखा की तरह एक ज्वलन्त मार्ग बना दिया ॥२२॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

अपयन्धनुष शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहान ।
युगपद्दृशे विशन्वराह तदुपोढैश्च नभश्चरै पृपत्क ॥२३॥

*अन्वय*—पृषत्क धनुष अपयन शिवान्तिकस्थै अभिख्यया जिहान विवरेसद्भि वराह विशन् तदुपोढै नभश्चरै युगपत ददृशे ॥२३॥

अर्थ—शिव जी का बाण जिस क्षण धनुष से निगत हुआ, उस समय शिव के समीपवर्ती आकाशचारियो ने, जिस समय वह पूर्वोक्त शोभा से सम्पन्न हुआ उस समय अन्तरालवर्ती आकाशचारियो ने तथा जिस समय वह वराह मे प्रविष्ट हुआ उस समय वराह के समीपवर्ती आकाशचारियो ने एक साथ ही देखा ॥२३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि उसे धनुष से निकलकर आकाश से जाते हुए एवं वराह के शरीर में प्रविष्ट होते हुए तनिक भी देर नहीं लगी। अतिशयोक्ति अलङ्कार से लोकोत्तर वेग प्रतीतिरूप वस्तुध्वनि।

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविषक्तवेगः।
भयविप्लुतमीक्षितो नभःस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥२४॥

अन्वयः—स तमालनिभे सुराणां रिपौ घननीहार इव अविषक्तवेगः नभःस्थैः भयविप्लुतम् ईक्षितः आपगां ग्राह इव जगतीं जगाहे ॥२४॥

अर्थ—शिवजी का वह वेगशाली बाण तमाल के समान नील वर्ण के उस देवशत्रु वराह के शरीर में सघन हिम के समान अप्रतिहत वेग से प्रविष्ट हो गया। भयविह्वल नभचरों ने देखा कि वह इसके बाद इस प्रकार से धरती में प्रविष्ट हो गया जिस प्रकार से ग्राह नदी में प्रविष्ट हो जाता है ॥२४॥

सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखः खमाससाद।
कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन्प्राणभृतः कपिध्वजेषुः ॥२५॥

अन्वयः—सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखः कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीः कपिध्वजेषुः प्राणभृतः व्यथयन् खम् आससाद ॥२५॥

अर्थ—और उसी अवसर पर तुरन्त ही अर्जुन का बाण भी प्राणियों को पीड़ित करता हुआ आकाश में उपस्थित हुआ। उस बाण का स्वरूप सुन्दर था, उसमें गाँठें और रेखाएँ ढंग से निर्मित थीं, उसके अग्रभाग में श्वेत लोहे का फार लगा हुआ था, जो नख की आकृति का था। वह क्रोधित यमराज की तर्जनी अंगुली के समान भयंकर दिखाई पड़ रहा था ॥२५॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

परमास्त्रपरिग्रहोरुतेजः स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु।
स जवेन पतन्परःशतानां पततां व्रात इवारवं वितेने ॥२६॥

अन्वयः—परमास्त्रपरिग्रहोरुतेजः स्फुरदुल्काकृति तेजः वनेषु विक्षिपन् जवेन पतन् स परःशतानां पततां व्रात इव आरवं वितेने ॥२६॥

अर्थ—अर्जुन का वह महान् बाण मन्त्र द्वारा दिव्य अस्त्र की भाँति सन्धानित था, अतः प्रदीप्त उल्का के समान वन में अपने तेज को बिखेरता हुआ अत्यन्त वेग के साथ दौड़ते हुए सैकड़ों सहस्रों पक्षियों के समूह की भाँति वह महान् शब्द फैलाने लगा ।।२६।।

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरंहसा सः ।
सह पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ।।२७।।

अन्वय —अतिरंहसा अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायामः इव सः सह नु चित्तवृत्तेः पूर्वतरं नु लक्ष्यभेदं चकार ।।२७।।

अर्थ—अत्यन्त वेग के कारण अर्जुन के उस बाण का गाण्डीव से निर्गत होने का तथा उसके गमन का समय किसी को ज्ञात नहीं हो सका और उसने अतिवेग से मानो अत्यन्त सूक्ष्म होकर चित्तवृत्ति (मन की गति) के साथ ही अथवा उससे भी पूर्व ही लक्ष्य में पहुँच कर अथवा लक्ष्य तक बिना पहुँचे ही उसका भेदन कर दिया—इसका कुछ भी निश्चय नहीं हो सका ।।२७।।

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से बाण वेगोत्कर्ष रूप वस्तुध्वनि ।

स वृषध्वजसायकावभिन्नं जयहेतुः प्रतिकायमेषणीयम् ।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ।।२८।।

अन्वय —जयहेतुः सः शरः वृषध्वजसायकावभिन्नम् एषणीयम् प्रतिकायं विधिना उदीरितम् अर्थं प्रयत्नः इव लघु साधयितुं प्रसेहे ।।२८।।

अर्थ—विजयसाधक अर्जुन का वह बाण वृषभध्वज शङ्कर के बाण से विद्ध उस प्रतिपक्षी सूकर के शरीर को इस प्रकार से सुगमतापूर्वक विद्ध करने में समर्थ हो गया जिस प्रकार से मनुष्य का प्रयत्न दैव प्रतिपादित कार्य का अनायास ही सम्पादन कर लेता है ।।२८।।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव संश्रितानुरागम् ।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसादं विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ।।२९।।

अन्वय —अविवेकवृथाश्रमौ अर्थम् इव क्षयलोभौ सश्रितानुरागमिव अनय-प्रमादौ विजिगीषुमिव विशिखौ तम् अवमाद विनिन्यतु ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार से अविवेक और व्यर्थ का परिश्रम धन-वैभव को, स्वामी का विनाश और लोभ जैसे सेवकों के अनुराग को और अनीति तथा प्रमाद जैसे विजय-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को शिथिलित कर देते है, वैसे ही शङ्कर और अर्जुन के बाणो ने उस शूकर को शिथिलित कर दिया ॥२६॥

टिप्पणी—मालोपमा अलङ्कार ।

अथ दीर्घतम तमः प्रवेक्ष्यन्सहसा रुग्णरयः स सम्भ्रमेण ।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरुं धरां च मेने ॥३०॥

अन्वय —अथ सः दीर्घतम तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः सम्भ्रमेण उष्ण-रश्मिम् उर्व्यां निपतन्तमिव मेने । धराञ्च वलयीभूततरु मेने ॥३०॥

अर्थ—तदनन्तर वह वराह दीर्घ निद्रा के अन्धकार अर्थात् मृत्यु के गाल मे प्रवेश करते हुए तुरन्त ही वेगहीन होकर चारों ओर चक्कर काटने लगा और उस क्षण उसे यह ज्ञान हुआ कि जैसे सूर्य पृथ्वी पर गिर रहे हैं और पृथ्वी के समग्र वृक्ष मण्डलाकार घूम रहे हैं ॥३०॥

टिप्पणी—चक्कर काटते हुए प्राणी को यह भ्रान्ति होती ही है । स्वभा-वोक्ति अलङ्कार ।

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा ।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ॥३१॥

अन्वय —क्षितिं गतः उष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा क्षणम् ईक्षितेन्द्रसूनुः विहितामर्षगुरुध्वनिः सः असुभिः निरासे ॥३१॥

अर्थ—पृथ्वी पर गिर कर गरम-गरम रक्त से लथपथ उस वराह ने अपने खुरों तथा दाढ़ों के अग्रभाग की चोट से पत्थर की शिलाओं को फोड़ते हुए क्षण भर के लिए अर्जुन की ओर देखा और फिर अत्यन्त क्रोध से गम्भीर गर्जन करते हुए अपने प्राणों को त्याग दिया ॥३१॥

टिप्पणी—स्वभावोक्ति अलङ्कार।

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन्प्रियतामेति यथा कृतावदानः ॥३२॥

अन्वयः—अथ पार्थः प्राज्यशरः स्फुटपौरुष शर जिघृक्षुः आपपात। कृतवेदिना कृतावदानः यथा प्रियताम् एति तथा करिष्यन् न ॥३२॥

अर्थ—वराह के मर जाने पर अर्जुन के पास यद्यपि बहुतेरे बाण थे तथापि इस प्रकार का उत्कट पराक्रम दिखानेवाले अपने उस वराहवेधी बाण को उठाने की इच्छा से वह उसकी ओर लपके। सच है, जो लोग कृतज्ञ होते हैं, वे उसी का अधिक आदर करते हैं, जो कुछ काम करके दिखा देता है। भविष्य मे उपकार करने वाले का वे उतना अधिक आदर नही करते ॥३२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[नीचे के दो श्लोको द्वारा उस बाण का वर्णन किया गया है—]

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम्।
कृतशक्तिरवाङ्मुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ॥३३॥
स समुद्धरता विचिन्त्यतेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमा दधान.।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चै. परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम् ॥३४॥

अन्वयः—असति प्रयुक्त' उपकार इव मृगे स्थितिम् अप्राप्य प्रणाश गत.। कृतशक्ति' गुरुत्वात् अवाङ्मुख आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित। उत्तमां स्वरुच कीर्तिमिव दधान विचिन्त्य समुद्धरता तेन उच्चै स्ववार्तं अनुयुक्त इव स विलोचनाभ्या भृश परिरेभे नु ॥३३-३४॥

अर्थ—अर्जुन का वह बाण दुःशील दुर्जनो पर किए गए उपकार की भाँति उस वराह के शरीर मे न ठहर कर अदृश्य हो गया एव अपने पौरुष को दिखला कर अग्रभाग मे लोह की गुरुता से अधोमुख होकर वह इस प्रकार दिखाई पडा मानो अपने पुरुषत्व के प्रकाशन करने से लज्जित होकर उसने

अपना मुँह नीचे कर लिया है। वह कीर्ति की भाँति मानो अपनी उज्ज्वल कान्ति से युक्त था। उसे सर्वथा ग्राह्य समझ कर अर्जुन ने अपने नेत्रों से उसका बारम्बार आलिंगन किया उस समय वह मानो उच्च स्वर में अपने कार्य-कौशल को जानने की अभिलाषा करते हुए पड़ा था ॥३३-३४॥

टिप्पणी—गौरवशाली महान् लोग अपने पुरुषत्व का प्रकाशन करके अपना शिर ऊँचा नहीं उठाते, प्रत्युत् बड़े से बड़ा कार्य करके भी वे नम्रता ही दिखाते हैं। दोनों श्लोकों में उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम्।
सन्निकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः ॥३५॥

अन्वयः—तत्र महाभुजः कुसुमचापविद्विषः शासनं सन्निकाशयितुम् अग्रतः स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा पश्यति स्म ॥३५॥

अर्थ—उक्त प्रदेश में महाभुज अर्जुन ने कुसुमायुध के संहारकर्ता भगवान् शंकर की आज्ञा को सूचित करने के लिए अपने सामने स्थित एक धनुषधारी किरात को सहसा देखा ॥३५॥

टिप्पणी—यह रथोद्धता छन्द है। सर्ग समाप्ति पर्यन्त अब यही छन्द रहेगा।

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं विलानतिम्।
सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्यमुपचक्रमे वचः ॥३६॥

अन्वयः—सः महीपतेः तनये आत्मजातिसदृशीं विलानतिं प्रयुज्य, सान्त्वपूर्वम् अभिनीतिहेतुकं वचः इत्थं वक्तुम् उपचक्रमे ॥३६॥

अर्थ—(तदनन्तर वह) किरात राजपुत्र अर्जुन को अपनी जाति परम्परा के अनुसार प्रणाम कर सान्त्वनापूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त बातें इस प्रकार से कहने के लिए उद्यत हुआ ॥३६॥

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम्।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्वयायमवदातमाकृतिः ॥३७॥

अन्वय:—शान्तता ते विनययोगि मानस नु तथा भूरि धाम तप. विमल श्रुत दिवौकसा सदृशी आकृति. अवदान अन्ववाय प्राह ॥३७॥

अर्थ—आपका यह शान्त भाव आपके हृदय की विनयशीलता को प्रकाशित करता है। महान् तेजस्वी आप का यह तप आपके विशुद्ध शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देता है और आपकी देवताओ के समान यह मनोहर आकृति आपके 'विशुद्ध वश को प्रकट कर रही है ॥३७॥

दीपितस्त्वमनुभावसम्पदा गौरवेण लघयन्महीभृतः ।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥३८॥

अन्वय.—मुनिरपि अनुभावसम्पदा दीपिता गौरवेण महीभृतः लघयन् त्वम् इह शातमन्यवम् आधिपत्य. कारयन्निव राजसे ॥३८॥

अर्थ—ऐश्वर्य रहित मुनिवेश मे होते हुए भी आप अपने अतिशय प्रभाव से सुप्रकाशित हो रहे है। अपनी महत्ता से (बडे-बडे) राजाओ को भी तुच्छ बना दे रहे हैं, इस प्रकार आप इस पर्वत पर मानो इन्द्र के द्वारा उनके शासन कार्य की देखभाल करते हुए शोभायमान हो रहे हैं ॥३८॥

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसम्पदाम् ।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः ॥३९॥

अन्वय:—विभुताम् उपेयिवान् तापसोऽपि त्वं सर्वसम्पदाम् आस्पदम् असि। तथाहि भवतः जनैर्विना सचिवैः अन्वितस्येव दृश्यते ॥३९॥

अर्थ—अत्यन्त प्रभाव से युक्त होने के कारण आप तपस्वी होकर सम्पूर्ण सम्पदाओ के आश्रय हैं। क्योकि यद्यपि आप अकेले हैं फिर भी सचिवादि से युक्त की भाँति आप का तेज दिखाई पडता है ॥३९॥

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ॥४०॥

अन्वय.—जयश्रिया क इव वा विस्मयः अतः मुक्तिरपि ते दवीयसी नैव। तथाहि निर्जितरजस्तमोगुण. कस्य ईप्सितस्य उपाश्रयः न भवेत् ॥४०॥

अर्थ—आपको जयश्री का लाभ होना कोई विस्मय की बात नही है, अत-एव मुक्ति भी आपको दुर्लभ नही है, क्योकि आपके समान रजोगुण एव तमोगुण को पराजित करने वाले पुरुष किस अभिलषित वस्तु के आश्रय नहीं होते ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् जो व्यक्ति रजोगुण एव तमोगुण को पराजित कर देता है, उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ह्रेपयन्नहिमतेजस त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुप ।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिन नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ॥४१॥

अन्वय —त्विषा अहिमतेजसम् ह्रपयन् उपपन्नपौरुष स त्व वराहभेदिनम् एनम् अस्मत् अधिपस्य सायकम् इत्थ हर्तुम् न अर्हसि ॥४१॥

अर्थ—अपने तेज से उष्णरश्मि भास्कर को लज्जित करने वाले आप जैसे पराक्रमी को इस वराह को मारनेवाले हमारे स्वामी के वाण का इस प्रकार से अपहरण करना उचित नही है ॥४१॥

स्मर्यते तनुभृता न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभि ।
ध्वसते यदि भवादृशस्तत क प्रयातु वद तेन वरमना ॥४२॥

अन्वय —उत्तमै नृभि तनुभृता सनातन न्याय्यम् आचरित स्मयत । यदि भवादृश तत ध्वसते तेन वर्त्मना क प्रयातु वद ॥४२॥

अर्थ—मनु आदि आचारवेत्ता महानुभावा ने शरीरधारियो के लिए 'सर्वदा न्याय-पथ का अवलम्बन करना चाहिए' ऐसा उपदेश किया है। यदि आप जैसे व्यक्ति उस न्याय-पथ से विचलित हो जायँगे तो वताइये उस पथ पर दूसरा कौन व्यक्ति चलेगा ? ॥४२॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छव सनिवृत्तिमपथान्महापद ।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यव शीलयन्ति यतय सुशीलताम् ॥४१॥

अन्वय —योगशक्तिजितजन्ममृत्यव यतय आकुमार महापद अपथात् सन्निवृत्तिम् उपदेष्टुम् इच्छव सुशीलता शीलयन्ति ॥४३॥

अर्थ—अपनी योग शक्ति अर्थात् आत्मज्ञान की महिमा से जन्म और मृत्यु को जीतने वाले योगी जन अपनी कौमार्यावस्था से ही महान् विपत्तियों के आश्रय रूप कुमार्ग से निवृत्त होने का उपदेश देने की इच्छा से सदाचरण का ही अभ्यास करते हैं ॥४३॥

टिप्पणी—इसलिए सज्जन पुरुष को सदाचरण एवं शील का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए।

तिष्ठता तपसि पुण्यमासजन्सम्पदोऽनुगुणयन्सुखैषिणाम् ।
योगिनां परिणमन्विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ॥४४॥

अन्वयः—तपसि तिष्ठतां पुण्यम् आसजन् सुखैषिणां सम्पदः अनुगुणयन् तथा योगिनां विमुक्तये परिणमन् विनयः केन सतां प्रियः न अस्तु ॥४४॥

अर्थ—विनयशीलता तपस्या में निरत धर्मार्थी लोगों को पुण्य प्रदान करती है, सुखार्थी जनों के लिए सम्पत्ति प्रदान करती है और योगियों को मुक्ति प्रदान करती है, अतः कौन-सा ऐसा कारण है कि यह ( सदाचार ) सज्जनों को प्रिय न हो ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि विनयशीलता धर्मार्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग को देनेवाली है।

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः ।
सोऽयमित्यनुपपन्नसंशयः कारितस्त्वमपथे पदं यया ॥४५॥

अन्वयः—अयं सायकः अत्र भवतः शराकृतिं सर्वथा अनुयाति नूनम् यया त्वम् अनुपपन्नसंशयः सः अयम् इति अपथे पदं कारितः ॥४५॥

अर्थ—निश्चय ही मेरे स्वामी का यह बाण आपके बाण के समान ही आकृति वाला है, जिसके कारण यही बाण है सन्देहरहित बनाकर दूसरे का बाण अपहरण करने के इस कुमार्ग पर ला रहा है ॥४५॥

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहृते ।
निघ्नतः परनिबर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः ॥४६॥

अन्वयः—सचेतसः ते अन्यदीयविशिखे आहृते निःस्पृहस्य केवलं न भवितव्यम् परनिर्बाहित मृग निघ्नतः व्रीडितव्यमपि ।।४६।।

अर्थ—आप जैसे मनस्वी सज्जन के लिए दूसरे के बाण का अपहरण करने मे केवल निस्पृह होना ही उचित नही है, प्रत्युत दूसरे द्वारा मारे गए पशु मे ( फिर से ) प्रहार करते हुए लज्जित होना भी उचित है ।।४६।।

टिप्पणी—अर्थात् मुझे आश्चर्य है कि दूसरे द्वारा मारे गये मृग को मारकर लज्जित होना तो दूर आप तो दूसरे का बाण भी अपहृत करना चाहते हैं—यह तो बडी निर्लज्जता की बात है।

सन्ततं निशमयन्त उत्सुका यैः प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ।।४७।।

अन्वयः—सूरयः अस्य यैः सन्ततम् उत्सुकाः निशमयन्तः मुद प्रयान्ति तानि चरितानि हसितेऽपि कीर्तितानि य मानिन व्रीडयन्ति ।।४७।।

अर्थ—विद्वान् लोग हमारे स्वामी किरातपति के जिस उज्ज्वल चरित को उत्कण्ठापूर्वक सुनकर प्रसन्न होते हैं, वे ही चरित यदि परिहास मे भी कहे जाते हैं तो उससे हमारे मनस्वी स्वामी को लज्जा होती है ।।४७।।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि हमारे स्वामी के उज्ज्वल चरित को वडे-वडे विद्वान् लोग भी उत्कठापूर्वक सुनते हैं, और परमानन्दित होते हैं, किन्तु स्वय हमारे स्वामी को अपने मान का इतना ध्यान रहता है कि यदि हास-परिहास मे भी कोई उनके चरित का उल्लेख करता है तो वे सङ्कोच मे पड जाते हैं। सच्चे महापुरुष अपनी कीर्ति सुनना भी नही चाहते ।

अन्यदोषमिव स स्वक गुणं ख्यापयेत्कथमधृष्टताजडः ।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ।।४८।।

अन्वयः—अधृष्टताजडः सः अन्यदोषमिव स्वक गुण कथ ख्यापयेत् तथापि कार्यवत्तया स उच्यते खलु विभिन्नबुधसेतुम् अर्थिता धिक् ।।४८।।

अर्थ—इस प्रकार आत्मप्रशसा से सर्वदा विमुख रहनेवाले हमारे स्वामी

दूसरों के दोष की भाँति अपने गुणों का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं, तथापि कार्य पड़ने पर अपनी भी प्रशंसा की जाती है इसमें दोष नहीं है। किन्तु सज्जन पुरुषों की मर्यादा को भङ्ग करने वाली उस याचना को धिक्कार है, ( जिसके प्रसङ्ग में व्यर्थ ही प्रशंसा करनी पड़ती है ) ।।४८।।

टिप्पणी—किरात के कथन का तात्पर्य यह है कि आप यह न समझें कि मैं किसी याचना के प्रसङ्ग में अपने स्वामी की व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहा हूँ, मैं तो उसे धिक्कार की वस्तु मानता हूँ।

दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा।
नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ।।४९।।

अन्वयः—वाहिनीपतिः शितेन पत्रिणा एनम् आशु न प्रत्यपत्स्यत। यदि असौ मृग. ओजसा त्वयि यद् अकरिष्यत् तत् दुर्वचं अथ तत् मास्म-भूत् ।। ४९ ।।

अर्थ—हमारे स्वामी किरातपति यदि अपने तीक्ष्ण बाण से इस वराह को शीघ्र ही न मार डालते तो यह वन्य जीव अपने भयङ्कर बल से आपके प्रति जो कुछ करता वह अमाङ्गलिक होने के कारण कहना उचित नहीं है। भगवान् करे वैसा अमङ्गल आप का न हो ।।४९।।

टिप्पणी—अर्थात् वह वराह शीघ्र ही आप को समाप्त कर देता।

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम्।
वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम् ।।५०।।

अन्वयः—हरितुरङ्गम् आयुधस्थेयसी अङ्गसंहतिं दधत वेगवत्तरं इम दंष्ट्रिण चमूपतेः ऋते कः नु शरेण हन्तुमर्हति ।।५०।।

अर्थ—इन्द्र के वज्र के समान कठिन अङ्गोंवाले, परमवेगशाली, इस तीक्ष्ण दाढ़ोवाले वराह को हमारे स्वामी किरातपति के अतिरिक्त कौन ऐसा है, जो बाण द्वारा मार सकता है ।।५०।।

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ।।५१।।

अन्वय.—तथा च अय मेदिनीपति. ते सशये उपकारि इप्ट मित्रम्, त विरोध्य सज्जनैकवसति कृतज्ञता मा भवता निरासी ॥५१॥

अर्थ—इस प्रकार से वे हमारे स्वामी किरातपति प्राणसङ्कट के अवसर पर ऐसा उपकार करके आप के मित्र बन गए हैं। उनके साथ विरोध करके एकमात्र सज्जनो मे निवास करने वाली कृतज्ञता को आप निराश्रित न करें ॥५१॥

टिप्पणी—अर्थात् प्राण रक्षा करने वाले ऐसे परम मित्र के साथ यदि आप जैसे सज्जन व्यक्ति विरोधी आचरण करेंगे तो यह बडी अकृतज्ञता होगी। बेचारी कृतज्ञता फिर कहाँ रहेगी ?

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतय ।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीपता मित्रलाभमनु लाभसम्पद. ॥५२॥

*अन्वय —जिगीपता दुर्लभा असुरक्ष्यभूतय अन्तविरसा लाभसम्पद एक-सुकृतेन लभ्य रक्षितार मित्रलाभम् अनु ॥५२॥*

अर्थ—विजयाभिलाषी जनो के लिए मित्रलाभ की अपेक्षा धन-सम्पत्ति का लाभ निकृष्ट वस्तु है। क्योकि ये धन-सम्पत्तियाँ बहुधा बहुत क्लेश उठाने पर ही प्राप्त की जाती हैं, प्राप्त होने पर भी उनकी रक्षा मे न मालूम कितना प्रयत्न करना पडता है, किन्तु तब भी वे नष्ट हो ही जाती हैं। जब कि मित्र-लाभ केवल एक उपकार कर देने से सुलभ हो जाता है, उसकी रक्षा मे कोई कष्ट नही प्रत्युत वह तो स्वय अपनी भी रक्षा करता है, और अन्त मे सुखद परिणाम-दायी होता है ॥५२॥

टिप्पणी—व्यतिरेक अलङ्कार।

चञ्चल वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः ।
भूधरस्थिरमुपेयमागत मावमस्त सुहृद महीपतिम् ॥५३॥

अन्वयः—वसु नितान्त चञ्चल मेदिनीमपि उन्नताः अरातयः हरन्ति भूधरस्थिरम् उपेय आगत महीपति सुहृद मावमस्त ॥५३॥

अर्थ—धन-सम्पत्ति नितात चञ्चल अर्थात् नश्वर हैं, धरती को भी प्रबल शत्रु हर लेते हैं अतएव पर्वत के समान अचल, स्वयमेव समागत हमारे स्वामी किरातपति जैसे सुहृद् को आप अपमानित न करें ।।५३।।

टिप्पणी—उपमा और व्यतिरेकालङ्कार का सङ्कर।

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षव ।
प्राप्स्यते च सकल महीभृता सङ्गतेन तपस फल त्वया ।।५४।।

अन्वय—भवता जेतुमेव तपस्यते मुमुक्षव आयुधानि न दधते । महीभृता सङ्गतेन त्वया सकल तपस फल प्राप्स्यते ।।५४।।

अर्थ—आप अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिए ही तपस्या कर रहे हैं, क्योकि मुक्ति के इच्छुक तपस्वी शस्त्रास्त्र नही धारण करते । तब फिर ऐसी स्थिति मे हमारे स्वामी किरातपति से मैत्री हो जाने पर तो आपकी सारी तपस्या सफल हो जायगी ।।५४।।

वाजिभूमिरिभराजकानन सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिश ।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा केवल न सहते विलघनम् ।।५५।।

अवन्य—वाजिभूमि इभराजकानन भूरिश रत्ननिचयाश्च सन्ति । अस्य काञ्चनेन पत्रिणा किमिव परन्तु केवल विलघन न सहते ।।५५।।

अर्थ—हमारे स्वामी के पास अश्वो के उत्पत्ति स्थान, गजराजो के जङ्गल और रत्नो की खानें विद्यमान हैं । इस एक (मामूली) सुवर्णमय बाण से उनका कोई विशेष प्रयोजन नही सिद्ध होगा किन्तु इसके ग्रहण करने मे उनका यही तात्पर्य है कि वे दूसरोकेद्वारा होनेवाले अपमान को सहन नही करसकते ।।५५।।

टिप्पणी—उदात्त अलङ्कार।

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृति रजस्यपि ।
अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं विभु धन धनायितुम् ।।५६।।

अन्वय-महान् रजस्यपि परें सावलेपम् उपलिप्सिते सति विकृतिम् अभ्युपैति । अर्थितस्तु जीवित धनायितु न समीहते, धन किमु ।।५६।।

अर्थ—हमारे महान स्वामी दूसरे द्वारा गर्वपूर्वक धूल लेने की चेष्टा करने पर भी क्रुद्ध हो उठते हैं जब कि प्रार्थनापूर्वक माँगने पर वह अपना जीवन भी अपने पास रखने की इच्छा नहीं करते अर्थात् अपने प्राण भी दे सकते हैं तो धन की तो बात ही क्या ? ॥५६॥

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वा गुरु यदृच्छयागतम् ।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥५७॥

अन्वय—तत्तदीयविशिखातिसर्जनात् वा राघवप्लवगराजयो: इव यदृच्छया आगत गुरु युक्तम् इतरेतराश्रय प्रेम अस्तु ॥५७॥

अर्थ—इसलिए उनके इस बाण को प्रदान करने से आप का और उनका, रामचन्द्र और सुग्रीव की भाँति दैवयोग से उपस्थित पारस्परिक महान प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जायगा ॥५७॥

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे यस्तपस्विविशिखेषु चादरः ।
सन्ति भूभृति शरा हि नः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिण. ॥५८॥

अन्वय:—त्वम् अनृतम् अभियोक्तु नेष्यसे । य: तपस्विविशिखेषु आदर: । हि न भूभृति परे शरा सन्ति ये वज्रिण: पराक्रमवसूनि ॥५८॥

अर्थ—आप से हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नही कर सकते क्योकि तपस्वियो का बाण लेने मे हमारा आग्रह क्यो होगा । हमारे पर्वत मे सैकड़ों सहस्रो ऐसे बाण हैं, जो देवराज इन्द्र के शौर्य हैं ॥५८॥

टिप्पणी—अर्थात् जो इन्द्र के वज्र से भी अधिक पराक्रम वाले हैं ।

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः ।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥५९॥

अन्वय.—अथ तव मार्गणै. प्रयोजन भूभृतः पतिं किमु न नाथसे । स: त्वद्विध सुहृदम् अर्थिनम् एत्य मेदिनीं विजित्य किम् न यच्छति ॥५९॥

अर्थ—और यदि आपको ऐसे बाण चाहिए तो हमारे स्वामी किरातपति से क्यों नही माँग लेते, वह आप जैसे महानुभाव मित्र के याचना करने पर

क्या इस सम्पूर्ण पृथ्वी को भी जीत कर न दे देंगे—ऐसा नहीं किन्तु अवश्य दे देंगे ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि आप जैसे मित्र के माँगने पर हमारे स्वामी सम्पूर्ण पृथ्वी जीत कर दे सकते हैं तो इस मामूली बाण की क्या बात है ?

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।
सीदतामनुभवन्निवार्थिना वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥६०॥

अन्वय.—तेन सूरि: उपकारिताधन याचित वृथा कर्तुं न इच्छति यत् सीदताम् अर्थिना प्रणयभङ्गवेदनाम् अनुभवन्निव वेद ॥६०॥

अर्थ—हमारे स्वामी परम विद्वान् किरातपति का एकमात्र धन उपकार करना है, वह आपकी प्रार्थना को व्यर्थ नहीं करेंगे। क्योंकि वह क्लेश उठाने वाले याचकों की याचना-भङ्ग-रूपी वेदना का मानो स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ६० ॥

टिप्पणी—अर्थात् वे याचकों की याचना के भङ्ग होने की वेदना को अपनी ही याचना के भङ्ग होने के समान मानते हैं, अतः उनसे आपकी याचना विफल नहीं हो सकती।

शक्तिरर्थपतिषु स्वयग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यत. प्रार्थनाधिकबले विपत्फला ॥६१॥

अन्वय.—अर्थपतिषु शक्ति वा निरत्यय प्रेम स्वयग्रह कारयति । इद कारणद्वय निरस्यत. अधिकबले प्रार्थना विपत्फला ॥६१॥

अर्थ—अधिक पराक्रम एव शक्ति अथवा बिना किसी विघ्न-बाधा का प्रेम—ये दो ही ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा दूसरे की वस्तु को स्वयं ( स्वामी की आज्ञा के बिना ही ) ले लिया जाता है। किन्तु उक्त दोनों साधनों को छोड़कर किसी प्रबल स्वामी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा विपत्ति का कारण बनती है ॥ ६१ ॥

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य चेह भुजवीर्यशालिनः ।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ॥६२॥

अन्वय:—इह तापसेपु जामदग्न्यम् अपहाय अस्त्रवेदम् तत्वतः अधिगम्य भुजवीर्यशालिनः कस्य च आयुध चरितार्थं गीयते ।।६२।।

अर्थ—इस ससार मे तपस्वियो मे एकमात्र परशुराम को छोडकर भली भाँति अस्त्र विद्या को जानते हुए किस बाहुपराक्रमशाली के अस्त्र की महिमा सार्थक रूप से जनता द्वारा गायी जाती है ।।६२।।

टिप्पणी—अर्थात् तपस्या करने वाले मुनियो मे अकेले परशुराम ही हैं जिन्हें अस्त्र विद्या कुछ-कुछ ज्ञात है, तुम्हे तो कोई जानता भी नही अतः हमारे स्वामी जैसे महान् पराक्रमी से वैर ठानना तुम्हारे लिए अच्छा नही है।

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः ।
अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोपमज्ञता ।।६३।।

अन्वय:—त्वया मुनिचापलात् क्षितिपतेः परिग्रहः यत् मृगः अभ्यघानि तत् अयम् अक्षमिष्ट हि प्रमाद्यताम् दोषम् अज्ञता सवृणोति खलु ।।६३।।

अर्थ—आपने ब्राह्मण-सुलभ चञ्चलता मे हमारे स्वामी किरातपति द्वारा स्वीकृत उस वराह को जो मार दिया है, उसे हमारे स्वामी ने क्षमा कर दिया है, क्योकि अविवेक के साथ कार्य करनेवालो के अपराध को उनकी अज्ञता ही ढँक देती है ।। ६३ ।।

टिप्पणी—अर्थात् अज्ञ लोगो के अपराध अपराध नही गिने जाते।

जन्मवेपतपसा विरोधिनी मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम् ।
आपदेत्युभयलोकदूपणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ।।६४।।

अन्वय:—जन्मवेपतपसा विरोधिनीम् अमूम् अपक्रिया पुनः मा कृथाः। हि अपथे वर्तमान दुर्मतिम् उभयलोकदूपणी आपदेति ।।६४।।

अर्थ—उच्च सत्कुल मे जन्म, तपस्वी वेश और तपस्या—इन सब का विरोधी दूसरे का अपकार आप पुनः न करें, क्योकि कुमार्ग पर चलने वाले कुबुद्धि व्यक्ति को दोनो लोको का विनाश करनेवाली विपत्तियाँ घेर लेती हैं ।। ६४ ।।

यष्टुमिच्छसि पितृन्न साम्प्रतं संवृतोऽर्चिचयिषुर्दिवौकसः ।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिख न्यवीविशः ६५।।

अन्वयः—साम्प्रत पितृन् यष्टु नेच्छसि सवृतः दिवौकसः अर्चिचयिषुः अपि न। हे अङ्ग ! पदवी दातुमेव क्षमोऽपि किं मृगे विशिख न्यवीविशिः ।।६५।।

अर्थ—इस समय आप अपने पितरो का श्राद्ध करने के इच्छुक न होंगे, और न देवार्चन के ही इच्छुक होंगे, क्योकि एकान्त स्थान में ही ऐसे स्थल पर यह दोनो कार्य सिद्ध नही हो सकते। हे अङ्ग ! आप को तो उसे वराह को जाने के लिए मार्ग दे देना ही उचित था, फिर उस पर आपने वाण क्यो चलाया ? ।।६५।।

टिप्पणी—अर्थात् आप तपस्वी थे, आपको चाहिये था कि भाग कर उसका मार्ग छोड देते। बिना पितृ और देव कार्य के प्राणिहिंसा करना तपस्वी का धर्म नही है।

सज्जनोऽसि विजहीहि चापल सर्वदा क इव वा सहिप्यते ।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ।।६६।।

अन्वयः—सज्जनोऽसि चापल विजहीहि सर्वदा क इव वा सहिप्यते। अनिभृता गुरूनपि युगान्तवायव. वारिधीनिव क्षोभयन्ति ।।६६।।

अर्थ—आप सज्जन ( दिखाई पडते ) हैं, अतः चचलता छोड दें। सर्वदा आप का इस प्रकार का अपकार कौन सहन करेगा ? बारम्बार अनुचित कार्य करने वाले लोग महान् धैर्यशालियो को भी उसी प्रकार से क्षुब्ध बना देते हैं जैसे प्रलयकाल की वायु समुद्रो को क्षुब्ध कर देती है ।।६६।।

टिप्पणी—उपमा से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

[ आप यह न सोचें की यह किरात हमारा क्या कर सकता है, क्योकि ]

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति मावजीगण' ।
गोपितु भुवमिमा मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः ।।६७।।

अन्वय --अय महीपति अस्त्रवेदवित् पर्वतीय इति मावजीगण मरत्वता इमा भुवम् गोपितुम् अनुनीय शैलवास लम्भित ॥६७॥

अर्थ—यह हमारे स्वामी किरातपति अस्त्र विद्या के ज्ञाता हैं, इन्हें माधारण पहाडी व्यक्ति समझकर तिरस्कृत मत कीजिए । देवराज इन्द्र ने इस वनस्थली की रक्षा के लिए प्रार्थनापूर्वक इन्हें इस पर्वत पर रखा है ॥६७॥

तत्तितिक्षितमिद मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपति ।
वाणमत्रभवते निज दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पद ॥६८॥

अन्वय --तत् मुने इद मया तितिक्षित वच चमूपति अवोचत । अत्र भवते निज वाण दिशन् त्वमपि सवसम्पद आप्नुहि ॥६८॥

अर्थ--मैंने उस तपस्वी के इस अपराध को क्षमा कर दिया है—ऐसी बात हमारे स्वामी किरातपति ने मुझसे कही है । अब आप भी उनके बाण को वापस करके (उनसे मैत्री जोडकर) सम्पूर्ण सम्पत्तियो की प्राप्ति कीजिए ॥६८॥

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणा सम्भवन्ति विरमन्ति चापद ।
इत्यनेकफलभाजि मा स्मभूदर्थिता कथमिवार्यसङ्गमे ॥६९॥

अन्वय --आत्मनीनम उपतिष्ठते । गुणा सम्भवन्ति । आपदश्च विरमन्ति । इति अनेकफलभाजि आयसङ्गमे अर्थिता कथमिव मा स्म भूत् ॥६६॥

अथ—जिसके द्वारा अपना कल्याण होता है, सदाचरणादि अनेक सद्गुण प्राप्त होन हैं, विपत्तियाँ दूर होनी है, इस प्रकार के अनेक सुन्दर फला को देने वाली सज्जना की मित्रता का लोभ क्या न किसी को हो ॥६६॥

टिप्पणी—अर्थात् इन सब गुणा से युक्त सज्जनो की सङ्गति कोई क्यो न करना चाहेगा ।

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वित ।
साहिनीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपति समयसेतुवारित ॥७०॥

अन्वय --तिग्महतिपृतनाभि अन्वित साहिवीचि सिन्धुरिव समयसेतुवारित अयम् अनोकहान्तरे दृश्यताम् ॥७०॥

अर्थ—तीक्ष्ण अस्त्रों से युक्त सर्पयुक्त तरङ्गमालाओं से समन्वित समुद्र के समान उद्धत किन्तु समय-रूप सेतु से निवारित यह हमारे स्वामी किरातपति उन वृक्षों के मध्य में विराजमान हैं, देखें ॥७०॥

टिप्पणी--किरात ने यहाँ पर अर्जुन को अपने हाथों से सङ्केत करके दिखलाया है।

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः
स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन
सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥७१॥

अन्वय —स्थेयान् यः हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीं जयन् अहिपतिस्थवीयः सज्यं धनुः वहति । हे मतिमन् ! अस्य मतिम् अनुकूलय, सख्या अनेन सुखं चिन्तितानि समभियास्यसि ॥७१॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! जो यह अत्यन्त स्थिर, इन्द्रध्वज की लक्ष्मी को पराजित करते हुए, शेषनाग के समान स्थूल चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष धारण किये हुए हैं, ( वही हमारे स्वामी हैं, आप ) उनकी मति को अपने अनुकूल करें। उनके साथ मैत्री करने से बिना क्लेश के ही आप के सब मनोरथ पूरे हो जायेंगे ॥७१॥

टिप्पणी—वसन्ततिलका छन्द ।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥१३॥

# चौदहवाँ सर्ग

तत किरातस्य वचोभिरुद्धतैं पराहत शैल इवार्णवाम्बुभि ।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डव सुदुर्ग्रहान्त करणा हि साधव ॥१॥

अन्वय —तत उद्धतैं किरातस्य वचोभि अर्णवाम्बुभि शैल इव पराहत कुपित अपि पाण्डव धैर्य्यं न जहौ । हि साधव सुदुर्ग्रहान्त करणा ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर समुद्र की जलराशि से अभिहत पर्वत की भाँति किरात की उद्धत बातो से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए। सच है, सत्पुरुषो का हृदय अक्षोभणीय अर्थात् निश्चल होता है ॥१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गित कृती गिरा विस्तरतत्त्वसग्रहे ।
अय प्रमाणीकृतकालसाधन प्रशान्तसरम्भ इवाददे वच ॥२॥

अन्वय —सलेशम् उल्लिङ्गितशात्रवेङ्गित गिरा विस्तरतत्त्वसङ्ग्रहे कृती प्रमाणीकृतकालसाधन अय प्रशान्तसरम्भ इव वच आददे ॥२॥

अर्थ—किरात की युक्तियो से भरी बातो से शत्रु के सम्पूर्ण अभिप्राय को समझकर वाक्यरचना के विस्तार एव सक्षेप मे निपुण अवसर के उपयुक्त वचन बोलने के लिए अर्जुन ने मानो क्षोभरहित होकर यह बात कही ॥२॥

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुति प्रसादन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणा प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥३॥

अन्वय —विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुति द्विषाम् अपि हृदयानि प्रसादयन्ती प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती अकृतपुण्यकर्मणा न प्रवर्तते ॥३॥

अर्थ—स्पष्ट वर्ण रूपी आभरण से युक्त, सुनने मे कानो को सुख देने

वाली, शत्रुओ के हृदय को भी प्रसन्नता से विभोर करने वाली, सहज प्रसाद-गुणयुक्त और गम्भीर पदो से परिपूर्ण, वाणी ( सुन्दरी स्त्री की भाँति ) यथेष्ट पुण्य न करने वालो को नही प्राप्त होती ॥३॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रचुर पुण्य-कर्म करने वाले भाग्यशाली जनो को ही ऐसी वाणी मिलती है। सरस्वती का वाणी के अतिरिक्त एक दूसरा अर्थ स्त्री-रत्न भी है। उस स्थिति मे समसोक्ति अलङ्कार।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥४॥

अन्वय:—ते विपश्चिता सभ्यतमा भवन्ति ये मनोगत वाचि निवेशयन्ति । तेषु अपि उपपन्ननैपुणा. कतिचित् गभीरम् अर्थं प्रकाशता नयन्ति ॥४॥

अर्थ—वे पुरुष विद्वन्मडली के बीच अत्यन्त सभ्य अथवा निपुण कहे जाते हैं, जो अपने सम्पूर्ण मनोगत भावो को वाणी द्वारा प्रकाशित करते हैं। उनमे भी निपुणता प्राप्त कुछ ही होते हैं, जो गूढ अर्थ को स्पष्ट रूप से वाणी द्वारा प्रकट करते हैं ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् ससार मे पहले तो अभिप्राय ज्ञाता ही दुर्लभ होते हैं, उनमे भी वक्ता दुर्लभतर होते हैं और उनमे भी गूढ अर्थो के प्रकाशक तो और भी अधिक दुर्लभ होते हैं और आप मे ये सब गुण वर्तमान हैं, इसलिये आप धन्य हैं। और मैं भी आपकी सब बातो का रहस्य समझता हूँ इसलिए मैं स्वयम् भी उसी प्रकार का हूँ, यह भी अर्जुन के कथन का सङ्केत है।

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥५॥

अन्वय:—गुर्वीम् अभिधेयसम्पद स्तुवन्ति अपरे विपश्चितः उक्तेः विशुद्धिम्। इति प्रतिपूरुष रुचौ स्थितायाम् सर्वमनोरमा गिरः सुदुर्लभा ॥५॥

अर्थ—कुछ विद्वान् लोग वाणी मे अर्थ-सम्पत्ति की प्रशसा करते हैं, किन्तु कुछ विद्वानो का कथन है कि वक्ता का सबसे अधिक प्रशसनीय गुण शब्दशुद्धि है। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी बहुत ही दुर्लभ है जो सब को एक-सी मनोहारिणी मालूम पडती है अथवा जो शब्द और अर्थ दोनो प्रकार से मनोहर होती है ॥५॥

समस्य सम्पादयता गुणैरिमा त्वया समारोपितभार भारतीम् ।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य्य वाग्मिना वनेचरेणापि सताधिरोपित ॥६॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारी वाणी सर्वमनोहर है।

अन्वय—धुर्य्य ! समारोपितभार ! इमा भारतीम् गुणै समस्य प्रगल्भ-सम्पादयता त्वया वनेचरेण सता अपि आत्मा वाग्मिनाम् धुरि अधि-रोपित ॥६॥

अर्थ—हे वनेचर ! तुममे कार्य निर्वाह करने का बहुत बडा गुण है इसी लिए तुम्हारे स्वामी ने तुम पर यह कार्यभार अर्पित किया है। तुमने उक्त वाक्य-गुणो से योजित कर अपनी वाणी को निर्भीक होकर प्रयुक्त किया है। वनवासी होकर भी तुमने योग्य वक्ताओ से भी अपने को आगे बढा लिया है ॥६॥

प्रयुज्य सामाचरित विलोभन भय विभेदाय धिय प्रदर्शितम् ।
तथाभियुक्त च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥७॥

अन्वय—साम प्रयुज्य विलोभनम् आचरित धिय विभेदाय भय प्रदर्शितम् । शिलीमुखार्थिना तथा अभियुक्त यथा इतरत् न्याय्यम् इव अव-भासते ॥७॥

अर्थ—तुमने प्रिय भाषण करके प्रलोभन पैदा किया, बुद्धि को विचलित करने के लिए भय दिखलाया, बाण प्राप्त करने के प्रयत्न और इच्छा से तुमने इस प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है, जो अन्याय से भरी होने पर भी न्याय-युक्त के समान प्रतिभासित हो रही थी ॥७॥

टिप्पणी—इसी से मालूम पडता है कि तुम बडे निपुण वक्ता हो। उपमा अलङ्कार।

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः ।
हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ॥८॥

अन्वयः—सिद्धेः विरोधि इति कर्तुम् उद्यत. सः भूपतिः भवता किं न वारितः । भूतिम् इच्छता सहार्थनाशेन अनुजीविना नृपः हिते नियोज्य. खलु ॥८॥

अर्थ—किन्तु फल-सिद्धि का विरोधी कार्य करने के लिए उद्यत अपने स्वामी को तुमने मना क्यो नही किया । क्योकि अपने कल्याण के इच्छुक एव समान सुख-दुःख भागी सेवक को चाहिये कि वह अपने स्वामी को कल्याण के पथ पर ही अग्रसर करे ॥८॥

टिप्पणी—क्योकि यदि वह स्वामी को अनिष्टकर कार्यों से मना नहीं करता तो स्वामी के साथ द्रोह करने का पातक तो लगेगा ही, अथवा अनिष्ट भी होगा ।

ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमनार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥९॥

अन्वयः—प्रहितस्य पत्त्रिणः प्रणाशः ध्रुवं तस्य शिलोच्चये विमार्गणं नय. अत्र आर्यजनातिलङ्घनम न युक्तम् । हि सता अतिक्रमः अपायम् दिशति ॥९॥

अर्थ—धनुष से फेंके गये बाण का विलोप होना निश्चित है, किंतु उसका पर्वतीय प्रदेश मे ढूंढना तो ( सज्जनो के लिए ) उचित ही है । और इस विषय मे सज्जनो के मार्ग का अतिक्रमण करना (जैसा कि तुम कर रहे हो) अनुचित है, क्योकि सज्जनो का अतिक्रमण अनर्थ का कारण होता है ॥९॥

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता ।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥१०॥

अन्वयः—खाण्डवम् अत्तुम् इच्छता अग्निना मम अतीतसंख्या शिलीमुखाः विहिता. । अमरसायकेषु अपि अनादृतस्य कथ शैलजनाशुगे धृतिः स्थिता ॥१०॥

अर्थ—खांडव नामक इन्द्र के वन को उदरस्थ करने के इच्छुक अग्निदेव ने

मुझे असख्य बाण प्रदान किये थे। अतएव देवता द्वारा प्रदत्त बाण मे भी आदर की भावना न रखने वाले मेरे लिए एक पहाडी व्यक्ति के बाण मे इस प्रकार की आस्था (लालच) किस प्रकार से हो सकती है ॥१०॥

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टित किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ॥
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सता हि वाणी गुणमेव भापते ॥११॥

अन्वय —आर्यचेष्टित प्रमाणीकृत यदि अदोषेण वय किमिति तिरस्कृता हि परिवादगोचरम् अयातपूर्वा सता वाणी गुणम् एव भापते ॥११॥

अर्थ—यदि सज्जनो के चरित्र को ही प्रमाण मानते हो तो फिर दोप के न होने पर भी हमारा तिरस्कार क्यो किया। (अर्थात् तुमने यह अनुचित कार्य किया है—) सच है, जो सज्जनो की वाणी पहले कभी किसी व्यक्ति की निन्दा करने के लिए प्रयुक्त नही हुई रहती वह गुण की ही चर्चा करती है, ( दोप की नही ) ॥११॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि तुम्हारी वाणी सज्जन के विषय मे भी जो मिथ्या दोप का आरोप लगा रही है, उससे यह स्पष्ट है कि सदाचार को तुम प्रमाण नही मानते। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्भृशाधिरूढस्य समञ्जस जनम् ।
द्विधेव कृत्वा हृदय निगूहत स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ॥१२॥

अन्वय —गुणापवादेन तदन्यरोपणात् समञ्जस जनम् भृशाधिरूढस्य नि-त हृदय असाधो स्फुरन् वागसि द्विधा कृत्वा इव विवृणोति ॥१२॥

अर्थ—विद्यमान गुणो को छिपाकर उसके स्थान पर अविद्यमान दोप का रोप कर सज्जन व्यक्ति पर बुरी तरह से आक्रमण करने वाले एव अपने ाय के भावो को छिपाकर रखने वाले व्यक्ति के हृदय को उस दुर्जन का वचन-ी तीक्ष्ण खड्ग ही मानो दो टुकडो मे काटकर प्रकाशित कर देता है ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् दुर्जन जब किसी साधु पुरुष के गुणो को छिपाकर उन : अवगुण का आरोप करना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि उनकी माया

कोई जान न सके तब ऐसे अवसरों पर उनकी वाणी की कटार ही उनके हृदय को काटकर प्रकट कर देती है। वे जो कुछ छिपाकर रखना चाहते हैं, वह उनकी वाणी से ही प्रकट हो जाता है। रूपक अलङ्कार।

वनाश्रया कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणोति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः ॥१३॥

अन्वय—वनाश्रयाः मृगाः कस्य परिग्रहाः? यः तान् प्रसभेन शृणोति ते तस्य अत्र नृपेण मानिता प्रहीयताम्। मानिता च अस्ति श्रियः च न भवन्ति ॥१३॥

अर्थ—वन में निवास करने वाले पशु भला किसके अधीन हैं? जो उन्हें पराक्रमपूर्वक मारता है वे उसी के हैं। अतएव इस शूकर के सम्बन्ध में तुम्हारे राजा को चाहिये कि वह 'इस पर अपना अधिकार है'—यह अभिमान करना छोड़ दें। क्योंकि केवल अभिमान मात्र से सम्पत्ति अपने अधीन नहीं हो जाती ॥१३॥

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ॥१४॥

अन्वय—कस्मैचित् अपि वर्त्म न प्रदीयताम् इति व्रतं महर्षिणा मे विहितम्, अस्मान् जिघांसुः मृगः मया निहतः। हि व्रताभिरक्षा सताम् अलंक्रिया ॥१४॥

अर्थ—किसी को भी अपने आश्रम में प्रवेश मत करने देना—इस प्रकार के व्रत-पालन की आज्ञा महर्षि व्यास ने मुझे दी थी। इसीलिए मुझे मारने की इच्छा से दौड़कर आने वाले इस वराह को मैंने मारा है। व्रत की रक्षा करना सत्पुरुषों के लिए शोभा की वस्तु है ॥१४॥

टिप्पणी—अर्थात् मैंने अपनी रक्षा के लिए इसका वध किया है, अकारण नहीं।

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छता तपः।
कृपेति चेदस्तु मृगः क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः ॥१५॥

अन्वय—स्वहेतुना मृगान् विनिघ्नन् मृगयुः तपः इच्छता कथं कृतोपकारः

चेत् कृपा इति अस्तु मृग क्षणात् क्षत अनेन पूर्वं मया न इति का गति ॥१५॥

अर्थ—अपने स्वार्थ के लिए पशुओं को मारने वाले शिकारी तपस्वियो का भला क्या उपकार कर सकते हैं ? और यदि यह कहते हो कि मेरे स्वामी की कृपा है तो फिर रहने दो, व्यर्थ मे झगडने से क्या लाभ ? पशु को हम दोनो न एक ही क्षण मे मारा है। और यदि तुम यह कहो कि तुम्हारे स्वामी ने पहले मारा है और मैंने बाद मे तो मैं कहूँगा कि इसमे प्रमाण हो क्या है ?॥१५॥

अनायुधे सत्त्वजिघासिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा ।
शरासन विभ्रति सज्यसायक कृतानुकम्प स कथ प्रतीयते ॥१६॥

अन्वय —अनायुधे सत्वजिघासिते मुनौ कृपा इति वृत्ति महताम् अकृत्रिमा सज्यसायकम् शरासनम् बिभ्रति स कथ कृतानुकम्प प्रतीयते ॥१६॥

अर्थ—किसी अस्त्र शस्त्र से विहीन तपस्वी को यदि कोई हिंस्र-जन्तु मारना चाहता है तो उस पर अनुकम्पा करना तो महान् पुरुषो का सहज धर्म है, किंतु धनुष पर डोरी चढाकर बाण सन्धान करने वाले मुझ जैसे तपस्वी पर उन्होंने किस प्रकार से अनुकम्पा की है, यह मैं कैसे मान सकता हूँ ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् असमर्थ और निस्सहाय पर दया करना तो उचित है, किंतु जो स्वय अपनी रक्षा मे समर्थ हो उसको रक्षा के लिए दया का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झित फल च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।
अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपते ॥१७॥

अन्वय —अथो तेन मदर्थम् शर उज्झित तस्य फलम् च प्रतिकायसाधनम् अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते चमूपते अधिका कृतार्थता ननु ॥१७॥

अर्थ—अच्छा मैं पूछता हूँ कि तुम्हारे स्वामी ने मुझे बचाने के लिए ही वह बाण चलाया था तो उनके बाण चलाने का परिणाम यही था न कि इस मेरे शत्रु वराह का नाश हो। तो वह हो ही गया और मैंने उसे अपने अधीन कर लिया है, ऐसी स्थिति में आपके सेनापति को तो और अधिक सफलता हुई न ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् उनके उस एक बाण से पर-रक्षा, शत्रुवध तथा उचित पात्र में प्रतिपादन—ये तीन फल प्राप्त हुए।

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम् ।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः ॥१८॥

अन्वयः—सः कामं भवता याच्यताम् इति यत् आत्थ एतत् अनल्पचेतसः न क्षमं प्रसह्य आहरणैषिणाम् परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः ॥१८॥

अर्थ—तुम जो यह कह रहे हो कि मैं तुम्हारे स्वामी से बाण माँग लूँ तो यह मनस्वी लोगों के लिए उचित नहीं है। क्योंकि जो बलपूर्वक हरण करने के इच्छुक होते हैं, उन्हें याचना-रूपी दीनता से मलिन सम्पत्ति क्यों अच्छी लगने लगी? ॥१८॥

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः ।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ॥१९॥

अन्वयः—तव नृपः अभूतम् आसज्य अलभ्य विरुद्ध ईहितम् बलात् लिप्सते। हि अनयस्य रौद्रता विजानतः अपि मतिः अपाये परिमोहिनी भवति ॥१९॥

अर्थ—तुम्हारे स्वामी मिथ्या अभियोग लगाकर, एक अलभ्य एवं विपरीत फल देने वाली वस्तु को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहते हैं। सच है, अनीति की भयङ्करता से परिचित होकर भी मनुष्य की बुद्धि विनाश के समय विपरीत हो जाती है ॥१९॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते ।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः ॥२०॥

अन्वयः—असिः शरा वर्म उच्चकैः धनुः च ईश्वरेण विविच्य किं न प्रार्थितम्। अथ शक्तिः अस्ति याच्ञया कृतम् एव शक्तिमता स्वयंग्रहः न दूषितः ॥२०॥

अर्थ—तलवार, बाण, कवच या उत्कृष्ट धनुष—इन सब वस्तुओं में से

चुनकर तुम्हारे स्वामी ने कोई वस्तु नही माँगी ? ( मैं इनमे से कोई भी वस्तु उन्हें दे सकता हूँ । ) और यदि उनके पास शक्ति है तो फिर याचना की जरूरत ही क्या है क्योंकि शक्तिशाली लोग यदि किसी की कोई वस्तु स्वय लेते हैं तो उसमे उन्हे दोष नही होता ॥२०॥

सखा स युक्त कथित कथ त्वया यदृच्छयासूयति यम्नपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धय प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधव ॥२१॥

अन्वय—स कथ त्वया युक्त सखा कथित य तपस्यते यदृच्छया असूयति । हि गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धय सता प्रकृत्यमित्रा ॥२१॥

अर्थ—तुम अपने स्वामी को मेरे लिए योग्य मित्र कैसे बतला रहे हो, क्योंकि जो तपस्वी जनो से भी अपने आप ही ईर्ष्या करता है, ( वह अच्छा मित्र नही हो सकता । ) क्योंकि गुण एकत्र करने के विरोधी असज्जन लोग सज्जनो के सहज वैरी होते हैं ॥२१॥

वय क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिता क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिद ।
सहापकृष्टैर्महता न सङ्गत भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिन ॥२२॥

*अन्वय—वर्णाश्रमरक्षणोचिता वय क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिद क्व अपकृष्टै सह महता सङ्गत न । दन्तिन गोमायुसखा न भवन्ति ॥२२॥*

अर्थ—कहाँ वर्ण एव आश्रम धर्म की मर्यादा की रक्षा मे तत्पर हम, और कहाँ जाति विहीन, पशुओ को मारकर जीविका चलाने वाले हिंसक तुम्हारे स्वामी ? उक्त रीति से जाति एव वृत्ति से नीच व्यक्ति के साथ हमारी मैत्री उचित नही है । हाथी सियारो के तो मित्र नही होते ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नताना न विहन्ति धीरताम् ।
समानवीर्यान्वयपौरुषेपु य करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥२३॥

अन्वय—अज्ञताजड पर अवजानाति यत् तत् उन्नताना धीरता न विहन्ति समानवीर्यान्वयपौरुषेषु य अतिक्रान्ति करोति असौ तिरस्क्रिया ॥२३॥

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख जो सज्जनो का अपमान करता है, उससे महान लोग अधीर नही होते। किन्तु समान पराक्रम, वश और पौरुष वालो मे से यदि कोई अतिक्रमण करता है तो वही उनका तिरस्कार होता है ॥२३॥

यदा विगृह्णाति हत तदा यश करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणा ।
स्थिति समीक्ष्योभयथा परीक्षक करोत्यवज्ञोपहत पृथग्जनम् ॥२४॥

अन्वय—यदा विगृह्णाति तदा यश हत अथ मैत्री करोति गुणा दूषिता इति उभयथा स्थिति समीक्ष्य परीक्षक पृथग्जनम् अवज्ञोपहत करोति ॥२४॥

अर्थ—सज्जन लोग जब नीच लोगो के साथ वैर-विरोध करते हैं तो उससे उनकी कीर्ति नष्ट होती है, और यदि मित्रता करते हैं तो उससे उनके गुण दूषित होते हैं। इस प्रकार दोनो ही तरह से अपनी मर्यादा की हानि समझ कर विचारवान लोग नीच व्यक्ति की अवज्ञा के साथ उपेक्षा ही करते हैं ॥२४॥

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम् ।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गति शिरोमणि दृष्टिविषाज्जिघृक्षत ॥२५॥

अन्वय—अनेन हेतुना मया मृगान् हन्तु विरुद्ध आक्षेपवचस्तितिक्षितम् । अथ शरार्थम् एष्यति दृष्टिविषात् शिरोमणि जिघृक्षत गति लप्स्यते ॥२५॥

अर्थ—इसी कारण से मैंने पशुओ के हत्यारे तुम्हारे स्वामी किरात की कठोर एव आक्षेपभरी बातें सहन की हैं। और यदि इसके बाद भी वह बाण के लिए आना चाहेगे तो दृष्टिविष नामक भयङ्कर सर्प से मणि ग्रहण करने वाले की जो दुर्गति होती है, उसी को वह भी प्राप्त करेंगे ॥२५॥

इतीरिताकूलमनीलवाजिन जयाय दूत प्रतितर्ज्य तेजसा ।
ययौ समीप ध्वजिनीमुपेयुष प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुष ॥२६॥

अन्वय—इति ईरिताकूतम अनीलवाजिनम् दूत जयाय तेजसा प्रतितर्ज्य ध्वजिनीम उपेयुष प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुष समीप ययौ ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार वह दूत अपना अभिप्राय प्रकट करने वाले अर्जुन को अपने तेज से धमकाकर विजय प्राप्ति के लिए सेना लेकर उपस्थित प्रसन्नस्वरूप त्रिलोचन के पास पहुँच गया ।।२६।।

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्रादवती महाचमू. ।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिवीचिसहति ।।२७।।

अन्वय —तत पताकिनीपते· अपवादेन निर्ह्रादवतीः महाचमूः युगान्तवाताभिहता अम्भोनिधिवीचिसहतिः निनाद कुर्वती इव चचाल ।।२७।।

अथ—तदनन्तर सेनापति के आदेश से भयङ्कर शब्द करने वाली वह किरात सेना प्रलयकालिक झंझावात से उठी हुई समुद्र की लहरों के समान गर्जन करती हुई आगे बढी ।।२७।।

रणाय जैत्र प्रदिशन्निव त्वरा तरङ्गितालम्बितकेतुसन्तति ।
पुरो वलाना सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभि· समीरण ।।२८।।

अन्वय —जैत्र तरङ्गितालम्बितकेतुसन्तति· सघनाम्बुशीकर· सुरभि· समीरण· रणाय त्वरा प्रदिशन् इव वलाना पुरः शनैः प्रतस्थे ।।२८।।

अर्थ—उस अवसर पर अनुकूल एव सुगन्धिपूर्ण वायु जल की घनी बूंदों को साथ लेकर सेना की पताकाओ के समूह को फडफडाती हुई मानो अर्जुन और किरातपति को युद्ध करने मे जल्दी की प्रेरणा देती हुई उस सेना के आगे-आगे धीरे-धीरे चल पडी ।।२८।।

टिप्पणी—अनुकूल वायु का बहना विजय का सूचक था ।

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छित शरासनज्यातलवारणध्वनि· ।
असम्भवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिश· ।।२९।।

अन्वय —जयारवक्ष्वेडितनादमूर्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः भूधरराजकुक्षिषु असम्भवन् गा प्रकम्पयन् दिशः अवतस्तरे ।।२९।।

अर्थ—बन्दी तथा मागधो के जय-जयकार एव वीरों के सिंहनाद से व द्धत होकर धनुष की डोरी की टकार और ढाल की प्रचड ध्वनियाँ पर्वतराज हिमा-

लय की कन्दराओं मे न समाकर धरती को कँपाती हुई सभी दिशाओ मे फैल गयी ॥२६॥

निशातरौद्रेषु विकासता गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम् ।
वनेसदां हेतुषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ॥३०॥

अन्वय—निशातरौद्रेषु वनेसदा हेतिषु भिन्नविग्रहैः विकासता गतैः रश्मिमतः मरीचिभिः ककुभा अन्तर प्रदीपयद्भिः इव विपुस्फुरे ॥३०॥

अर्थ—तीक्ष्ण होने के कारण अत्यन्त भयङ्कर उन किरातो के शस्त्रो पर संक्रान्त होकर अत्यधिक विकास को प्राप्त अंशुमाली सूर्य की किरणें दिशाओ के अन्तराल को मानो प्रज्वलित-सी करती हुई सुशोभित होने लगी ॥३०॥

उदूढवक्ष स्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारित चापमण्डलः ।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गणानामुपरीव मध्यगः ॥३१॥

अन्वय.—उदूढवक्ष.स्थगितैकदिङ्मुखः विकृष्टविस्फारितचापमडलः विभुः आयत पक्षद्वय वितत्य गणाना मध्यगः उपरि इव बभौ ॥३१॥

अर्थ—अपने विशाल वक्षस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को आच्छादित करते हुए तथा प्रत्यञ्चा के आकर्पण से धनुर्मण्डल को भयङ्कर शब्दो से युक्त करते हुए भगवान् शङ्कर ने अपने प्रभाव से अपने दोनो ओर की पार्श्व भूमियो को व्याप्त कर लिया । प्रमथ गणो के बीच मे स्थित होते हुए भी वह उस समय सर्वोपरि स्थित के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३१॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः ।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ वन निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ॥३२॥

अन्वयः—सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैः जवात् अहंपूर्विकया यियासुभिः गणैः अविच्छेदनिरुद्धम् आकुलाकुल वन निरुच्छ्वासम् इव आबभौ ॥३२॥

अर्थ—सुगम अथवा दुर्गम—दोनो ही प्रकार की भूमि पर एक समान चलने वाले, वेग के साथ, मैं पहले चलूं, मैं पहले चलूं, इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा से भरे हुए आक्रमणकारी प्रमथ गणो से वह वन निरन्तर अवरुद्ध होकर इस प्रकार से अत्यन्त आकुल हो गया मानो उसका दम घुट-सा रहा हो ॥३२॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नुवानाः सहसातिरिक्तताम्।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥३३॥

अन्वयः—किरातसैन्यैः तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः भुवः सहसातिरिक्तताम् समश्नुवानाः अपिधाय रेचिता क्षण निम्नतया भेजिरे इव ॥३३॥

अर्थ—किरातवाहिनी से उस पर्वतीय भूमि के गड्ढे, लताकुञ्ज और तट-प्रदेश सब व्याप्त हो गये थे। वह शीघ्र ही अतिरिक्तता को प्राप्त हो जाती थी अर्थात् उभरी-सी दिखाई पडने लगती थी, किन्तु फिर तुरन्त ही सेना के आगे बढ जाने पर जब वह रिक्त हो जाती थी तब मानो गभीर होकर नीची दिखलाई पडने लगती थी ॥३३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

पृथूरुपर्यस्तवृहल्लतातति‍र्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना।
गणाधिपानापरित प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ॥३४॥

अन्वयः—पृथूरुपर्यस्तवृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचंदना परितः प्रसारिणी गणाधिपाना संहतिः वनानि अवाञ्चि इव चकार ॥३४॥

अर्थ—अपनी विशाल जङ्घाओ से लताओं के गहन जालो को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई तथा अपने वेग की वायु से शाल एव चन्दन के वृक्षो को झकझोरती हुई, चारो ओर फैली हुई प्रमथो की वह सेना मानो सम्पूर्ण वन प्रदेश को अधोमुख-सा करने लगी थी ॥३४॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

[नीचे के आठ श्लोको मे अर्जुन की युद्ध की तैयारी का वर्णन है—]

तत सदर्प प्रतनु तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम्।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृता दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥३५॥

अनादरोपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम्।
शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ॥३६॥

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानपायिनि ।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥३७॥
उपेयुषी विभ्रतमन्तकद्युति वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिण ।
पुरः समावेशितसत्पशु द्विजैः पति पशूनामिव हूतमध्वरे ॥३८॥
निजेन नीत विजितान्यगौरव गभीरता धैर्यगुणेन भूयसा ।
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥३९॥
महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।
समुज्जिहीर्षुं जगती महाभरा महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥४०॥
हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः ।
मनुष्यभावे पुरुष पुरातन स्थित जलादर्श इवांशुमालिनम् ॥४१॥
गुरुक्रियारम्भफलैरलकृत गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः ।
गणाः समासेदुरनीलवाजिन तपात्यये तोयघना घना इव ॥४२॥

अन्वयः—तत. सदर्प तपस्यया प्रतनु मदस्त्रुतिक्षामम् एकवारणम् इव भूभृता निधनाय परिज्वलतम् आशाः दहन्तम् जातवेदसम् इव । अनादरोपात्तधृतै-कसायकम् अनुकूले सुहृदि इव जये सस्पृहम् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ शनैः नयने निवेशयन्तम् । आपत्प्रतिकारकारणे अनपायिनि शरासने धैर्ये इव निषण्ण प्रकृतौ स्थितम् अपि अलङ्घनीय निवातनिष्कम्पम् अपगापतिम् इव । अदूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः वधात् उपेयुषी अन्तकद्युति विभ्रन्तम् द्विजैः अध्वरे हूतम् पुरः समावेशितसत्पशु पशूनाम् पतिम् इव । निजेन भूयसा धैर्यगुणेन विजितान्यगौरवं तथा गभीरता नीतम् घनोरुवीरुधा वनोदयेन समन्धकारीकृतम् उत्तमाचलम् इव । महर्षभस्कंधम् अनूनकधरम् बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा महाभरा जगती समुज्जि-हीर्षुं महतः अर्णवात् महावराहम् इव । हरिन्मणिश्यामम् उदग्रविग्रहम् देहिनः परिभूय प्रकाशमान जलादर्शे अशुमालिनम् इव मनुष्यभावे स्थित पुरातन पुरुषम् । गुरुक्रियारम्भफलैः अलङ्कृत जगत्प्रमाथिन. प्रतापस्य गति अनीलवाजिन गणाः तपात्यये तोयघनाः घना इव समासेदुः ॥३५—४२॥

अर्थ—तदनन्तर स्वाभिमान से भरे हुए, कठोर तपस्या से दुर्बल होने के

कारण मदजल के क्षरण से दुर्बल एकाकी गजराज की भाँति एव अपने शत्रु राजाओ के विनाश के लिए परम तेज से युक्त होने के कारण दिशाओ को जलाते हुये अग्नि के समान ( अर्जुन के समीप वे प्रमथ गण पहुँचे । आगे के सभी विशेषण अर्जुन के लिए ही आए हैं— ) अर्जुन ने बडी उपेक्षा से अपने तरकस से केवल एक बाण निकाल कर हाथ मे लिया था, अनुकूल मित्र की भाँति अपनी विजय मे उन्हे अडिग विश्वास था, बाण के न वापस करने से प्रतिकार के लिए क्षुब्ध उस सैन्य समुद्र की ओर उन्होंने धीरे से (उपेक्षा के साथ) अपनी आँखें फेरी । उन्होने आपत्तियो को दूर करने मे एक मात्र साधनभूत अपने सुदृढ गाडीव धनुष का अपने सुदृढ धैर्य के समान सहज भाव से अवलम्बन लिया । यद्यपि वह अपनी सहज स्थिति मे थे तथापि अलङ्घनीय एव वायु के अभाव से निष्कम्प समुद्र के समान दिखाई पड रहे थे । अपने से थोडी ही दूर पर गिरे हुए वराह के वध के कारण वह अन्तक अर्थात् मृत्यु के समान भीषण कान्ति धारण कर रहे थे, उस समय उनकी शोभा यज्ञादि मे ब्राह्मणो द्वारा आमन्त्रित साक्षात् महाकाल रुद्र के समान थी, जिनके समक्ष यज्ञीय पशु पडा हो । अपने महान् धैर्य रूपी गुण से अन्य लोगो के गौरव को जीतकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गए थे । इसीलिए उस समय वह अत्यन्त सघन एव चारो ओर विस्तृत लता-वितानो से व्याप्त एक नूतन वन के प्रादुर्भाव के कारण चारो ओर से अधकाराच्छन्न होकर दुर्गम महान् पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे । उनके विशाल स्कध महान् वृषभ के समान थे । उनकी ग्रीवा अत्यन्त स्थूल थी । उनका वक्षस्थल विशाल पत्थर की चट्टान के समान कठोर था । इस प्रकार से अत्यन्त भार से युक्त इस पृथ्वी का उद्धार करने की इच्छा से वह उस क्षण महान् समुद्र मे विराजमान महावराह के समान दिखाई पड रहे थे । उनके शरीर की आभा मरकतमणि के समान श्यामल थी, उनकी उदार मूर्ति समस्त प्राणियो को तिरस्कृत कर के अत्यन्त प्रकाशमान थी । जल रूप दर्पण मे चमकते हुए अशुमाली के समान मनुष्य योनि मे स्थित वह बदरीवन निवासी पुराण पुरुष नारायण के सहचर नर नामक देव अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे । वे अपनी सुकृति के महान् फलो से विभूषित थे, विश्वविजयी तेज के आश्रय थे । ऐसे पूर्वोक्त

विशेषणों से युक्त महाबली अर्जुन के समीप वे (किरात वेशधारी) शिव के प्रमथ गण इस प्रकार से पहुँचे जिस प्रकार से ग्रीष्म के अन्त मे वर्षाकालिक मेघ गण पर्वत के समीप पहुँचते हैं ॥३५-४२॥

टिप्पणी—प्रथम श्लोक मे उपमा अलङ्कार है, द्वितीय मे स्वभावोक्ति है, छठे श्लोक मे उपमा अलङ्कार है। आठवें मे भी उपमा अलङ्कार है।

यथास्वमाशंसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे ।
ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढता महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥४३॥

अन्वयः—पुरा यथास्वम् आशसितविक्रमा. परे मुनिप्रभावक्षततेजसः क्षणात् अप्रतिपत्तिमूढता ययुः। महानुभावः पौरुषम् प्रतिहन्ति ॥४३॥

अर्थ—पहले तो प्रत्येक प्रमथ सैनिक को यह विश्वास था कि मैं पहुँचते ही अर्जुन को जीत लूंगा किन्तु बाद मे उस तपस्वी के प्रभाव से उनका तेज नष्ट हो गया। वे क्षण भर मे ही किंकर्त्तव्यविमूढ हो गए। सच है, अत्यन्त प्रतापी मनुष्य दूसरो की चेष्टाओ को व्यर्थ बना देता है ॥४३॥

ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः ।
महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ॥४५॥

अन्वयः—ततः अपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः तैः तत्र समम् एव प्रजह्रे—सहायसाध्याः सिद्धयः महोदयानाम् अपि सङ्घवृत्तिता प्रदिशति ॥४४॥

अर्थ—तदनन्तर वे प्रमथगण परस्पर एक दूसरे की सहायता पाकर दृढ़ बल हो एक साथ ही अर्जुन पर प्रहार करने लगे। कार्य की सिद्धियाँ सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अतः वे महान् लोगों को भी सघ-वृत्ति का आश्रय लेने की प्रेरणा देती हैं ॥४४॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिता. सम समुत्पेतुरुपात्तरंहसः ।
महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः ॥४५॥

अन्वय—उरुचापनोदिताः उपात्तरहसः प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः महावनात् उन्मनसः खगाः इव किरातसैन्यात् सम समुत्पेतुः ॥४५॥

अर्थ—प्रमथो के विशाल धनुषो से चलाये गये वेगशाली बाणवृन्द दोनो पखो से सरसर ध्वनि करते हुए किरातो की सेना से इस प्रकार से एक साथ ही चल पडे जैसे किसी महावन से कही अन्यत्र जाने के इच्छुक पक्षियों के समूह चल पडते हैं ॥४५॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृतः प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु ।
धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः ॥४६॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

अन्वय.—गभीररन्ध्रेषु महीभृत. सानुषु प्रतिस्वनैः भृश उन्नमितेन जवात् उपेयुषा धनुर्निनादेन दिश. विभिद्यमानः इव दध्वनुः ॥४६॥

अर्थ—अत्यन्त गम्भीर गुफाओ वाले पर्वत के शिखरो की प्रतिध्वनि से अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त, वेग से छूटते हुए धनुष के टकारो से दिशाएँ मानो विदीर्ण होती हुई गभीर ध्वनि करने लगी ॥४६॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहा तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा ।
महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः ॥४७॥

*अन्वय.—भूरुहा गहनानि विधूनयती तिरोहितोपान्तनभोदिगतरा गणमार्गणावलिः अनिलेरिता महीयसी वृष्टि इव रव वितेने ॥४७॥*

अर्थ—वृक्षो के वनों को कँपाती हुई एव चारो ओर से आकाश और दिशाओ को आच्छादित करती हुई प्रमथगणों की वे बाणपक्तियाँ वायु से प्रेरित मूसलाधार वृष्टि से समान घनघोर शब्द करने लगी ॥४७॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः ।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥४८॥

अन्वय.—ऋतूनाम् त्रयी अनिलाशिनः सतः रणाय प्रहृष्यत जिष्णोः वपुषि पोषं प्रयाति शिथिलेन वर्मणा विदुषेव सत्वर घनत्वम् ईये ॥४८॥

अर्थ—छ: महीने से केवल वायु का आहार करने के कारण दुर्बलाङ्ग अर्जुन का शरीर जब रणोत्साह उत्पन्न होने पर पुष्ट हो गया तब पहले ढीला पड़ने

वाला उनका कवच भी मानो उनकी इच्छा को जानते हुए शीघ्र ही सघन (दृढ़) हो उठा ॥४८॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषत ।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥४९॥

अन्वय —रोदसी समन्तत वितत्य पतत्सु शस्त्रेषु धनु दुधूषत तस्य भीषणा विनिपातशंसिनी दृष्टि उल्का इव बलेषु सरोष पपात ॥४९॥

अर्थ—पृथ्वी और आकाशमण्डल को चारो ओर से व्याप्त कर जब प्रमथो के बाण समूह चलने लगे तब अपने गाण्डीव नामक धनुष को प्रकम्पित करने के इच्छुक अर्जुन ने अपनी अत्यन्त भयकर, विनाश की सूचना देने वाली उल्का के समान दृष्टि प्रमथ सैनिको पर डाली ॥४९॥

दिश समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभा रवेराकुलयन्निवानिलम् ।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुण क्षितिं सशैला चलयन्निवेषुभि ॥५०॥

अन्वय —क्षयकालदारुण मुनि इषुभि दिश समूहन् इव रवे प्रभा विक्षिपन् इव अनिलम् आकुलयन् इव सशैला क्षिति चलयन् इव चचाल ॥५०॥

अर्थ—प्रलय काल के समान भयङ्कर तपस्वी अर्जुन (उस समय) अपने बाणों से मानो दिशाओ को एकत्र करते हुए, सूर्य की किरणो को नीचे फेंकते हुए, वायु को व्याकुल करते हुए एव पर्वतो समेत सम्पूर्ण धरती को विचलित करते हुए से चलाने लगे ॥५०॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैं ।
स निर्जघानायुधमन्तरा शरैं क्रियाफल काल इवातिपातित ॥५१॥

अन्वय —आशसितशत्रुनिर्जयै वनेचरै एकावसर विमुक्तम् अनेकम् आयुधम् स क्रियाफलम् अतिपाति काल इव अतरा शरैं निर्जघान ॥५१॥

अर्थ—शत्रु को जीतने के आकाक्षी किरातो ने एक साथ ही जिन हथियारो को अर्जुन के ऊपर छोड़ा था उन्हे अर्जुन ने बीच ही मे इस प्रकार से

अपने वाणो से काट डाला जिस प्रकार से बिताया हुआ काल क्रिया के फल को नष्ट कर देता है ॥५१॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से उपयुक्त अवसर विता देने से क्रिया फल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार से किरातो के हथियारो को अर्जुन ने अपने वाणो से बीच ही मे काट डाला । उपमा अलङ्कार ।

गतै परेषामविभावनीयता निवारयद्भिर्विपद विदूरगै ।
भृशंवभूवोपचितो वृहत्फलै शरैरुपायैरिव पाडुनन्दन ॥५२॥

अन्वय —पाडुनन्दन परेषा अविभावनीयता गतै विपद निवारयद्भि विदूरगै वृहत्फलैः शरै. उपायैः इव भृश उपचित बभूव ॥५२॥

अर्थ—पाडुपुत्र अर्जुन दूसरो द्वारा न देखे जा मकने वाले विपत्तियो को दूर करनेवाले, दूरतक जानेवाले, विशाल फलो से युक्त अपने वाणो द्वारा (दूसरो को न दिखाई पडनेवाले, विपत्तियो का प्रतीकार करने मे समर्थ, दूरगामी, तथा सुदर एव विपुल परिणामदायी) साम-दामादि उपायो के समान अत्यन्त समृद्ध हो गये ॥५२॥

टिप्पणी—श्लेष अलङ्कार । किन्ही-किन्ही के मत से उपमा अलङ्कार ।

दिव पृथिव्या ककुभा नु मण्डलात्पतन्ति विम्वादुत तिग्मतेजस. ।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुने शरा शरीरादिति तेऽभिमेनिरे ॥५३॥

अन्वय —अथ शरा. दिवः पृथिव्या ककुभा मडलात् नु उत तिग्मतेजसः विम्बात् सकृद्विकृष्टात् कार्मुकात् मुने शरीरात् पतति इति ते अभिमेनिरे ॥५३॥

अर्थ—तदनतर अर्जुन के उन वाणो को देखकर उस समय प्रमथगणो ने यह समझा कि ये शरसमूह मानो आकाशमडल से, या पृथ्वीमडल से, या दिङ्-मडल से, अथवा सूर्यमण्डल से, अथवा एक बार खीचे गए इस तपस्वी के धनुष मे, अथवा इसके शरीर से—जाने कहाँ से इस प्रकार निकल रहे हैं ॥५३॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि ।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥५४॥

अन्वयः—मर्मविदारणैः अपि गणाधिपानां परासुताम् अविधाय निर्गतैः तस्य पत्रिभिः कृतापराधैः इव अधोमुखैः जवात् हिमवान् अतीये ॥५४॥

अर्थ—मर्मस्थलों को विदीर्ण कर के भी प्रमथगणों का प्राण-नाश न करके उनके शरीर से बाहर निकले हुए अर्जुन के शरसमूह मानों अपराधी की भाँति नीचे मुख किए हुए बड़े वेग के साथ हिमालय में प्रविष्ट हो गये ॥५४॥

टिप्पणी—प्रमथगण तो अमर थे अतः उनका प्राण-हरण करना अर्जुन के अमोघ बाणों से भी संभव नहीं था। अतः अपने उद्देश्य में असफल उन बाणों को लज्जित होकर शिर नीचा करके कहीं छिप जाना ही उचित था। उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः ॥५५॥

अवन्यः—प्रथमे शिलीमुखाः द्विषां देहावरणानि विभिद्य याः क्षतीः चक्रिरे तासु पुनः मुनेः विशिखैः न पेते । हि अरुन्तुदत्वं महतां अगोचरः ॥५५॥

अर्थ—अर्जुन के प्रथम बार छोड़े गये बाणों ने शत्रुओं के कवचों का भेदन कर उनके शरीरों पर जो घाव किए थे, उन पर दूसरी बार छोड़े गये उनके बाणों ने पुनः प्रहार नहीं किया। सच है, महान लोग सताए हुए लोगों को नहीं सताते ॥५५॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार।

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः ।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम् ॥५६॥

अन्वयः—यावदराति समुज्झिता चापात् सहैव निर्यती मुनिबाणसंहतिः उमापतेः चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिम् इव सङ्कोचं निनाय ॥५६॥

अर्थ—संख्या में जितने शत्रु थे, उतने ही छोड़े गए अर्जुन के बाणों ने गाण्डीव से एक साथ निकलते हुए भगवान शङ्कर की उस किरात-सेना को इस प्रकार से संकुचित कर दिया जिस प्रकार से चन्द्रमा की किरणें पङ्कजों की पंक्तियों को संकुचित कर देती हैं ॥५६॥

अजिह्ममोजिष्ठममोघमक्लम क्रियासु वह्वीपु पृथड्नियोजितम् ।
प्रसेहिरे सादयितु न सादिता शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विपः ।।५७।।

अन्वय —अजिह्मम् ओजिष्ठम् अमोघम् अक्लमम् वह्वीषु क्रियासु पृथड् नियोजितम् अस्य शरौघम् उत्साहम् इव सादिता विद्विप सादयितु न प्रसेहिरे ।।५७।।

अर्थ—स्वरूप तथा गति मे सीधे, तेजस्वी, व्यर्थ न होने वाले, निरतर कार्यरत रहने पर भी न थकने वाले, मारने, काटने, गिराने आदि भिन्न भिन्न व्यापारो मे पृथक्-पृथक् प्रयुक्त अर्जुन के बाणो का, उनके ( सरल, सीधे कार्यों मे प्रयुक्त होने वाले, ओजस्वी, अव्यर्थ तथा निरतर एक रूप मे स्थिर रहने वाले भिन्न भिन्न कार्यों मे भिन्न भिन्न रूप से ) उत्साह के समान ही वे घायल शत्रु प्रतीकार करने मे असमर्थ रहे ।।५७।।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन के उत्साह के समान ही उनके बाणो की वृष्टि भी दुर्धर्प थी ।

शिवध्वजिन्य प्रतियोधमग्रत स्फुरन्तमुग्रेपुमयूखमालिनम् ।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ।।५८।।

अन्वय —अनेकदेशगा. शिवध्वजिन्यः उग्रेपुमयूखमालिनम् एकदेशस्थ तम् अर्कं प्रजा इव युगपत् प्रयोधम् अग्रत स्फुरन्तम् निदध्युः ।।५८।।

अर्थ—अनेक स्थलो पर स्थित शिव की सेनाओ ने सूर्य की किरणो के समान प्रचड बाण समूह की वृष्टि करने वाले एक ही स्थान पर स्थित अर्जुन को उसी प्रकार से प्रत्येक योद्धा के सामने फडकते हुए देखा जिस प्रकार से अनेक स्थलो पर स्थित लोग अपने-अपने आगे ही किरण जाल से प्रदीप्त सूर्य को देखते हैं ।।५८।।

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

मुनेः शरौघेण तदुग्ररहसा बल प्रकोपादिव विष्वगायता ।
विधूनित भ्रान्तिमियाय सङ्गिनी महानिलेनेव निदाघज रज ।।५९।।

अन्वय —प्रकोपात् इव विष्वक् आयता उग्ररहसा मुनेः शरौघेण महानिलेन निदाघज रजः इव विधूनित तत् सङ्गिनीं भ्रान्तिम् इयाय ।।५९।।

अर्थ—अत्यन्त क्रोध से मानो चारो ओर से आते हुए, तीव्र वेगयुक्त अर्जुन के बाणसमूह से आहत शिव की वह सेना इस प्रकार से चक्कर काटने लगी जिस प्रकार से अत्यन्त वेगशाली प्रचड झझावात से ग्रीष्म ऋतु की धूल विकम्पित होकर चक्कर काटने लगती है ॥५६॥

[अर्जुन के इस प्रकार के रणकौशल को देखकर किरात-सेना अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगी—]

तपोवलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषूनिरस्यति ।
ममुष्य मायाविहत निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥६०॥

अन्वय.—एष. तपोवलेन भूयसीः अदृश्याः तनूः विधाय इषून् निरस्यति स्वित् अमुष्य मायाविहित स्वम् आयुधम् प्रतीपम् आगत्य न. निहन्ति किमु ॥६०॥

अर्थ—यह तपस्वी अपने तबोवल से अनेक अदृश्य शरीर धारण करके इस प्रकार से बाणसमूह छोड रहा है अथवा इसकी माया के प्रभाव से हम लोगो के ही बाण प्रतिकूल होकर हमारे ऊपर आकर गिर रहे हैं ? क्या बात है (कुछ समझ मे नही आ रही है । ) ? ॥६०॥

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवता ।
कथ न्वमी सन्ततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥६१॥

अन्वय —अस्य मुनेः गुणैः हृताः भयेन वा देवताः तिरोहिताः प्रहरन्ति स्वित् अस्य अमी सायकाः जलधेः ऊर्मयः इव कथम् नु सन्ततम् अनेके भवन्ति ॥६१॥

अर्थ—कहीं इस तपस्वी के शाति आदि गुणो के वशीभूत होकर या इससे भयभीत होकर देवता लोग ही तो प्रच्छन्न रूप मे हम लोगो पर प्रहार नही कर रहे हैं ? क्योकि यदि ऐसा न होता तो इस तपस्वी के ये बाणसमूह समुद्र की तरङ्गमाला के समान निरतर असख्य होते क्यो जा रहे हैं ? ॥६१॥

जयेन कच्चिद्विरमेदय रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।
तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥६२॥

अन्वय —क्वचित् अय रणात् जयेन विरमेत् अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् इति प्रतर्काकुलिता नृपसूनुमार्गणैं कीर्णा पताकिनी तताप ॥६२॥

अर्थ—यह तपस्वी हम लोगो को जीतकर भी रण से विरत होगा या नही ? चराचर जगत का कल्याण होगा या नही ?—इस प्रकार के वितर्कों मे उलझी हुई राजपुत्र अर्जुन के बाणो से विदीर्ण किरात सेना सताप का अनुभव करती रही ॥६२॥

अमर्पिणा कृत्यमिव क्षमाश्रय मदोद्धतेनेव हित प्रिय वच ।
वलीयसा तद्विधिनेव पौरुप वल निरस्त न रराज जिष्णुना ॥६३॥

अन्वय —अमर्पिणा क्षमाश्रय कृत्यम् इव मदोद्धतेन हित प्रिय वच. निरस्तम् इव वलीयसा विधिना पौरुषम् इव जिष्णुना बल न रराज ॥६३॥

अर्थ—क्रोधी पुरुप के द्वारा जिस प्रकार से क्षमासाध्य कार्य निष्फल हो जाता है, मदोद्धत गर्वीले पुरुष द्वारा जिस प्रकार हितकर और प्रिय वचन व्यर्थ हो जाता है और किया गया पुरुषार्थ जिस प्रकार से प्रवल दैव की प्रेरणा से व्यथ हो जाता है उसी प्रकार से अर्जुन द्वारा पराजित वह किरात-सेना निस्तेज और निरुद्यम हो गयी ॥६३॥

प्रतिदिश प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसहतितापितमूर्तिभि ।
रविकरग्लपितैरिव वारिभि शिववलै परिमडलता दधे ॥६४॥

*अन्वय —प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसहतितापितमूर्तिभि शिवबलै रवि-करग्लपितै वारिभि इव प्रतिदिश परिमडलता दधे ॥६४॥*

अर्थ—कपिध्वज अर्जुन के बाण समूहा से क्षत-विक्षत शरीर वाले शिव के सैनिकगण इस प्रकार से चारा ओर मडलाकार स्थित हो गए जिस प्रकार सूर्य की किरणो से शोपित जल समूह मडलाकार होकर ( वादल के रूप मे ) चारा ओर घूमने लगता है ॥६४॥

टिप्पणी—द्रुतविलम्बित छद ।

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मंडल पाण्डुसूनौ ।

कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातु
विषमनयनसेनापक्षपात विषेहे ॥५६॥

अन्वय —प्रविततशरजालच्छन्नविश्वातराले पाडुसूनौ आविर्मंडल धनु विधुवति भीतभीता जयलक्ष्मी कथमपि विषमनयनसेनापक्षपात विहातुम् विषेहे ॥६५॥

अर्थ—पाडुपुत्र अर्जुन द्वारा अपने बाणा से विश्व-ब्रह्माड को आच्छादित कर लेने पर एव मडलाकार धनुष का बारम्बार आस्फालन करने पर मानो अत्यन्त डरी हुई विजय-श्री किसी प्रकार बडी कठिनाई से त्रिलोचन की सेना के पक्ष का परित्याग करने के लिए तैयार हो सकी ॥६५॥

टिप्पणी—अर्थात् अर्जुन के इस प्रकार के प्रचड पराक्रम को देखकर किरात-सेना ने अपनी पराजय मान ली । मालिनी छन्द ॥६५॥

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य म चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥१४॥

# पन्द्रहवाँ सर्ग

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥१॥

अन्वय.—अथ तत्र भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्य. तत्रसुः । सा चमूः परित्यक्तमहेष्वासा दिशः भेजे ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन के बाणो से उस रणभूमि के जीव-जन्तु अत्यन्त व्याकुल हो गये और किरातो की वह सेना अपने विशाल धनुषो और बाणादि हथियारो को छोड-छोड कर सभी दिशाओ मे भाग निकली ॥१॥

टिप्पणी—समुच्चय अलङ्कार और यमक अलङ्कार की संसृष्टि ।

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः ।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलित मनः ॥२॥

अन्वय.—गणै. ईशानम् अपश्यद्भिरिव रणात् निववृते । हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलित मन. मुह्यत्येव ॥२॥

अर्थ—प्रमथ गण मानो भगवान शङ्कर को बिना देखे ही भाग निकले । सच है, सङ्कट के क्षणो मे उद्विग्नता से विचलित मन मुग्ध हो ही जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं सोच-विचार पाता ॥२॥

खण्डिताशसया तेषा पराङ्मुखतया तया ।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानर नरम् ॥३॥

अन्वयः—खण्डिताशसया तेषा तया पराङ्मुखतया केतौ कृतः उच्चैः वानरं नरं कृपा आविवेश ॥३॥

अर्थ—विजय की आशा छोड़कर भागती हुई उस किरात सेना को देखकर कपिध्वज अर्जुन के मन में बड़ी दया आई ॥३॥

टिप्पणी—यमक अलङ्कार।

[अर्जुन को अपने शत्रु पर दया क्यों आई, इसका कारण बताते हैं—]

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥४॥

अन्वय—आस्थाम् आलम्ब्य वशं नीतेषु क्षुद्रेषु अरातिषु अनुकम्पया महतां माहात्म्यं व्यक्तिम् आयाति ॥४॥

अर्थ—अनेक प्रकार के यत्नों द्वारा क्षुद्र शत्रुओं को वशवर्ती बना लेने पर बड़े लोग जो अनुकम्पा दिखाते हैं, उससे उनकी महत्ता प्रकट होती है ॥४॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने पौरुष से पराजित किए गए शत्रु पर करुणा प्रकट करना महान् पुरुषों को शोभा देता है।

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥५॥

[एकाक्षर पाद]

अन्वय—सासिः सासुसूः सासः येयायेयाययाययः ललः अलोलः शशीश-शिशुशीः शशन् स लीलां ललौ ॥५॥

अन्वय में आये प्रत्येक पदों के अर्थ एवं विग्रह इस प्रकार हैं—

सासि—असि अर्थात् तलवार से युक्त।

सासुसू—बाण के साथ।

जो असु अर्थात् प्राणों को प्रेरणा करे, उसे असुसू कहते हैं और जो असुसू को साथ लिए हो वह सासुसू है।

सास—धनुष के साथ। आस अर्थात् धनुष के साथ।

येयायेयाययाययः—येय+अयेय+आयय+अयय—इन चार पदों से उक्त वाक्य बना है। येय अर्थात् यान के द्वारा साध्य। अयेय जो बिना यान

के ही साध्य हो। आयय--जो सुवर्ण हाथी इत्यादि का लाभ करता हो। अयय:—जो शुभ भाग्य को प्राप्त करता है।

लल—शोभासम्पन्न।

अलोल:—अचचल, शान्त।

शशीशशिशुशी: = शशि + ईश + शिशु + शी: ॥ अर्थात् चन्द्रमा के स्वामी के पुत्र को मारनेवाला।

शशन्—पैतरे बदलने वाला।

स:—वह अर्जुन।

लीलां—शोभा को।

ललौ—प्राप्त हुआ।

अर्थ—तलवार, बाण और धनुष को धारण किए हुए, यान-साध्य एव अयान-साध्य—दोनो प्रकार के वीरो के पास पहुँचकर उनके स्वर्ण-गजादि को प्राप्त करने वाले, सुन्दर भाग्यशाली, शोभायुक्त, शान्त एव शङ्कर जी के पुत्र स्वामिकार्त्तिकेय को मार भगाने वाले, पैतरे बदलते हुए अर्जुन की उस रणभूमि मे विचित्र शोभा हुई ॥५॥

टिप्पणी—इस श्लोक के एक-एक चरणो मे एक ही अक्षर का प्रयोग हुआ है।

त्रासजिह्मं यतश्चैतान्मन्दमेवान्विताय स: ।
नातिपीडयितु भग्नानिच्छन्ति हि महौजस: ॥६॥

अन्वय:—स: त्रासजिह्म यत: एतान् मन्दमेव अन्विताय हि महौजस: भग्नान् अतिपीडयितु नेच्छन्ति।

अर्थ—अर्जुन ने भय से विह्वल होकर भागते हुये उन प्रमथगणो का पीछा मन्दगति से ही किया। महान् तेजस्वी लोग पीडितो को अत्यन्त पीडित नहीं करना चाहते ॥६॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥७॥

[ निरोष्ठ्य ]

*अन्वय* —अथ अग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना किञ्चिदायस्तचेतसा सेनान्या ते जगदिरे ॥७॥

*अर्थ*—तदनन्तर इस प्रकार से सेना को भागते हुए देख उसके अग्रभाग मे हँसते हुये तिरछे खडे होकर स्थिर कीर्तिवाले स्वामिकार्त्तिकेय चित्त मे कुछ खिन्न होकर उन प्रमथ सैनिको से बोले—॥७॥

टिप्पणी—इस श्लोक मे ओष्ठ से उच्चारण होने वाला एक भी अक्षर नही है, इसे निरोष्ठ्य कहते हैं ।

[अब इक्कीस श्लोको द्वारा स्वामिकार्त्तिकेय की बातो की चर्चा की गई है—]

मा विहासिष्ट समर समरन्तव्यसयत ।
क्षत क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव कि यश ॥८॥

[पादान्तादिक यमक]

*अन्वय* —समरन्तव्यसयत समर मा विहासिष्ट क्षुण्णासुरगणै अगणै इव कि यश क्षतम् ॥८॥

*अर्थ*—आप लोग क्रीडा और युद्ध मे समान रुचि रखनेवाले हैं, युद्ध को छोडकर इस प्रकार पलायन न करें । आप लोग अमरो को पराजित करने वाले प्रमथ हैं फिर उनसे भिन्न ( सामान्य लोगो ) की भाँति इस प्रकार अपने यश को क्यो नष्ट कर रहे हैं ॥८॥

टिप्पणी—यमक अलङ्कार ।

विवस्वदशुसश्लेषद्विगुणीकृततेजस ।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासय ॥९॥

अन्वय —विवस्वदशुसश्लेषद्विगुणीकृततेजस मोघम् उद्गूर्णा व अमी महासय हसन्ती इव ॥९॥

अर्थ—सूर्य की किरणो के सम्पर्क से द्विगुणित तेज वाली ये आप लोगो की व्यर्थ ही ऊपर उठी हुई बडी-बडी तलवारें मानो आप लोगो का परिहास सा कर रही हैं ॥९॥

टिप्पणी—क्योकि जो लोग रणभूमि छोड कर भाग रहे हैं, उनको ऐसी चमकती हुई और ऊपर उठी हुई तलवारो से क्या लाभ है ? उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

वनेऽवने वनसदा मार्गं मार्गमुपेयुपाम् ।
वाणैर्वाणै समासक्त शङ्केऽश केन शाम्यति ॥१०॥

[पादादि यमक]

अन्वय —वनसदाम् अवने वने मार्गे मार्गम् उपेयुपा बाणै वाणै समासक्तम् अश केन शाम्यति शङ्के ? ॥१०॥

अर्थ—वनचारी किरातो के रक्षक इस जगल मे मृग के मार्गों से अर्थात् झाड झखाडो मे से लुक-छिपकर पलायन करते हुए, एव शब्दयुक्त बाणो को धारण किए हुये आप लोगो का जो दु ख है, वह किस उपाय से शान्त होगा—मैं यही सोच रहा हूँ ॥१०॥

पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यै सहृतायतकीर्तिभि ।
गुर्वी कामापद हन्तु कृतमावृत्तिसाहसम् ॥११॥

अन्वय —पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यै सहृतायतकीर्तिभि का गुर्वीम् आपद हन्तुम् आवृत्तिसाहस कृतम् ॥११॥

अर्थ—अपने हृदय के उन्नत भावो को नष्ट करके तथा अपनी सुदूर पर्यन्त फैली हुई सत्कीर्ति को नष्ट करके, आप लोगो ने न जाने किस महान् विपत्ति को दूर करने के लिए इस प्रकार रणभूमि से भागने का साहस किया है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अर्थात् आप लोगो के इस पलायन से पाप के अतिरिक्त अन्य कोई फल नही होगा ।

नासुरोऽय न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः ।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः ॥१२॥

[गोमूत्रिकाबन्धः]

*अन्वयः—अयम् असुरः न, नागः वा न, धरसस्थः राक्षसः न, अयं सुखः नवाभोगः धरणिस्थः राजसः ना हि ॥१२॥*

अर्थ—यह तपस्वी न तो दानव है, न नागराज है, न कोई पहाड जैसी आकृतिवाला राक्षस ही है, किन्तु यह तो सुखपूर्वक जीतने योग्य महान् उत्साही रजोगुण प्रधान एक मनुष्य मात्र है ॥१२॥

टिप्पणी—अतएव ऐसे वीर के सामने से रणभूमि छोडकर भागना आप लोगो के लिए उचित नही है । यह श्लोक गोमूत्रिका बन्ध है, जिसका चित्र पुस्तक के अन्त मे दिया गया है । इसमे सोलह कोष्ठक बनाने वाली रेखाओ के ऊपर श्लोक का प्रथम चरण तथा नीचे द्वितीय चरण लिखकर एक-एक अक्षर के अन्तर पढने से भी पूरा श्लोक बन जाता है । यह एक विकट बन्ध है, जिसका प्रयोग केवल पाडित्य-प्रदर्शन के लिए ही प्राचीनकाल के कवि लोग किया करते थे । वस्तुतः ऐसे विकट बन्धो मे कवित्व बहुत कम और कवित्व-प्रदर्शन बहुत अधिक होता है ।

मन्दमस्यन्निपुलतां घृणया मुनिरेष वः ।
प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव ॥१३॥

अन्वयः—एष. मुनिः घृणया इपुलताम् मन्दम् अस्यन् व. पशूनिव आगतावज्ञ जघनेषु प्रणुदति ॥१३॥

अर्थ—यह तपस्वी मानो घृणापूर्वक वृक्ष की शाखा-रूपी अपने बाणो से धीरे-धीरे मारते हुए तुम लोगो को बैलो के समान जघनस्थलो मे कोंचता हुआ हाँक रहा है ॥१३॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से कोई हलवाहा अपने गरियार बैल को वृक्ष की शाखा से धीरे धीरे पीटते हुए अपने इच्छित स्थल पर ले चलने के लिए बडी घृणा से उसकी जाँघो मे कोचता है उसी प्रकार का व्यवहार यह तपस्वी भी तुम लोगो के साथ कर रहा है।

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥१४॥

[एकाक्षर]

अन्वय —हे नानानना ऊननुन्न ना न नुन्नोन ना अना। ननुन्नेन नुन्न अनुन्न नुन्ननुन्ननुत् ना अनेना न ॥१४॥

अर्थ—अन्वय मे आये हुए प्रत्यक पद का अर्थ इस प्रकार है —

हे नानानना —हे अनेक मुखो वालो !

ऊननुन्न —नीच पुरुषो से पराजित।

ना न—मनुष्य नही है।

नुन्नोन ना अना—नीच पुरुषो को पराजित करने वाला मनुष्य नही है।

ननुन्नेन —न+नुन्न +इन —जिसका स्वामी पराजित न हुआ हो।

नुन्न —पराजित।

अनुन्न —अपराजित।

नुन्ननुन्ननुत्—नुन्न+नुन्न+नुत्+अति पीडित को भी पीडा पहुँचाने वाला।

ना अनेना न—मनुष्य निर्दोष नही।

सरल अर्थ—हे अनक मुखो वाले प्रथम गण ! जो नीच पुरुषो से पराजित हो जाता है वह मनुष्य नही है तथा जो नीचो को पराजित करने वाला है वह भी मनुष्य नही है। किन्तु आप लोग तो नीच पुरुष से न केवल पराजित ही हुए हैं, बल्कि डर कर भागे भी जा रहे हैं अत आप लोगो को क्या कहा जाय? जिसका

स्वामी पराजित नही होता है वह पराजित नही समझा जाना चाहिये। अत्यन्त पीडित को पीडा पहुँचाने वाला पुरुष निर्दोष नही प्रत्युत नीच है ॥१४॥

टिप्पणी—इस पूरे श्लोक मे केवल एक अक्षर नकार का प्रयोग हुआ है। श्लोक का अन्तिम तकार दोषपूर्ण नही है, क्योंकि इस बन्ध मे अन्तिम वर्ण के लिए यह नियम नही लागू होता।

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुण. पुमान् ।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः ॥१५॥

अन्वय —कृतध्वस्तगुणात् अत्यन्तम् अगुण. पुमान् वरम्। हि प्रकृत्या अमणिः अलङ्कार. श्रेयान् च्युतोपल. न श्रेयान् ॥१५॥

अर्थ—जो लोग पहले गुणो का अर्जन करते हैं और पीछे उनसे च्युत हो जाते हैं, उनसे तो अत्यन्त निर्गुणी पुरुष ही श्रेष्ठ हैं, क्योकि स्वभावतः मणि से विहीन वह अलकारह श्रेष्ठ है किन्तु वह अलकार तो अच्छा नही है, जिसकी मणि गिर गयी हो ॥१५॥

टिप्पणी—युद्ध को छोडकर इस प्रकार भागने से अच्छा तो यही था कि युद्ध किया ही न जाता। दृष्टान्त अलकार।

स्यन्दना नो चतुरगा. सुरेभा वाविपत्तयः ।
स्यन्दना नो च तुरगाः सुरेभा वा विपत्तय. ॥१६॥

[ समुद्गक ]

अन्वय.—स्यन्दना. स्यन्दना नो । चतुरगा. तुरगाश्च नो सुरेभाः वा नो। अविपत्तयः विपत्तय नो ॥१६॥

अर्थ—इस तपस्वी के पास न तो वेगपूर्वक चलने वाले रथ हैं, न अच्छी चाल से चलने वाले सुन्दर घोडे हैं। न खूब चिंघाडने वाले देवताओं के हाथी हैं, और न विघ्न-बाधाओ एव विपत्तियो से रहित पैदल सैनिक ही हैं ॥१६॥

टिप्पणी—अर्थात् इसके पास ऐसी कोई भी वस्तु नही है, फिर डरना किस

बात से। यमकालकार और यथासख्य अलकार की समृष्टि। इस पद्य का पूर्व पद ही भगि से उत्तर पद बन गया है।

> भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषै ।
> ह्रदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्त पङ्को दुरुत्तर ॥१७॥

अन्वय —अधुनारातिपरिहापितपौरुषै भवद्भि अर्कनिष्पीतै ह्रदैरिव दुरुत्तर पङ्क प्राप्त ॥१७॥

अर्थ—सम्प्रति शत्रु द्वारा पौरुष से विहीन किये जाने पर आप लोग सूर्य से सुखाये गए तालाब के समान दुस्तर पक रूपी के अपकीर्ति के भागी बन गए हैं ॥१७॥

> वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैंजेऽकुकशात्रवे ।
> यात कि विदिशो जेतु तुजेशो दिवि कितया ॥१८॥

[प्रतिलोमानुलोमपाद ]

अन्वय —वेत्रशाककुजे अलेशैंजे अकुकशात्रवे शैले कितया विदिश जेतु यात किम् दिवि तुञ्जेश ॥१८॥

अर्थ—बाँस एव बबूल आदि कँटीले वृक्षो से दुर्गम, अत्यन्त सुदृढ जिसमें शत्रुओं को पकडा नहीं जा सकता, ऐसे वन से नीच पुरुषो के समान भागकर तुम लोग कौन-सी दिशा या विदिशा जीतने के लिये जा रहे हो। तुम लोगों ने तो स्वर्ग मे भयङ्कर दैत्यो को भी मार गिराया था ॥१८॥

टिप्पणी—स्वर्ग में जो भयङ्कर असुरो को मार चुके हो, उनका इस युद्ध-स्थल पर इस प्रकार से भागना अनुचित है। इस श्लोक का प्रथमपाद उलट कर द्वितीय तथा तृतीय पाद उलटकर चतुर्थ बन गया है। ऐसे विकटबन्ध संस्कृत भाषा मे ही बनाए जा सकते हैं।

> अथ स कन्ध्यमापन्नदृष्टपृष्टानरातिना ।
> इच्छतीशश्च्युताचारान्दारानिव निगोपितुम् ॥१६॥

अन्वय.—अयम् ईशः क्लैब्यम् आपन्नान् अरातिना दृष्टपृष्टान् वः च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् इच्छति ॥१६॥

अर्थ—यह हमारे स्वामी शकर जी नपुसकता को प्राप्त एव शत्रु को पीठ दिखाने वाले तुम लोगों की उसी प्रकार से रक्षा करना चाहते हैं जैसे पति अपनी आचारभ्रष्टा स्त्री की रक्षा करता है ॥१६॥

टिप्पणी—जब शकर जी स्वय तुम लोगो के दोषो को छिपाकर तुम्हारी रक्षा करने के लिये तैयार हैं तो तुम्हें भागना उचित नही है।

ननु हो मन्थना राघो घोरा नाथमहो नु न ।
तयदातवदा भीमा माभीदा वत दायत ॥२०॥

[ प्रतिलोमानुलोमपादः]

अन्वयः—ननु हो मन्थना राघः घोरा नाथमहः तयदातवदा भीमा माभीदाः वत नदायत नु ॥२०॥

अर्थ—अरे भाइयो ! सुनो ठहरो तो जरा। आप लोग तो अपने भीषण से भीषण शत्रुओ को भी तहस-नहस कर देने वाले है। समर्थ हैं। शत्रुओ के लिए अत्यन्त क्रूर है। अपने स्वामी की पूजा करने वाले हैं। रक्षक हैं। शुद्ध आचरण वाले हैं। अच्छे वक्ता हैं। भयङ्कर आकृति वाले हैं। शरणागत को अभयदान करने वाले हैं। क्या आप लोग शुद्ध नही हैं, ऐसा नही, अति शुद्ध है ॥२०॥

टिप्पणी—यह भी प्रतिलोमानुलोमपाद है, जिसका परिचय १८ वें श्लोक मे दिया जा चुका है।

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहै. ।
ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि मानिता ॥२१॥

अन्वय'—अपास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहै' ज्वलितान्यगुणै. गुर्वी तेजसि स्थिता मानिता किं त्यक्ता ॥२१॥

अर्थ—आप लोग देवताओ तथा मनुष्यो को तृण के समान समझने वाले

हैं। सर्वोत्तम गुणों से युक्त हैं। गम्भीरता एवं तेज से युक्त हैं फिर इस प्रकार से अपनी तेजस्विता को क्यों त्याग रहे हैं ॥२१॥

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥२२॥

अन्वयः—हे अमरणा निशितासिरतः अभीकः रुचा स्वाभासः उत भरवान् नः विरोधी सारतः न्येजते न ॥२२॥

अर्थ—हे मृत्युरहित प्रमथ गण! हमारा यह विरोधी तीक्ष्ण खड्गधारी है, निर्भय है, तेजस्वी एवं आकृति से रमणीय है। युद्ध का भार उठाने में सहिष्णु है, वह बलवान शत्रु से भी कम्पित नहीं होता ॥२२॥

*टिप्पणी—इसलिए तुम लोगों को भी इससे डरना नहीं चाहिये।*

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥२३॥

[प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्]

अन्वयः—तनुवारभसः भास्वान् चारुणा अविनतोरसा अधीरः रसिताशिनि, जन्ये अभीतः कः रमते ॥२३॥

अर्थ—कवच से सुशोभित, तेजस्वी, मनोहर एवं उन्नत वक्षस्थल वाले किन्तु फिर भी अधीर इस वीर के समान दूसरा ऐसा कौन है जो इस महाभयङ्कर युद्ध में जिसके घोर नाद से ही विश्व के जीव जन्तुओं के प्राण निकल जायँ, निर्भीक होकर खेलता रहेगा ॥२३॥

टिप्पणी—यह श्लोक बाईसवें श्लोक का ही विलोम है। बाईसवें श्लोक का चतुर्थ चरण इसका प्रथम चरण है, तृतीय चरण इसका द्वितीय चरण है, द्वितीय चरण तृतीय चरण है तथा प्रथम चरण चतुर्थ चरण है। इसका नाम है प्रतिलोमानुलोम।

विभिन्नपातिताश्वीय निरुद्धरथवर्त्मनि।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले ॥२४॥

किरातार्जुनीय

१४८

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा ।
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥२५॥ [सर्वतोभद्र]

प्रनृत्तशवविन्नस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ ।
मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि ॥२६॥
ससत्वरतिदे नित्य सदरामर्षनाशिनि ।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥२७॥ [अर्द्ध भ्रमक]

आसुरे लोकविश्वासविधायिनि महाहवे ।
युष्माभिरुन्नर्ति नीत निरस्तमिह पौरुषम् ॥२८॥

अन्वय —विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि, प्रनृत्तशवविन्नस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि, ससत्वरतिदे नित्य सदरामर्षनाशिनि त्वराधिककसन्नादे रमकत्वम् अकर्षति, आसुरे लोकविश्वासविधायिनि महाहवे युष्माभि उन्नर्ति नीत पौरुष निरस्तम् इह ॥२४ २८॥

अर्थ—असुरो से होने वाले उस महान भयङ्कर युद्ध मे, जिसमे कि क्षत-विक्षत अश्व के अङ्गो से रथो के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं एव मारे गये हाथी-रूपी पहाडो से रक्तरूपी जल की धारा बहने लगती है, जो देवताओ को उत्साह देनेवाला रहता है, जिसमे वाक् कलह बहुत थोडा थोडा होता है, जो अवसर प्राप्त होने पर रणचातुरी द्वारा शत्रुओ को युद्ध मे प्रयुक्त करने वाला है, मद बहाने वाले गजराज की घटा से व्याप्त रहता है, कौओ को आमन्त्रण देने वाला होता है और निरुत्साहियो और उत्साहियो को समान रूप से परिश्रम कराने वाला है। जिसमे शिरविहीन कवन्धो की उछल-कूद से भडके हुए अश्वो मे उनके सारथी गिर कर नीचे पडे रहते हैं और खाली तरकसो मे हवा भर जाने से जो शब्द होते हैं उससे उन आहत अश्वारोहियो के कान के पर्दे

ञत हुआर वे मर जाते हैं। ऐसे भयङ्कर युद्ध में जो बलवान हैं, उन्हें नन्द मिलता है और जो डरपोक हैं उनका क्रोध नष्ट हो जाता है। गह की अधिकता से इसमे खूब शोर मचा रहता है, और भयङ्कर मार-काट वीरो मे परस्पर उत्साह की वृद्धि होती है। आप लोगो ने (पूर्व काल मे) सुरो के ऐसे भयङ्कर महायुद्ध मे, जो समस्त लोक को भय से कँपा देने वाला था, विकट पौरुष दिखलाया था (किन्तु) इस युद्ध मे उसी पौरुष को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥२४-२८॥

टिप्पणी—दूसरे श्लोक मे सर्वतोभद्र बन्ध है, जिसका चित्र अन्त मे दिया गया है। चतुर्थ श्लोक मे अर्धभ्रमक है, इसका भी चित्र अन्त मे दिया गया है। इन दोनो विकट बन्धो को देखने से ही इनकी विशेषता ज्ञात हो जायगी।

इति शासति सेनान्या गच्छतस्ताननेकधा।
निषिध्य हसता किंचित्तस्थे तत्रान्धकारिणा ॥२९॥

[निरोष्ठ्य]

अन्वय —इति सेनान्या शासति अनेकधा गच्छत तान् निषिध्य तत्र अन्धकारिणा किञ्चित् हसता तस्थे ॥२६॥

अर्थ—इस प्रकार से स्कन्दकुमार द्वारा लौटने की आज्ञा देने पर भी अनेक मार्गों से भागते हुए उन प्रथम सैनिको को रोकते हुए अन्धकासुर के शत्रु भगवान् शकर तनिक मुस्कराते हुए वहाँ आकर (स्वय) उपस्थित हो गये ॥२६॥

टिप्पणी—इस श्लोक म ओष्ठ्य अक्षरों का अभाव है।

मुनीषुदहनातप्ताँल्लज्जया निविवृत्स्यत.।
शिव प्रह्लादयामास तान्निषेघहिमाम्बुना ॥३०॥

अन्वय —मुनीषुदहनातप्तान् लज्जया निविवृत्स्यत तान् शिव. निषेघहिमाम्बुना प्रह्लादयामास ॥३०॥

अर्थ—तपस्वी अर्जुन के बाणरूपी अग्नि से जले हुए और अब लज्जा पूर्वक रणभूमि मे लौटते हुए उन प्रमथ सैनिको को भगवान् शङ्कर ने

अपने—मत डरो, मत भागो आदि निषेध वचन-रूपी शीतल जल से आनन्दित किया ॥३०॥

टिप्पणी—रूपक अलङ्कार।

दूनास्तेऽरिबलाद्दूना निरेभा बहु मेनिरे।
भीता शितशराभीता शङ्करं तत्र शङ्करम् ॥३१॥
[ पादाद्यन्तयमक ]

अन्वय—दूना अरिबलात ऊना निरेभा भीता शितशराभीता ते तत्र शङ्करं शङ्करं मेनिरे ॥३१॥

अर्थ—अर्जुन के बाणों से सन्तप्त, बल में विपक्षी से हीन, निःशब्द, डरे हुये तीक्ष्ण बाणों से चारों ओर विद्ध उन प्रमथ सैनिकों ने उस रणभूमि में इस प्रकार की सान्त्वनाभरी वाणी से सुख पहुँचाने वाले भगवान शङ्कर को बहुत कुछ समझा ॥३१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में पादाद्यन्त यमक है अर्थात् प्रत्येक पद का आदि चरण ही अन्त में भी आवृत्त हुआ है।

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे।
प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी ॥३२॥

अन्वय—दुरुत्तरे शत्रोः महेषुजलधौ वर्तमाना पताकिनी ईशानं पारमिव प्राप्य आशश्वास ॥३२॥

अर्थ—शत्रु के दुस्तर एवं विकट शर-रूपी-समुद्र में पड़ी हुई वह प्रमथों की सेना भगवान शङ्कर को दूसरे पार के तट की भाँति पाकर जी उठी ॥३२॥

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम्।
पुरः सूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः ॥३३॥

अन्वय—सः रणापेतां पश्चात् अवस्थितां चमूं पुरः सूर्यात् अपावृत्तां छायां महातरुरिव बभार ॥३३॥

।—भगवान् शङ्कर ने रणभूमि से भागनेवाली पीछे खडी हुई अपनी
ा को उसी प्रकार से धारण किया जिस प्रकार से सूर्य के सामने खडा
विशाल वृक्ष अपने पीछे पडी हुई छाया को धारण करता है ॥३३॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से विशाल वृक्ष अपनी छाया को नही
डता उसी प्रकार से भगवान् शङ्कर ने भी अपनी शरण मे आई उस सेना
नहीं छोडा।

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः ॥३४॥

अन्वयः—ईशे जिष्णौ शरान् मुञ्चति सति पिनाकस्वनपूरितः धराधरः स्फुटन्निव आशाः ध्वनयन् दध्वान ॥३४॥

अर्थ—भगवान् शङ्कर ने अर्जुन पर जिस क्षण बाण-सन्धान किया उस क्षण उनके धनुष की टकार से पूर्ण इन्द्रकील पर्वत मानो विदीर्ण-सा होते हुए तथा दिशाओ को प्रतिध्वनित करते हुए भीषण शब्द करने लगा ॥३४॥

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ॥३५॥

[द्विचतुर्थ यमक]

अन्वय —भीम तयोः तत् युद्ध गणाः चित्रसस्थाः अचलाः इव चित्रसस्था- इव अचलाः विस्मयेन ददृशु: ॥३५॥

अर्थ—शङ्कर और अर्जुन के उस भयङ्कर युद्ध को प्रमथगण चित्राकार पहाड के समान चित्रलिखित की भाँति आश्चर्य से निश्चल होकर देखने लगे ॥३५॥

टिप्पणी—यह द्विचतुर्थ यमक है, अर्थात् इसमे द्वितीय चरण को चतुर्थ चरण के रूप मे आवृत्ति हुई है।

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना ॥३६॥

शिक्षालाघवलीलया परिमोहयमाणेन पिनाकिना ...

अन्वयः—शिक्षालाघवलीलया परिमोहयमाणेन पिनाकिना खश्रेणीः परिजह्रे ॥३६॥

अर्थ—अपने बाण चलाने के अभ्यास की निपुणता से अर्जुन को विस्मयविमुग्ध करते हुए पिनाकी शङ्कर ने अर्जुन की बाणपंक्तियों को काट गिराया ॥३६॥

अवद्यन्पत्रिण शम्भो सायकैरवसायकैं ।
पाडव. परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ॥३७॥

[आद्यन्त यमक]

अन्वय —पाडव· अवसायकैः सायकैं शम्भो पत्रिण अवद्यन् शिक्षया रणशिक्षया परिचक्राम ॥३७॥

अर्थ—अर्जुन भी अपने अन्तकारी अर्थात् विनाशकारी बाणो से शङ्कर के बाणो को खण्डित करते हुए अत्यन्त उत्साह और रणचातुरी के साथ पैतरे बदलने लगे ॥३७॥

टिप्पणी—इसमे आद्यन्त यमक है। द्वितीय और चतुर्थ चरण के आदि पदो की अन्त मे आवृत्ति हुई है।

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः ।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥३८॥

[द्व्यक्षर]

अन्वय.—चारचुञ्चु. चिरारेची चञ्चच्चीररुचा रुचः रुचिरः आचारचञ्चुर चारु चारैः चचार ॥३८॥

अर्थ—चारचुञ्चु—गतिविशेष मे दक्ष, चिरारेची=अधिक समय मे अथवा अधिक मात्रा मे शत्रु को रिक्त कर देने वाले, चञ्चच्चीररुचारुच.=चपल वल्कल की कान्ति से सुशोभित, रुचिर=सुन्दर, आचारचंचुर=युद्ध की कला मे निपुण या अभ्यासी, चारु=मनोहर, चारैः=गति से, चचार=संचरण करने लगे ॥३८॥

[भ]ावार्थ—विशेष गति में निपुण, अतिमात्रा मे शत्रु को रिक्त कर देने [वाले,] चचल वल्कल की कान्ति से सुशोभित, सुन्दर, युद्ध की कला मे निपुण [अर्जु]न अति मनोहर गति से सचरण कर रहे थे ॥३८॥

टिप्पणी—इस पूरे श्लोक मे केवल दो अक्षरो—'च' और 'र' का प्रयोग [क]वि ने किया है।

> स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः स बृहद्धनु.।
> धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ ॥३९॥

अन्वयः—सः स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं बृहद्धनुः धुनान· धृतोल्कानलयोगेन अंशुमता तुल्य बभौ ॥३९॥

अर्थ—तपस्वी अर्जुन अपने पिशग वर्ण की चमकती हुई प्रत्यंचा से युक्त गाण्डीव नामक विशाल धनुष को कँपाते हुए उल्का-रूपी अग्नि से सयुक्त सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३९॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

> पार्थबाणा. पशुपतेरावव्रुर्विशिखावलीम्।
> पयोमुच इवारन्ध्राः सावित्रीमंशुसंहतिम् ॥४०॥

अन्वयः—पार्थबाणाः पशुपतेः विशिखावली सावित्री अंशुसंहतिम् अरन्ध्राः पयोमुच इव आवव्रुः ॥४०॥

अर्थ—अर्जुन के बाणो ने पशुपति शकर की बाणो की पक्तियो को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से सूर्य की किरणो को मेघ आच्छादित कर लेते है ॥४०॥

> शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना।
> रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ॥४१॥

अन्वयः—त्रिलोचनः सव्यसाचिना उदस्ता उर्वी शरवृष्टिं मार्गणैः विधूय तपनस्य मार्गम् रुरोध ॥४१॥

अर्थ—तदनन्तर त्रिलोचन शकर ने सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त भीषण बाणो की वृष्टि को अपने बाणो से निरस्त करके सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ॥४१॥

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलानना: ।
न नानुकम्प्य विशिखा. शिखाधरजवासस: ॥४२॥
[शृखलायमक]

अन्वय —तेन भीमा. भीमार्जनफलानन: शिखाधरजवासस विशिखा: अनुकम्प्य न व्यातेनिरे न ॥४२॥

अर्थ—शकर जी ने अपने उन बाणो को, जो अत्यन्त भयकर थे, जिनके अग्रभाग अर्थात् तीक्ष्ण फल भय को दूर करने मे समर्थ थे और जो मयूर की पुच्छो से विभूषित थे, अनुकम्पा वश होकर नही छोडा, ऐसा नही कहना चाहिये ॥४२॥

टिप्पणी—अर्थात् अपने अत्यन्त भयभीत सैनिको पर अनुकम्पा करके शिव जी ने ऐसे बाणो की वृष्टि की । शृखला यमक ।

द्युवियद्‌गामिनी तारसंरावविहतश्रुति: ।
हैमीपुमाला शुशुभे विद्युतामिव महति: ॥४३॥
[गूढ चतुर्थपाद]

अन्वयः—द्युवियद्‌गामिनी तारसरावविहतश्रुतिः हैमी इपुमाला विद्युता सहतिः इव शुशुभे ॥४३॥

अर्थ—स्वर्ग एव अन्तरिक्ष मे सचरण करने वाली, अपने उच्च स्वर से कर्ण-कुहरो को भेदने वाली, भगवान शकर की सुवर्णमयी बाणो की पक्तियाँ बिजली के समूह के समान सुशोभित होने लगी ॥४३॥

टिप्पणी—इस श्लोक का चतुर्थ पाद "विद्युतामिव सहति" के सभी अक्षर अन्य तीनो पादों मे छिपे हुए हैं, इसे गूढ चतुर्थपाद बन्ध कहते हैं ।

विलङ्घ्य पत्रिणा पक्तिम् भिन्न. शिवशिलीमुखै. ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वज: ॥४४॥

अन्वय —शिवशिलीमुखैः पत्रिणा पक्तिम् विलङ्घ्य भिन्न कपिध्वज ज्यायः वीयम् उपाश्रित्य न चकम्पे ॥४४॥

अर्थ—भगवान् शकर द्वारा चलाये गए बाणो ने अर्जुन के बाणो की पक्तियो को भिन्न करके विद्ध कर दिया, किन्तु (फिर भी) कपिध्वज अर्जुन अपने प्रशमनीय पौरुष का सहारा लेकर तनिक भी विचलित नही हुए ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात् विद्ध होने पर भी उन्होने उसे सहन किया ।

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्त सुधासित ।
दानवर्षी कृताशसो नागराज इवाबभौ ॥४५॥

[अर्थत्रयवाची]

अन्वय —जगतीशरणे युक्त हरिकान्त सुधासित दानवर्षी कृताशस. नागराज इव आबभौ ॥४५॥

[इस श्लोक के तीन अर्थ हैं । कवि ने अर्जुन की उपमा नगराज ( हिमालय ), नागराज ( हाथियो के राजा, ऐरावत ) तथा नागराज ( नागो के राजा शेष ) से दी है । नीचे क्रमानुसार तीनो अर्थ दिये जा रहे हैं । ये अर्थ कही-कही तो सहज बोधगम्य हैं और कही क्लिष्ट कल्पना द्वारा ।]

प्रथम अर्थ—( नगराज हिमालय के पक्ष मे ) ईश अर्थात् शिव से युद्ध करने म तत्पर, सिंह के समान सुन्दर, सम्यक् रीति से प्रजापालन करने वाले, कृष्णवर्ण, बहुदानी, युद्ध म विजय के अभिलाषी अर्जुन विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा मे नियुक्त, निवासस्थानादि के दान से सिंहो के प्रिय, (बरफ से ढके रहने के कारण ) सुधा अर्थात् चूना के समान श्वेत, दानवों, ऋषियो तथा कामदेव से प्रशसित नगराज हिमालय के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१॥

द्वितीय अर्थ—(नागराज ऐरावत के पक्ष म ) पृथ्वी को अपनी शरण मे रखने के लिए नियुक्त, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान शील-सदाचार से स्वच्छ शरीर वाले, दान की वर्षा करने वाले, युद्ध मे विजय के अभिलाषी, अर्जुन जगती अर्थात् पृथ्वी को क्षीण करने वाले राक्षसो के साथ युद्ध करने मे

अर्थ—तदनन्तर त्रिलोचन शकर ने सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त भीषण बाणो की वृष्टि को अपने बाणो से निरस्त करके सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ।।४१।।

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलानना. ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ।।४२।।

[शृखलायमक]

अन्वय—तेन भीमा भीमार्जनफलानन. शिखाधरजवासस· विशिखाः अनुकम्प्य न व्यातेनिरे न ।।४२।।

अर्थ—शकर जी ने अपने उन बाणो को, जो अत्यन्त भयकर थे, जिनके अग्रभाग अर्थात् तीक्ष्ण फल भय को दूर करने मे समर्थ थे और जो मयूर की पुच्छों से विभूषित थे, अनुकम्पा वश होकर नही छोडा, ऐसा नही कहना चाहिये ।।४२।।

टिप्पणी—अर्थात् अपने अत्यन्त भयभीत सैनिको पर अनुकम्पा करके शिव जी ने ऐसे बाणो की वृष्टि की । शृखला यमक ।

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ।।४३।।

[गूढ चतुर्थपाद]

अन्वयः—द्युवियद्गामिनी तारसरावविहतश्रुतिः हैमी इषुमाला विद्युता सहतिः इव शुशुभे ।।४३।।

अर्थ—स्वर्ग एव अन्तरिक्ष मे सचरण करने वाली, अपने उच्च स्वर से कर्ण-कुहरो को भेदने वाली, भगवान शकर की सुवर्णमयी बाणो की पक्तियाँ बिजली के समूह के समान सुशोभित होने लगी ।।४३।।

टिप्पणी—इस श्लोक का चतुर्थ पाद "विद्युतामिव सहति" के सभी अक्षर अन्य तीनों पादो मे छिपे हुए हैं, इसे गूढ चतुर्थपाद बन्ध कहते हैं ।

त्रिलङ्घ्य पत्त्रिणा पङ्क्तिम् भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ।।४४।।

अन्वयः—शिवशिलीमुखैः पत्रिणा पक्तिम् विलङ्घ्य भिन्नः कपिध्वजः ज्यायः वीर्यम् उपाश्रित्य न चकम्पे ।।४४।।

अर्थ—भगवान् शकर द्वारा चलाये गए बाणो ने अर्जुन के बाणो की पक्तियो को भिन्न करके विद्ध कर दिया, किन्तु (फिर भी) कपिध्वज अर्जुन अपने प्रशसनीय पौरुष का सहारा लेकर तनिक भी विचलित नही हुए ।।४४।।

टिप्पणी—अर्थात् विद्ध होने पर भी उन्होने उसे सहन किया ।

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ।।४५।।

[अर्थत्रयवाची]

अन्वय—जगतीशरणे युक्त. हरिकान्त. सुधासितः दानवर्षी .कृताशसः नागराज. इव आवभौ ।।४५।।

[इस श्लोक के तीन अर्थ हैं । कवि ने अर्जुन की उपमा नगराज ( हिमालय ), नागराज ( हाथियो के राजा, ऐरावत ) तथा नागराज ( नागों के राजा शेप ) से दी है । नीचे क्रमानुसार तीनो अर्थ दिये जा रहे हैं । ये अर्थ कही-कही तो सहज बोधगम्य हैं और कही क्लिष्ट कल्पना द्वारा ।]

प्रथम अर्थ—( नगराज हिमालय के पक्ष मे ) ईश अर्थात् शिव से युद्ध करने मे तत्पर, सिंह के समान सुन्दर, सम्यक् रीति से प्रजापालन करने वाले, कृष्णवर्ण, बहुदानी, युद्ध मे विजय के अभिलाषी अर्जुन विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा मे नियुक्त, निवासस्थानदि के दान से सिंहो के प्रिय, (बरफ से ढके रहने के कारण ) सुधा अर्थात् चूना के समान श्वेत, दानवो, ऋषियो तथा कामदेव से प्रशसित नगराज हिमालय के समान सुशोभित हो रहे थे ।।१।।

द्वितीय अर्थ—(नागराज ऐरावत के पक्ष मे ) पृथ्वी की अपनी शरण मे रखने के लिए नियुक्त, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान शील-सदाचार से स्वच्छ शरीर वाले, दान की वर्षा करने वाले, युद्ध मे विजय के अभिलाषी, अर्जुन जगती अर्थात् पृथ्वी को क्षीण करने वाले राक्षसो के साथ युद्ध करने मे

तत्पर, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान श्वेत वर्ण वाले, मद वर्षा करने वाले एवं विजयाभिलाषी नागराज ऐरावत की भाँति शोभा पा रहे थे ॥२॥

*तृतीय अर्थ*—( *नागराज शेष के पक्ष में* ) विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा करने में नियुक्त, कृष्ण के प्रिय, वसुधा अर्थात् पृथ्वी में निबद्ध अथवा अमृत-वत स्वच्छ शरीर, दानवो, ऋषियो तथा लक्ष्मी द्वारा प्रशंसित अर्जुन विधाता द्वारा ससार की रक्षा मे नियुक्त, विष्णु के प्रिय, अमृत के प्रेमी, दानवो ऋषियो तथा लक्ष्मी से प्रशसित नागराज शेष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३॥

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना ।
गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चचाम हुताशनः ॥४६॥

अन्वय:—शम्भुना क्षतबाणस्य विफलीकृतयत्नस्य गाडीवधन्वन. खेभ्यः हुताशनः निश्चचाम ॥४६॥

अर्थ—भगवान शकर द्वारा बाणो के काट देने तथा इस प्रकार अपने प्रयत्नो के विफल हो जाने से गाडीवधारी अर्जुन की इन्द्रियो से ( क्रोध के मारे) आग निकलने लगी ॥४६॥

स पिशङ्गजटावलि· किरन्नुरुतेजः परमेण मन्युना ।
ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ॥४७॥

अन्वय·—पिशङ्गजटावलिः परमेण मन्युना उरुतेज. किरन् स· ज्वलितौषधि-जातवेदसा हिमशैलेन सम विदिद्युते ॥४७॥

अर्थ—पीले वर्ण की जटाओ से विभूषित एव अत्यन्त क्रोध से महान तेज का विस्तार करते हुए अर्जुन उस क्षण देदीप्यमान औषधियो तथा जलते हुए दावानल से व्याप्त हिमालय के समान प्रकाशपुज से परिपूर्ण दिखाई पडे ॥४७॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार ।

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यता प्रजिघायेषुमघातुक शिवः ॥४८॥

अन्वय —शिव शतश विशिखान् अवद्यते रणवेगशालिने अस्मै भृशम् अनिवार्यवीर्यताम् प्रथयन् अघातुकम् इषुम् प्रजिघाय ॥४८॥

अर्थ—शिव जी ने अपने सैंकडों बाणों को काट डालने वाले, रण के वेग से युक्त अर्जुन को अपने अमोघ पराक्रम का अत्यन्त परिचय कराते हुए उन पर ऐसा बाण छोडा, जो उन्हें घायल तो कर दे किंतु उनका प्राण न हरण करे। ॥४८॥

शम्भोर्धनुर्मण्डलत प्रवृत्त त मण्डलादशुमिवाशुभर्तु ।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वा शिलीमुखच्छायवृता धरित्रीम् ॥४९॥

अन्वय —सिताश्व शम्भो धनु मडलत प्रवृत्त तम् अशुभर्तु मडलात् अशुम् इव निवारयिष्यन् धरित्री शिलीमुखच्छायवृता विदधे ॥४९॥

अर्थ—अर्जुन ने भगवान् शकर के धनुर्मण्डल से निकले हुए उस बाण को, जो सूर्य मडल से निकली एक किरण के समान था, निवारित करते हुए धरती को अपने बाण की छाया से आवृत कर दिया ॥४९॥

टिप्पणी—उपमा अलङ्कार।

घन विदार्यार्जुनबाणपूग ससारबाणोऽयुगलोचनस्य।
घन विदार्यार्जुनबाणपूग ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥५०॥

[महायमक]

अन्वय —अयुगलोचनस्य ससारबाण घनम् अर्जुनबाणपूग विदार्य घनम् विदार्य अर्जुनबाणपूगम् युगलोचनस्यबाण ससार ॥५०॥

अर्थ—तदनन्तर अचाक्षुप ज्ञान के विषय अर्थात् एक मात्र दिव्यदृष्टि से ही गम्य भगवान् शकर जी ने बडे वेग के साथ एक बाण छोडा, जो अत्यन्त हृदयविदारक शब्द करता हुआ उनके धनुष से बाहर निकला। उस बाण ने अर्जुन के असख्य बाणो के समूह को काट कर फेंक दिया और फिर उसी क्षण विदारी, ककुभ, शरपुखा एव सोपारी आदि की घनी लताओ को चीरता हुआ वह आगे चला गया ॥५०॥

टिप्पणी—महायमक। इसमे प्रथम और द्वितीय के समान ही तृतीय तथा चतुर्थ चरण भी हैं।

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसंघैर्बुबुधे धनञ्जयः ॥५१॥

अन्वयः—बहुधाशुपातिनः महेषून् मुहुः शरौघैः रुजन् दिशः अपवारयन् क्रियावशात् चलाचलः धनञ्जयः महर्षिसङ्घैः अनेकः इव बुबुधे ॥५१॥

अर्थ—अनेक दिशाओ मे शीघ्रता के साथ बरसते हुए शङ्कर जी के भयङ्कर बाणो को अपने बाणो के समूह से रोकते हुए तथा दिशाओ को आच्छादित करते हुए अपनी विशेष गति के कारण अत्यन्त चचल मुद्रा मे खडे हुए अर्जुन को महर्षियो ने अनेक अर्जुनो के समान देखा ॥५१॥

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥५२॥
[महायमक]

अन्वयः—जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः जगति ईशमार्गणाः विकाशम् युः जगतीशमार्गणः विकाशम् ईयुः जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः ॥५२॥

अर्थ—पृथ्वीपति अर्जुन के बाण विस्तार को प्राप्त होने लगे तथा शिव के बाण भग होने लगे। राक्षसो के हन्ता प्रमथ गण (अर्जुन के इस भीषण राक्रम को देख कर कि अरे! यह तो भगवान् शकर के बाणो को भी व्यर्थ ना रहा है—) विस्मित होने लगे तथा शिव का ध्यान करने वाले देवता तथा षिगण पक्षियो के मार्ग आकाश-मडल मे (यह भयकर युद्ध देखने से लिए) कत्र होने लगे ॥५२॥

टिप्पणी—यह भी महायमक है। इसमे भी प्रथम चरण की द्वितीय, तीय एव चतुर्थ चरण के रूप मे आवृत्ति हुई है।

सम्पश्यतामिति शिवेत वितायमानं
लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।

अङ्गान्यभिन्नमपि तत्वविदा मुनीना
रोमाञ्चमञ्चिततर बिभराम्वभूवु ॥५३॥

*अन्वय* —इति शिवेन वितायमानम् लक्ष्मीवत. क्षितिपते तनयस्य वीर्यम् सम्पश्यताम् तत्वविदाम् अपि मुनीनाम् अङ्गानि अभिन्नम् अञ्चिततरम् रोमाञ्चम् बिभराम्वभूवु ॥५३॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान शकर द्वारा विस्तारित किए गए, विजयश्री से विभूषित राजपुत्र अर्जुन के पराक्रम को देखने वाले, तत्वज्ञानी मुनियो के भी अग सघन सुन्दर रोमाच से युक्त हो गए।

टिप्पणी—तत्वज्ञानी विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि वे यह जानते थे कि अर्जुन नारायण के अशभूत अवतार हैं।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

—०—

# सोलहवाँ सर्ग

ततः किराताधिपतेरलघ्वीमाजिक्रिया वीक्ष्य विवृद्धमन्यु ।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिर विचिन्वन्निति कारणानि ॥१॥

अन्वय —तत किराताधिपते अलघ्वीम् आजिक्रियाम् वीक्ष्य विवृद्धमन्युः विविक्ततर्क स चिर कारणानि विचिन्वन् इति तर्कयामास ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर किरात सेनापति ( वेषधारी भगवान् शकर ) की असाधारण रणनिपुणता देखकर अर्जुन अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और अपने विशुद्ध अनुमान के बल पर वह बडी देर तक कारणो का अन्वेषण करते हुये इस प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे ॥१॥

[तेईस श्लोको मे अर्जुन के तर्क वितर्क का वर्णन किया गया है—]

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखा क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्त ॥२॥

अन्वय —मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखा विक्रान्तनराधिरूढा सहिष्णव , युधाम् अभिज्ञा नगोच्छ्रायम आक्षिपन्त इव नागा इह न क्रामन्ति ॥२॥

अर्थ—इस युद्ध मे निरन्तर मदवर्षा से श्यामल गण्डस्थल वाले, पराक्रमी शूरवीरो से अधिष्ठित, युद्ध का कष्ट उठाने मे समर्थ, रणकुशल, ऊँचाई मे पर्वतो को भी तिरस्कृत करने वाले गजराज ( भी ) नही घूम रहे हैं ॥२॥

टिप्पणी—अर्थात् इस युद्ध मे तो ऐसे गजराज भी नही हैं, तब फिर मेरी शक्ति का इस प्रकार से सर्वत्र क्यो ह्रास दिखाई पड रहा है ।

विचित्रया चित्रयतेव भिन्ना रुच रवे केतनरत्नभासा ।
महारथौघेन न सन्निरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥३॥

अन्वय —विचित्रया केतनरत्नभासा भिन्ना रवे रुच चित्रयता इव पयोद-मन्दध्वनिना महारथौघेन धरित्री न सन्निरुद्धा ॥३॥

अर्थ—अपनी ऊँची-ऊँची पताकाओ की अनेक वर्णों वाली रत्नप्रभा से सूय की किरणो को रग बिरगी बनाने वाली बादलो के समान गभीर गर्जन करने वाली, वड वडे रथो की पक्तियो से भी धरती सकुल नही दिखाई पड रही है ॥३॥

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमाल परिस्फुरच्चामरफेनपक्ति ।
विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भ ॥४॥

अन्वय —इह समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमाल परिस्फुरच्चामरफेनपक्ति अश्वीय जलधे अम्भ इव विभिन्नमर्यादम् आशा न आतनोति ॥४॥

अर्थ—इस युद्ध म चमकत हुए भाला-रूपी महान तरगा स युक्त, फर-फराते हुए चमर रूपी फेन पक्तियो स सुशोभित, अश्वारोही जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान दिशाओ को अमर्यादित करते हुए आच्छादित नही कर रहे हैं ॥४॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषै समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतय प्राप्ततडित्त्विष खे विवस्वदशुज्वलिता पतन्ति ॥५॥

अन्वय —हत आहत इति उद्धतभीमघोषै योद्धृभि अभ्यमित्र समुज्झिता विवस्वदशुज्वलिता प्राप्ततडित्त्विष हेतय खे न पतन्ति ॥५॥

अर्थ—इस युद्ध म 'मारो' 'काटो'—की भयकर ध्वनि करनेवाले योद्धाओ के द्वारा शत्रुओं पर छोडे गए शस्त्रास्त्र समूह, सूय की किरणो से प्रज्वलित होकर बिजली के समान चमकत हुए आकाश म नहीं गिर रहे हैं ॥५॥

अभ्यायत सन्ततधूमधूम्र व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रज प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्न तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥६॥

अन्वय —अभ्यायत अन्तकस्य सन्ततधूमधूम्र व्यापि प्रभाजालम् इव प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्न रज मातरिश्वा व्योमनि न तनोति ॥६॥

अर्थ—इस रणभूमि मे वीरो को मारने के लिए समागत यमराज के निरन्तर धूम की तरह सर्वत्र व्याप्त प्रभा-जाल के समान, वेगवान घोडो तथा रथ के चक्को से उठी हुई धूल को पवन आकाश मे नही फैला रहा है ॥६॥

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम् ॥७॥

अन्वय—अत्र रासभधूसरेण भूरेणुना लोचनाना वर्त्मनि तिरोहिते तेजस्विभि. उत्सुकाना सुरसुन्दरीणाम् अह्नि प्रदोषः नास्ति ॥७॥

अर्थ—इस युद्ध मे गधे के समान धूसरित वर्ण की पृथ्वी की धूल से आँखो के मार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर, तेजस्वी वीरो को वरण करने के लिए आई हुई उत्कठित देवागनाओ को दिन मे ही रात्रि काल का भ्रम नही हो रहा है।

टिप्पणी—अर्थात् अन्य युद्धो मे तो धूल से जो अन्धकार व्याप्त था, उससे देवांगनाओ को दिन मे ही रात्रि का भ्रम हो जाता था, इसमे तो यह भी नही हो रहा है।

रथाङ्गसंक्रीडितमश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि ।
संघर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्लादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ॥८॥

अन्वयः—रथाङ्गसङ्क्रीडितम् अश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि, सघर्षयोगात् इव मूर्छितानि दुन्दुभीना ह्लाद न निगृह्णन्ति ॥८॥

अर्थ—(इस युद्ध मे) रथो के चक्को की घरघराहट, घोडो की हिनहिनाहट, भीषण रूप से मतवाले हाथियो की चिग्घाड—ये सब ध्वनियाँ मानो परस्पर स्पर्धा करते हुए एक होकर ऐसे भयंकर नही बन रही हैं कि जिससे दुन्दुभियों की आवाज भी तिरस्कृत हो जाती हो ॥८॥

अस्मिन्यश.पौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।
मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीत करिशीकराम्भः ॥९॥

अन्वय—अस्मिन यश पौरुषलोलुपानाम अरातिभि प्रत्युरस क्षताना मूर्छान्तरायम आसारशीत करिशीकराम्भ मुहु न उच्छिनत्ति ॥९॥

अथ—इस युद्ध म यश और पुरुषाथ के लोभी एव शत्रुआ द्वारा हृदय-स्थल म आहत वीरो के मूर्च्छारूपी सग्राम विघ्न को वषा की धारा के समान शीतल हाथियो के ( शुण्डदण्ड से फेंका गया ) जल शीकर बारम्बार नष्ट नही कर रहे है ॥९॥

टिप्पणी—अर्थात अय युद्धो म जब पुरुषार्थी वीर आहत होकर मूच्छित हो जाते थे और इस प्रकार उनके सग्राम म विघ्न पड जाता था तब हाथिया के सूँडो ( शुण्डदण्ड ) से फेंके गए जलबिदु बारम्बार उनकी मूर्च्छा भग कर दिया करत थे।

असृड्नदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भि पदवी ध्वजिन्या ।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघै पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥१०॥

अन्वय—असृग्नदीना तटानि उपचीयमानै ध्वजिया पदवी विदारयद्भि आश्यानघनै शोणितौघै पकै इव उच्छ्रायम न आयान्ति ॥१०॥

अर्थ—इस युद्ध म रक्त की नदिया के तट उत्तरोत्तर वढते हुए सेना के माग को कठिन बनाने वाले, कुछ सूखे कीचड के सदृश रक्त के लोथडा से ऊँचे नही हो रहे हैं ॥१०॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तै प्रियाङ्कशीता नभस पतन्ती ।
नेह प्रमोह प्रियसाहसाना मन्दारमाला विरलीकरोति ॥११॥

अन्वय—इह दन्तिदन्तै परिक्षत वक्षसि नभस पतन्ती प्रियाङ्कशीता मन्दारमाला प्रियसाहसाना प्रमोह न विरलीकरोति ॥११॥

अथ—इस युद्ध म हाथिया के दाँतो से वक्षस्थल म अत्यन्त आहत होकर गिरे हुये साहसी वीरो की मूर्च्छा को आकाश से गिरती हुई प्रियतमा की गोद के समान शीतल मन्दारमाला नही शान्त कर रही है ॥११॥

टिप्पणी—अय युद्धो म हाथी से युद्ध करने वाले साहसी वीर का आश्चर्य

जनक पराक्रम देखकर देवता लोग आकाश से मन्दार की माला बरसाते थे, किंतु इस म तो यह भी नही हो रहा है।

निपादिसनाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण ।
अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥१२॥

अन्वय —करिशीकरेण परीयमाणे निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे अर्कत्विषोन्मीलितम् आखडलकार्मुकस्य खड न अभ्युदेति ॥१२॥

अर्थ—इस युद्ध मे हाथियो के सूँडो से छोडे गये जल-बिन्दुओ से व्याप्त गजारोहियो के कवचो मे लगी मणियो की प्रभा सूर्य की किरणो से मिलकर इन्द्रधनुष का-सा खड नही बना रही है ॥१२॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्य परवारणेन ।
नावर्तमाना निनदन्ति भीम मपानिधेराप इव ध्वजिन्य ॥१३॥

अन्वय —पक्षवता महीभृता इव परवारणेन मध्य विगाह्य भिन्ना ध्वजिन्य' अपा निधे आप इव आवर्तमाना भीम न निनदन्ति ॥१३॥

अर्थ—पक्षयुक्त मैनाक पवत के समान शत्रु के गजराज के मध्यभाग मे घुस आने पर इधर-उधर भागती हुई सेना जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान तरगायमान होती हुई भयकर कोलाहल नहीं कर रही है ॥१३॥

महारथाना प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्था ॥१४॥

अन्वय —प्रतिदन्ति अनीकम् अधिस्यदस्यन्दनम उत्थिताना महारथाना पन्था आमूललूनै मातगहस्तै अतिमन्युना इव न व्रियते ॥१४॥

अर्थ—हाथियो की सेना पर आक्रमण करने वाले वेगवान रथो पर आरूढ महारथियो का मार्ग ( इस युद्ध मे ) समूल कटे हुए गजराजो के सूँडो से मानो अतिक्रोध के कारण नही रोका जा रहा है ॥१४॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियाया शिरोरुहाणा शिथिल कलाप ।
न बर्हभार पतितस्य शङ्कोर्निषादिवक्ष स्थलमातनोति ॥१५॥

अन्वय—पतितस्य शङ्को: बर्हभार: धृतोत्पलापीड: प्रियाया: शिथिल-शिरोरुहाणा कलाप: इव निषादि वक्ष:स्थल न आतनोति ॥१५॥

अर्थ—( वक्षस्थल मे ) धँसे हुए बरछो का मयूरपिच्छ ( अन्य युद्धो की भाँति इस युद्ध मे ) कमल की माला से सुशोभित प्रियतमा के शिथिल केश-कलापो के समान गजारोहियो के वक्षस्थल को आवृत नही कर रहा है ॥१५॥

टिप्पणी—बरछों के पिछले भाग मे पहचान के लिए मयूर के पिच्छ लगे रहते थे।

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि ।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥१६॥

अन्वय.—अत्र संहारे इव तेजस्विषु अस्तसख्याम् अह्नाय जीवितानि उज्झत्सु मृत्युः लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वम् आनन न व्याददाति ॥१६॥

अर्थ—इस युद्ध मे प्रलय काल की तरह तेजस्वी वीरो के अपार सख्या में कट-कट कर तुरन्त ही प्राण छोड देने पर अपनी जीभ लपलपाते हुए सिर तीनो लोको के भक्षण के लिए मृत्यु की भाँति अपना मुँह नही बाए हुए हैं ॥१६॥

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम् ।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥१७॥

अन्वय:—इयं मम शक्ति: च दुर्वारमहारथाना महता बलाना वीर्यम् आक्षिप्य ताराधिपधाम्नि सौरी दीप्तिः इव हीनयुद्धे आवस्यति ॥१७॥

अर्थ—यह मेरी शक्ति, जो कभी परम पराक्रमी महारथियो के महान् पराक्रम को भी ध्वस्त करने वाली थी, वही इस तुच्छ युद्ध मे चन्द्रमा के तेज मे सूर्य की प्रभा की तरह लुप्त हो रही है ॥१७॥

टिप्पणी—अर्थात् यह बिल्कुल उल्टा हो रहा है।

माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः ।
गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥१८॥

अन्वय —एषा माया स्वित् मतिविभ्रम वा मे वीर्यं ध्वस्त नु उत अहम् अन्य हि गाण्डीवमुक्ता मे शरा. यथापुरा किराते न पराक्रमन्ते ॥१८॥

अर्थ—यह कोई माया है या मेरा ही बुद्धिभ्रम है या मेरा पराक्रम ही तो नही ध्वस्त हो गया है, या मैं ही तो कुछ दूसरा नही हो गया हूँ, क्योंकि गाण्डीव से छूटे हुए मेरे बाण जैसे पहले अपना पराक्रम दिखाते थे वैसे इस किरात मे नही दिखला रहे हैं ॥१८॥

पुस पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुष प्रणादैः ।
नून तथा नैष यथास्य वेष प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा ॥१६॥

अन्वय —उत्तमस्य पुस मध्यमम् पदम् धनुष प्रणादै द्विधाकुर्वन् इव एष. नून न अस्य यथा वेष हि चेष्टा प्रच्छन्नम् अपि ऊहयते ॥१६॥

अर्थ—पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् वामन के मध्यम पद आकाश को अपने धनुष की टकार से दो भागो मे विदीर्ण करते हुए की तरह यह किरात निश्चय ही वैसा नही है जैसी कि इसकी वेश-भूषा है। क्योंकि चेष्टाओ से मनुष्य का छिपा हुआ रूप भी प्रकट हो जाता है ॥१६॥

धनु. प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।
सन्धानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसम्भेद इवापवर्गे ॥२०॥

अन्वय —धनु रुषा इव प्रबन्धध्वनित मौर्वी सकृत विकृष्टा वितता इव सन्धानम् उत्कर्ष व्युदस्य इव अपवर्गे मुष्टे असम्भेद इव ॥२०॥

अर्थ—इसका धनुष मानो क्रुद्ध होकर निरन्तर टकार करता रहता है। प्रत्यञ्चा एकबार खींचने पर बराबर खिंची हुई-सी रहती है। बाणो का सन्धान तरकस से निकालने के बिना ही जैसा होना है एव बाणो का छोडना तो जैसे मुट्ठी के बिना बाँधे ही होता जा रहा है ॥२०॥

टिप्पणी—इन सब बातो से इस किरात के असाधारण हस्तलाघव की सूचना मिलती है।

असाववष्टब्धनतौ समाधिं शिरोधराया रहितप्रयासं ।
धृता विकारास्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मी शशलाञ्छनस्य ॥२१॥

अन्वय — असाववष्टब्धनतौ शिरोधराया समाधिं रहितप्रयासं विकारान् त्यजता मुखेन शशलाञ्छनस्य प्रसादलक्ष्मी धृता ॥२१॥

अर्थ—इसके दोनों कंधे अविचल हैं तथा नीचे की ओर झुके हुए हैं। और गरदन तनिक भी इधर उधर नहीं हिलती और उससे यह नहीं ज्ञात होता कि यह तनिक भी प्रयास कर रहा है। मुख पर विकार की मात्रा भी नहीं है जिससे वह चन्द्रमा की-सी कान्ति से युक्त दिखाई पड़ता है ॥२१॥

टिप्पणी—निदर्शना अलङ्कार।

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः ।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम् ॥२२॥

अन्वय —कार्यवशागतेषु स्थानेषु देहः विष्टब्धतया न प्रहीयते ससौष्ठवः शराणां पातः च स्थितप्रयातेषु लक्ष्येषु सदृशः ॥२२॥

अर्थ—युद्ध में कार्यवश इधर उधर का पैंतरा बदलने पर भी इसका शरीर अपने में अविचल रहता है, हिलता डुलता या ढीला-ढाला नहीं होता तथा अत्यन्त लाघव के साथ इसके बाणों का संधान तो चंचल और अचल—दोनों प्रकार के लक्ष्यों में एक जैसा हो रहा है ॥२२॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे ।
भीष्मेऽप्यसम्भाव्यमिदं गुरौ वा न सम्भवत्येव वनेचरेषु ॥२३॥

अन्वय —परस्य विवरे भूयान् अभियोगः आत्मरन्ध्रे प्रसह्य संरक्षणम् इदं भीष्मे अपि गुरौ वा असम्भाव्यं वनेचरेषु न सम्भवत्येव ॥२३॥

अर्थ—यह शत्रु की छोटी सी त्रुटि की भी विशेष जानकारी रखता है और अपनी निजी त्रुटियों की भी तुरन्त रक्षा कर लेता है। इसकी ये दोनों विशेषताएँ

सो भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण मे भी असभव हैं, किरातों मे तो नितान्त ही असम्भव हैं ॥२३॥

टिप्पणी—इसलिए यह किरात नहीं है, किरात वेशधारी कोई अमानव पुरुष है।

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रवलेन वीर्यम् ।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धि ॥२४॥

अन्वय—अप्राकृतस्य आहवदुर्मदस्य अस्य वीर्यम् अस्त्रबलेन निवार्यम अल्पीयस अपि आमयतुल्यवृत्ते रिपो विवृद्धि महोपकाराय ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार उपर्युक्त रीति से असाधारण पराक्रमशाली एव रण के मद से उन्मत्त इस किरात के तेज को किसी दिव्यास्त्र के द्वारा निवारित करना चाहिए, क्योकि छोटे से छोटे शत्रु की भी वृद्धि रोग की भाँति महान् अपकारिणी सिद्ध होती है ॥२४॥

टिप्पणी—जब छोटे से शत्रु की वृद्धि महान् अपकारिणी होती है तो यह तो महान पराक्रमी तथा तेजस्वी शत्रु है, इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

स सम्प्रधार्यैवमहार्यसार सार विनेष्यन्सगणस्य शत्रो ।
प्रस्वापनास्त्र द्रुतमाजहार ध्वान्त घनानद्ध इवार्धरात्र ॥२५॥

अन्वय—अहार्यसार स एव सम्प्रधार्य सगणस्य शत्रो सार विनेष्यन् प्रस्वापनास्त्र घनानद्ध अर्धरात्र ध्वान्तम् इव द्रुतम आजहार ॥२५॥

अर्थ—असहनीय पराक्रमशाली अर्जुन ने इस प्रकार का निश्चय करके प्रमथगणो समेत अपने मुख्य शत्रु के पुरुषार्थ को दूर करने के लिए अपने प्रस्वापन नामक अस्त्र को इस प्रकार से तुरन्त खीचा, जिस प्रकार से निविड घनो से व्याप्त अर्धरात्रि का समय अन्धकार को धारण करता है ॥२५॥

प्रयुक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्त्ररश्मे ।
[व]नानीव महातमिस्रा छाया ततानेशवलानि काली ॥२६॥

अन्वय —प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा महस्ररश्मे धाम निरुन्धती काली छाया ईशबलानि महातमिस्रा महावनानि इव ततान ॥२६॥

अर्थ—निरन्तर जलने वाली दावाग्नि के धुएँ के सदृश धूसर वर्ण की, सूर्य के तेज को आवृत करने वाली काली छाया ने शंकर जी की समस्त सेना को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से निविड अन्धकार घने जङ्गलों को व्याप्त कर लेता है ॥२६॥

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भताया पदवीं हरन्ती ।
सभेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ॥२७॥

अन्वय —तत् प्रथमं प्रसह्य आसादिता प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती भीमा निद्रा सभा इव गणानाम् प्रतिभागुणस्य निरासम् विदधे ॥२७॥

अर्थ—उस घोर भयंकर मोहनी निद्रा ने पहली ही बार में हठपूर्वक प्राप्त होकर प्रमथ गणों की व्यवहार-धृष्टता को दूर कर प्रतिभा रूपी गुणों का इस प्रकार से लोप कर दिया जिस प्रकार से विद्वानों की सभा में प्रथम बार जाने से साधारण व्यक्ति की वाक्पटुता दूर हो जाती है ॥२७॥

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।
केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ॥२८॥

अन्वय —केचित् उत्तमवंशजत्वात् गुरुस्थिराणि अनुशीलनेन विज्ञातसाराणि गुणान्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि इव समाश्रित्य तस्थुः ॥२८॥

अर्थ—कुछ प्रमथ सैनिक उत्तम वंश में उत्पन्न होने के कारण महान् एवं सुदृढ़ तथा पुराने परिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा से युक्त अपने धनुषों का, उत्तम कुलोत्पन्न, महान, सुदृढ़ एवं चिरपरिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले मित्रों के समूह की भाँति, सहारा लेकर खड़े रह गए ॥२८॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य विपत्ति के समय अपने योग्य मित्रों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार से कुछ प्रमथों ने अपने-अपने धनुषों का सहारा लिया । उसी पर टेक लगाकर वे खड़े हो गए ।

कृतान्त दुर्वृत्त इवापरेषा पुर प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे ।
अतर्कित पाणितलान्निपेतु क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥२९॥

अन्वय —कृतान्तदुर्वृत्त इव पाण्डवास्त्रे पुर प्रतिद्वन्द्विनि तदा अपरेषाम् आयुधानि क्रियाफलानि इव अतर्कितम् पाणितलात निपेतु ॥२९॥

अर्थ—दैव की प्रतिकूलता की भाँति पाण्डुपुत्र अर्जुन के उस प्रस्वापन अस्त्र के विपक्षी रूप मे सम्मुखवर्ती होने पर अन्य वीरा के अस्त्र समूह बिना विचार किए ही इस प्रकार से उनके हाथो से नीचे गिर पडे जिस प्रकार से दैव की प्रतिकूलता मे कृषि आदि नष्ट हो जाती है ॥२९॥

असस्थलै केचिदभिन्नधैर्या स्कन्धेषु सश्लेषवता तरूणाम् ।
मदेन मोलन्नयना सलील नागा इव स्रस्तकरा निषेदु ॥३०॥

अन्वय —अभिन्नधैर्या केचित् असस्थलै सश्लेषवता तरूणा स्कन्धेषु मदेन मीलन्नयना नागा इव स्रस्तकरा सलीलम् निषेदु ॥३०॥

अर्थ—इस विषम परिस्थिति मे भी धैर्य न छोडने वाले कुछ प्रमथ गण अपने कधो से लगे हुए वृक्षो के तना पर मद के कारण आँखें मूँदे हुए गजो की तरह लीलापूर्वक अपने हाथो ( सूँडा ) को ढीला किए हुए बैठे रहे ॥३०॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूर्ध्न प्रणम्यमान तपसा निवासै ।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेज ॥३१॥

अन्वय —अथ तिरोहितेन्दो शम्भुमूर्ध्न सुमेरुशृङ्गात् आर्कबिम्बम् इव तपसा निवासै प्रणम्यमान पिशङ्ग तेज उच्चै उदियाय ॥३१॥

अर्थ—तदन्तर किरात वेश के कारण छिपे हुए चन्द्रमा वाले भगवान् शबर के भालप्रदेश से तपस्वियो द्वारा प्रणाम किया जाता हुआ पीले वर्ण का तेज इस प्रकार से ऊपर की ओर उदित हुआ जिस प्रकार से ( चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर ) सुमेरु के शिखर से ( तपस्वियों द्वारा प्रणम्य ) सूर्य का मण्डल उदित होता है ।

छाया विनिर्धूय तमोमयी ता तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकास द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशति गणेभ्य ॥३२॥

अन्वय —इन्दुमौले द्युति तत्त्वस्य संवित्ति अपविद्याम् इव ता तमोमयी छाया विनिर्धूय गणेभ्य आलोकम अभ्यादिशती विकास ययौ ॥३२॥

अर्थ—चन्द्रमौलि शकर की वह प्रभा उस अन्धकारमयी निद्रा को दूर कर प्रमथगणो को आलोक प्रदान करती हुई इस प्रकार से विकसित हुई जिस प्रकार म तत्त्वज्ञान का उदय अविद्या के अन्धकार को नाश करके विकसित होता है ॥३२॥

त्विपा तति पाटलिताम्वुवाहा सा सवत पूर्वसरीव सन्ध्या ।
निनाय तेपा द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रता लोचनपङ्कजानि ॥३३॥

अन्वय —सर्वत पाटलिताम्वुवाहा त्विपा तति सर्वत पूर्वसरी सन्ध्या इव उल्लसन्ती तेपा लोचनपङ्कजानि द्रुत विनिद्रता निनाय ॥३३॥

अर्थ—चारो ओर से मेघमण्डल को रक्तवर्ण का बनाती हुई वह ज्योतिमाला प्रात काल की सन्ध्या अर्थात् उषा की तरह फैलती हुई उन प्रमथ गणो के नेत्र-कमलो को शीघ्र ही प्रफुल्लित करने लगी ॥३३॥

पृथग्विधान्यस्त्रविरामवुद्धा शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन वलाहकाना ज्योतीपि रम्या इव दिग्विभागा ॥३४॥

अन्वय —अस्त्रविरामवुद्धा ते वलाहकाना वितानेन मुक्ता रम्या दिग्विभागा. ज्योतीपि इव पृथग्विधानि शस्त्राणि भूय प्रतिपेदिरे ॥३४॥

अर्थ—अर्जुन के प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवो के शान्त हो जाने पर चेतना को प्राप्त वे प्रमथगण, बादलो की घटाओ से मुक्त होने के कारण मनोहर दिशाओ के भाग जिस तरह से नक्षत्रो से सुशोभित हो जाते हैं उसी तरह से विविध प्रकार के शस्त्रो को धारण करके पुन सुशोभित होने लगे ॥३४॥

द्यौरुन्ननामेव दिश प्रसेदु स्फुट विसस्रे सवितुर्मयूखै ।
क्षय गतायामिव यामवत्या पुन समीयाय दिन दिनश्री ॥३५॥

अन्वय—यामवत्या क्षय गतायाम् इव द्यौ उन्नताम इव दिश प्रसेदु सवितु मयूखै स्फुट विसस्रे दिनश्री पुन दिन समीयाय ॥३५॥

अर्थ—उस समय रात्रि के व्यतीत हो जाने के समान अन्तरिक्ष मानो ऊपर उठ आया, दिशाएँ सुप्रसन्न हो गयी, सूर्य की किरणें स्पष्ट होकर विस्तृत हो गयीं, और दिन की शोभा ने पुन दिन का आश्रय लिया ॥३५॥

टिप्पणी—समुच्चय अलकार और उत्प्रेक्षा अलकार का सकर।

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्न दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णु ॥३६॥

अन्वय—भुजवीर्यशाली जिष्णु महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेन इव परेण शिथिलप्रयत्न रुग्णे प्रबन्धनाय भुजङ्गपाशान् प्रजिघाय ॥३६॥

अर्थ—तदनन्तर परम बाहुबलशाली अर्जुन ने महान् दुर्ग की भाँति दुगम अपने प्रस्वापन अस्त्र के दिग्गजों के समान शत्रु द्वारा थोडे ही प्रयास मे व्यर्थ बना दिये जाने पर, सम्पूर्ण प्रमथ सैनिकों को बाँधने के लिए सर्प-रूपी पाशो का ( सर्पास्त्र का ) प्रहार किया ॥३६॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवी विवव्रे ॥३७॥

अन्वय—लसत्तडिल्लोलविषानलानि जिह्वाशतानि अजस्रम् उल्लसयन्ती भुजगेन्द्रसेना त्रासात् नभश्चरैं निरस्ता तत् पदवी विवव्रे ॥३७॥

अर्थ—चमकती हुई बिजली के समान चपल विषाग्नि से युक्त, सैकडों जिह्वाओ को निरन्तर लपलपाती हुई सर्पराजों की सेना ने अपने भय से आकाशचारियो को दूर भगाकर उनके समूचे मार्ग अर्थात् सम्पूर्ण आकाश मण्डल को आच्छादित कर लिया ॥३७॥

दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्भोगै प्रशस्तासितरत्ननीलै ।
रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ॥३८॥

अन्वयः—दिङ्नागहस्ताकृतिम् उद्वहद्भिः प्रशस्तासितरत्ननीलैः भोगैः सर्पावलिः उल्लसन्ती नभोर्णवस्य तरङ्गमाला इव रराज ॥३८॥

अर्थ—दिग्गजो की सूंड़ो के सदृश आकार को धारण करने वाली एवं सुन्दर इन्द्रनील मणि के समान नीले शरीर से युक्त वह सर्पपंक्ति आकाश मार्ग मे चमकती हुई आकाश-रूपी समुद्र की तरङ्ग-माला के समान सुशोभित हुई ॥३८॥

टिप्पणी—रूपकोत्थापित उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं फणावतामुत्फणमण्डलानाम् ।
गच्छन्निवास्तं वपुरभ्युवाह विलोचनानां सुखमुष्णरश्मिः ॥३९॥

अन्वयः—उष्णरश्मिः अस्तं गच्छन् इव उत्फणमण्डलानां फणावतां निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं विलोचनानां सुखं वपुः अभ्युवाह ॥३९॥

अर्थ—भगवान भास्कर मानो अस्तगत होते हुए के समान, ऊपर फण उठाये हुए उन सर्पो के फूत्कारो के धुंए से अपनी किरण-माला के छिप-जाने के कारण (उस समय) आँखो से सुखपूर्वक देखने योग्य शरीर ( मण्डल ) धारण करने लगे ॥३९॥

प्रतप्तचामीकरभासुरेण दिशः प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः ।
निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥४०॥

अन्वयः—प्राणहरेक्षणानां लोचनेभ्यः प्रतप्तचामीकरभासुरेण प्रकाशेन दिशः पिशङ्गयन्त्यः महोल्का इव ज्वाला निश्चक्रमुः ॥४०॥

अर्थ—आँख के विष से ही प्राण हरण करने वाले उन दृष्टिविष नामक सर्पों के नेत्रो से, तपाए हुए सुवर्ण की तरह प्रदीप्त अपने प्रकाश से दिशाओ को पीले वर्ण की बनाती हुई ज्वालाएँ महान् उल्काओ के समान बाहर निकली ॥४०॥

आक्षिप्तसम्पातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम् ।
वृतं नभो भोगिकुलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥४१॥

अन्वय —आक्षिप्तसम्पातम् अपेतशोभम् उद्वह्निधमाकुलदिग्विभाग भोगि-कुलै वृत नभ परोपरुद्धस्य पुरस्य अवस्था भेजे ॥४१॥

अर्थ—सिद्धो एव पक्षियो आदि के मार्गों के रुक जाने से सचाररहित, शोभाविहीन, चारो ओर से जलती हुई अग्नि से युक्त सभी दिशाओ मे धुएँ से व्याप्त उन सर्पों से आच्छादित आकाश-मडल शत्रुओ द्वारा घेरे हुए नगर की अवस्था को प्राप्त हो गया ॥४१॥

टिप्पणी—शत्रुओ द्वारा नगर पर घेरा डाल देने से भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। निदर्शना अलकार।

तमाशु चक्षु श्रवसा समूह मन्त्रेण तार्क्ष्योदयकारणेन।
नेता नयेनेव परोपजाप निवारयामास पति पशूनाम् ॥४२॥

अन्वय —पशूना पति त चक्षु श्रवसा समूह तार्क्ष्योदयकारणेन मन्त्रेण नेता नयेन परोपजापम् इव आशु निवारयामास ॥४२॥

अर्थ—तदनन्तर पशुपति भगवान् शङ्कर ने उन सर्पो के समूह को गरुड को उत्पन्न करने वाले अपने मन्त्र के प्रभाव से इस प्रकार शीघ्र ही दूर कर दिया जिस प्रकार से जन-नेता अपने न्याययुक्त शासन द्वारा शत्रु के षड्यन्त्र को शीघ्र ही विफल कर देता है ॥४२॥

प्रतिघ्नतीभि कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि।
गरुत्मता सहतिभिर्विहाय क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने ॥४३॥

अन्वय —द्युलोकभाजाम अपि कृतमीलितानि लोचनानि प्रतिघ्नतीभि गरुत्मता सहतिभि क्षणप्रकाशाभि इव विहाय अवतने ॥४३॥

अर्थ—स्वर्गलोक के निवासी अर्थात् निर्निमेष नेत्रो वाले देवताओ के भी मुँदे हुए नेत्रो को चौंधियाते हुए उन गरुडो के समूहो ने बिजली के प्रकाश की भाँति समूचे आकाश मडल को (तुरन्त) व्याप्त कर लिया ॥४३॥

तत सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डयन्जवेन।
जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीना गहनानि वायु ॥४४॥

अन्वय:—ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिः वायुः वनस्पतीनां गहनानि जरत्तृणानि इव जवेन मडलयन् वियत् निनाय ।।४४।।

अर्थ—तदनन्तर उन गरुडो के पक्षो से निकली हुई विविध प्रकार की गतियो से युक्त वायु ने बडे-बडे वृक्षो को भी पुराने तिनको के समान वेगपूर्वक मडलाकार बनाते हुए आकाशमडल मे पहुँचा दिया ।।४४।।

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।
व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ।।४५।।

अन्वय.—मनःशिलाभङ्गनिभेन भासा निकरेण पश्चात् निरुध्यमानं व्यूढैः उरोभिः च विनुद्यमानं नभः खगानां पुरः ससर्प इव ।।४५।।

अर्थ—मनःशिला (मैनसिल) के खड के समान कातिपुज से पिछले भाग मे आवृत्त एव विशाल वक्षस्थलो से ठेला जाता हुआ आकाशमडल उन गरुडो के आगे मानो स्वय भागने-सा लगा ।।४५।।

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीव इवाचकम्पे ।।४६।।

अन्वय.—जवानिलाघूर्णितसानुजाल. हिमाचल आसवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम दरीमुखैः इव पीत्वा क्षीवः आचकम्पे ।।४६।।

अर्थ—वेगवान् वायु से हिलते हुए शिखर-समूहो वाला हिमालय मदिरा जैसी लाल रङ्ग की एव चमकती हुई उन सुवर्णपखी गरुडो के पखो की कान्ति को मानो अपने गुफा-रूपी मुखो से पीकर मतवाले के समान डगमग करने लगा ।।४६।।

टिप्पणी—उपमा से व्यापित उत्प्रेक्षा अलकार ।

प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः ।
अन्तर्हितार्कैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिक्षिपिरे वनानाम् ।।४७।।

अन्वय.—प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तैः नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः अन्तर्हितार्कैः पतद्भिः परितः वनानां छायाः समाचिक्षिपिरे ।।४७।।

अर्थ—दिन और रात्रि की सन्धिबेला के समान सुशोभित, आकाशमंडल एवं पृथ्वी को पीले वर्ण में रँगने वाले एवं सूर्य को आच्छादित करनेवाले उन गरुड पक्षियों ने चारों ओर से वन की छाया को विलुप्त-सा कर दिया ॥४७॥

टिप्पणी—गरुडों के पङ्खों की स्वर्णिम आभा से भीतर-बाहर एक जैसा प्रकाश होने के कारण वन की छाया भी लुप्त हो गई।

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।
महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन ॥४८॥

अन्वयः—सः भोगिसङ्घः उग्रधाम्ना विनतासुताना सैन्येन महाध्वरे विध्यपचारदोषः महोदयेन कर्मान्तरेण इव शम निन्ये ॥४८॥

अर्थ—वह सर्पसमूह उन परम तेजस्वी गरुडों की सेना द्वारा इस प्रकार से शान्त हो गया जिस प्रकार से किसी बहुत बडे यज्ञ में कोई कर्मस्खलन रूपी दोष किसी महासामर्थ्यशाली प्रायश्चित्त के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥४८॥

टिप्पणी—अर्थात् अर्जुन का वह सर्पास्त्र शिवजी के गरुडास्त्र के द्वारा शान्त हो गया।

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।
अनिन्धनस्य प्रसभ समन्युः समाददेऽस्त्र ज्वलनस्य जिष्णुः ॥४९॥

अन्वयः—अस्त्रे भाग्ये इव रिपुपौरुषस्य साफल्य कृत्वा अपवर्ग गते समन्युः जिष्णुः अनिन्धनस्य ज्वलनस्य अस्त्र प्रसभं समाददे ॥४९॥

अर्थ—पूर्वजन्मार्जित पुण्य कर्म के समान शत्रु के पराक्रम को सफल बनाकर अपने सर्पास्त्र के (प्रभाव के) समाप्त हो जाने पर क्रोधयुक्त अर्जुन ने ईंधनादि सामग्री के बिना ही प्रज्वलित होने वाले अग्निबाण को तुरन्त ही ग्रहण किया ॥४९॥

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपंक्तिः ।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ॥५०॥

अन्वय:—ऊर्ध्वं तिरश्चीनम् अधश्च कीर्णैः ज्वालासटैः लङ्घितमेघपंक्तिः आयस्तसिंहाकृतिः जातवेदाः प्राण्यन्तम् इच्छन् इव उत्पात ॥५०॥

अर्थ—ऊपर, नीचे और इधर-उधर फैले हुए विकराल ज्वाला रूपी केसरों से मेघपंक्तियों को लाँघने वाला अपने शिकार के ऊपर छलाँग मारने के लिए उद्यत सिंह के समान आकृति वाला अग्नि मानो प्राणियों के संहार की इच्छा से ऊपर को प्रज्वलित हो उठा ॥५०॥

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।
विदीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः ॥५१॥

अन्वय.—भाभिः सवितुः मयूखान् भित्वा इव विष्वक् विसृतस्फुलिङ्गः अकृश कृशानु विदीर्यमाणाश्मनिनादधीर ध्वनि वितन्वन् जज्वाल ॥५१॥

अर्थ—अपने तेज से मानो सूर्य की किरणो को भेद कर चारो ओर प्रचड चिनगारी की वर्षा करते हुए वह विकराल अग्नि बड़ी-बड़ी चट्टानो के विदीर्ण होने के समान भयङ्कर ध्वनि करता हुआ धुआँधार जलने लगा ॥५१॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृंगान्क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥५२॥

अन्वय:—वह्निः पवनानुवृत्त्या चयान् इव तुङ्गशृगान् अद्रीन् इव क्वचित् हिरण्मयानि पुराणि इव किंशुकाना महावनानि इव ततान ॥५२॥

अर्थ—अग्नि अनुकूल पवन के कारण कही तो सुवर्णमय प्राकार की भाँति, कही ऊँचे शिखरो वाले पर्वत के समान, कही सुवर्णमय नगर की भाँति और कही फूले हुए पलाश के महावन के समान आकार धारण कर जलने लगा ॥५२॥

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥५३॥

अन्वय:—सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः मुहुः चलत्पल्लवलोहिनीभिः शिखिन उच्चैः शिखाभि. अवलीढाः तलेषु मुक्ताविशदाः बभूवुः ॥५३॥

अर्थ—सघन काजल के समान काले बादल वारम्वार चञ्चल पल्लवों के समान लोहित वर्णवाली अग्नि की ऊँची ज्वालाओं से जल-जलकर (जलरहित होने के कारण) निचले भाग में मुक्ता के समान शुभ्र बन गये ॥५३॥

लिलिक्षतीव क्षयकाल रौद्रे लोकं विलोलार्चिषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥५४॥

अन्वय:—क्षयकालरौद्रे विलोलार्चिषि रोहिताश्वे लोकं लिलिक्षति इव पिनाकिना पुनः हूतमहाम्बुवाहं पाशभृतः अस्त्रं प्रणिन्ये ॥५४॥

अर्थ—प्रलय काल के समान अत्यन्त भयंकर एवं अपनी लपलपाती हुई ज्वालाओं से मानो सम्पूर्ण लोक को चाट जाने के लिए इच्छुक अग्नि के चारों ओर फैल जाने पर पिनाकधारी शंकर जी ने पुनः बड़े-बड़े मेघों को बुलाने वाले वरुण अस्त्र का प्रयोग किया ॥५४॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः ।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥५५॥

अन्वय:—ततः धरित्रीधरतुल्यरोधसः तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः पयोमुचः अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः अपः प्रसक्तं मुमुचुः ॥५५॥

अर्थ—उस वरुणास्त्र का प्रयोग करने के अनन्तर बड़े-बड़े पर्वतों के समान आकारयुक्त बिजली की रेखाओं से चमकते हुए काले-काले बादल नीचे मुख कर के गिरने वाली आकाश-नदी के समान अविच्छिन्न जलधारा गिराने लगे ॥५५॥

टिप्पणी—अब यहाँ से वंशस्थ वृत्त छन्द है ।

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥५६॥

अन्वय:—पराहतध्वस्तशिखे अधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि शिखावतः वपुषि तप्ते अयसि इव कृतास्पदाः प्रथमे पयोनिपाताः ध्वनिं वितेनिरे ॥५६॥

अर्थ—जल वृष्टि से ज्वालाओ के शान्त हो जाने एवं प्रचड तेज के नष्ट हो जाने पर अग्नि के शरीर पर, तपाये हुए लाल लोहे पर गिरने के समान पहली बार मे गिरने वाली जलधारा छनछन की ध्वनि करने लगी ॥५६॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः क्वथनेन फेनताम् ।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसन्ततिः ॥५७॥

अन्वयः—महानले भिन्नसिताभ्रपातिभि. सद्य. क्वथनेन फेनतां समेत्य, परिक्षय व्रजद्भिः जलैः आर्द्रेन्धनवत् दिवि धूमसन्ततिः वितेने ॥५७॥

अर्थ—उस प्रचड अग्नि मे मानो खड-खंड होकर गिरने वाले श्वेत मेघ के समान उस जल की धारा, तुरन्त ही खौल कर फेन बनकर विनष्ट होती हुई गीले इन्धन के समान आकाश मे धुएँ की माला विस्तारित करने लगी ॥५७॥

स्वकेतुभिः पांडुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनु प्रभाभिदः ।
असस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विष. ॥५८॥

अन्वय.—पाडुरनीलपाटलैः स्वकेतुभिः समागताः शक्रधनु प्रभाभिदः विभावसोः त्विषः असस्थिता विचित्रचीनाशुकचारुताम् आदधिरे ॥५८॥

अर्थ—अपने कपिश, काले और लाल रङ्ग के विचित्र धूम रूपी-केतु से इन्द्रधनुष की कान्ति को तिरस्कृत करनेवाली अग्नि की कान्ति ने झिलमिलाते हुए चीन देश के धूप-छाँही रेशमी वस्त्र के समान अस्थिर (क्षणिक) सुन्दरता धारण की ॥५८॥

जलौघसम्मूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः ।
प्रशान्तिमेष्यन्धुतधूममंडलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ॥५९॥

अन्वयः—जलौघसम्मूर्च्छनं अमूर्च्छितस्वन. प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः धुतधूममडलः पावकः प्रशान्तिम् एष्यन् तत्र भूयान् इव बभूव ॥५९॥

अर्थ—बादलों से अविच्छिन्न रूप में गिरने वाले जल-प्रवाह के आघात से अग्नि के जलने का शब्द और अधिक गभीर हो गया एव बादलों मे चमकती हुई बिजली की चमक के मिश्रण मे उसकी दीप्ति भी अधिक बढ गयी—

इस प्रकार से विपुल धूममडल से शोभित वह अग्नि शान्त होते हुए भी उस प्रदेश मे पहले से भी अधिक मात्रा मे दिखाई पडने लगा ॥५९॥

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसा प्रपेदिरे ।
उपात्तसन्ध्यारुचिभिः सरूपता पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥६०॥

अन्वयः—प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसा पयसा चयैः विभिन्नाः कृशानवः उपात्तसन्ध्यारुचिभिः पयोदविच्छेदलवैः सरूपता प्रपेदिरे ॥६०॥

अर्थ—ऊपर उठती हुई समुद्र की लहरो के समान ढेर के ढेर उस जलराशि से जगह-जगह विभाजित अग्नि के अङ्गारे सायकालीन मेघो के छोटे-छोटे अरुण-वर्ण टुकडो के समान दिखाई पड रहे थे ॥६०॥

टिप्पणी—उपमा अलकार ।

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोनुदयाय सक्षयम् ।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥६१॥

*अन्वयः—अनन्तद्युतिः अपि विभिन्नमूलः असशयम् अनुदयाय सक्षयम् उपैति तथा हि तोयौघविभिन्नसहतिः सः हव्यवाहः पराभवम् प्रययौ ॥६१॥*

अर्थ—महान तेजस्वी भी हो यदि उसका मूल नष्ट हो जाता है तो वह निश्चय ही नष्ट हो जाता है और उसका फिर से उदय नही हो सकता। जलराशि से विशीर्ण हो जाने पर वह प्रचड अग्नि भी पराभूत हो ही गया ॥६१॥

टिप्पणी—अर्थान्तरन्यास अलकार ।

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानै-
रसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।
विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलाना
श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः ॥६२॥

अन्वयः—अथ विहितविधेयैः असितनगनितम्बश्यामभासा घनानां वितानैः मुक्ता द्यौः वह्निदाहात् इव विकसदमलधाम्ना नीलोत्पलानाम् अधिकविशुद्धाम् श्रिय आशु प्राप ॥६२॥

अर्थ—तदनन्तर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने वाले कज्जलगिरि के तट प्रदेश की भाँति काले वर्णवाले मेघों की घटाओं से मुक्त आकाश मानो अग्निदाह के कारण विकसित एवं निर्मल कान्ति से युक्त नीले कमल की अत्यन्त स्वच्छ शोभा को तुरन्त ही प्राप्त हुआ ॥६२॥

टिप्पणी—निदर्शना अलंकार। मालिनी छंद।

> इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं
> बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम् ।
> विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्ते
> सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः ॥६३॥

अन्वय—बहुसमरनयज्ञः सव्यसाची अरातिं सादयिष्यन् इति विविधं यत् अस्त्रम् उदासे विपरीतः विधिः न्यायवृत्ते पौरुषम् इव नीलकंठः सपदि तत् रिक्तताम् उपनिन्ये ॥६३॥

अर्थ—युद्ध के अनेक कौशलों के जानने वाले सव्यसाची अर्जुन ने अपने शत्रु किरातपति को पराजित करने के इरादे से जिन-जिन अस्त्रों का प्रयोग किया उन उन को नीलकंठ शंकर ने शीघ्र ही इस प्रकार से व्यर्थ बना दिया जिस प्रकार से न्यायनिष्ठ पुरुष के पराक्रम को प्रतिकूल दैव नष्ट कर देता है ॥६३॥

> वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः
> प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम् ।
> अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णु-
> र्वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः ॥६४॥

अन्वय—भूतपतिना अस्त्रेषु अपहृतेषु वर्षिष्यता दिनकृता जलेषु लोकः इव वीतप्रभावतनुः अपि अतनुप्रभावः जिष्णुः जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीं प्रत्याचकाङ्क्ष ॥६४॥

अर्थ—भविष्य में अनुग्रह करने वाले भगवान् शंकर के द्वारा अपने अस्त्रों के निष्फल कर दिये जाने पर क्षीणशक्ति होकर भी अर्जुन ने स्वभावतः अपने अत्यधिक तेज से अपनी भुजाओं की पराक्रम-रूपी सम्पदा को इस प्रकार से पुनः लाने की चेष्टा की जिस प्रकार से भविष्यत् में हजार-गुना अधिक कर देने की इच्छा रखने वाले सूर्य के द्वारा नदी-तडाग आदि का जल हरण कर लेने पर लोग अपने भुजबल का ( कुंआ आदि खोद कर उसका ) सहारा लेते हैं ॥६४॥

टिप्पणी—वसन्ततिलका छन्द ।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥१६॥

# सत्रहवाँ सर्ग

[नीचे के छ श्लोकों द्वारा अर्जुन की चेष्टाओं का वर्णन है...]

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवस्त्रेषु तिरोहितेषु ।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन्स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥१॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्मश्च तदीयवृद्ध्या ।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥२॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।
आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥३॥

वशोचितत्वादभिमानवत्या सम्प्राप्तया सम्प्रियतामसुभ्यः ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥४॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥५॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥६॥

**अन्वयः**—अथ आपदाम् उद्धरणक्षमेषु अस्त्रेषु मित्रेषु इव तिरोहितेषु गुरुणा स्वपौरुषेण इव शरासनेन धृतिम् अभिपुष्यन् गुरुश्रीः, भूरिप्रभावेण रणाभियोगात् प्रीतः तदीयवृद्ध्या विजिह्मः च स्पष्टः अपि अविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन् महाधूम-अद्रिवह्निः इव; परैः अहार्यं निजं महत् तेजः मित्रम् इव समाश्रित्य भीमे अरि-दुर्गे अस्खलितस्वभावम् उरुधैर्यं भुजालम्बम् इव आसादयन्, अभिमानवत्या वशोचितत्वाद् असुभ्यः सम्प्रियतां सम्प्राप्तया परेण समक्षम् आदित्सितया वध्वा इव कीर्त्या परितप्यमानः, नगानां पतिम् इव बद्धमूलं विपक्षं तरसा उन्मूलयिष्यन् त्रिमार्ग-गावेगः इव ईश्वरेण लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यः पार्थः संस्कारवत्त्वात् चेतः रमयत्सु

प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु यथार्थेषु शरेषु जय शब्देषु भावार्थ इव आशशंसे ॥१-६॥

अर्थ—तदनन्तर आपत्तियों से बचाने में समर्थ प्रस्वापन आदि अस्त्रों के मित्रादि के समान निष्फल हो जाने पर अपने महान् पौरुष की भाँति अपने गाण्डीव नामक धनुष के द्वारा धैर्य को बढ़ाते हुए अर्जुन की शोभा बहुत बढ़ गई। महान् पराक्रमी शत्रु के साथ युद्ध करने का अवसर उपस्थित होने के कारण वह प्रसन्न थे किन्तु उसकी वृद्धि से उनका चित्त बहुत खिन्न था। अपने तेज से वह विभासमान थे तथापि पर्वत पर जलते हुए उस अग्नि समूह के समान वे दिखाई दे रहे थे, जिसमें से बहुत धूँआ निकल रहा हो और जिसका अस्तित्व साफ-साफ प्रकट होने पर भी प्रकाश साफ-साफ न दिखाई पड़ रहा हो। शत्रुओं द्वारा अतिरस्करणीय अपने महान् तेजस्वी मित्र के समान अपने तेज का सहारा लेकर अर्जुन ने उस भयानक शत्रु रूपी दुर्ग में अर्थात् शत्रु सकट में अविचल रहने वाले अपने महान् धैर्य का ही करावलम्ब-सा किया। अपने कुल-शीलादि की अभिमानशालिनी एवं सर्वथा अनुकूल होने के कारण प्राणों से भी प्यारी वधू रूपी कीर्ति का अपने ही आँखों के सामने शत्रु द्वारा अपहरण होते देख वह अत्यन्त परिताप कर रहे थे। नगपति हिमवान् के सदृश बद्धमूल शत्रु को अपने बल वेग से उन्मूलित करने के इच्छुक गंगा के प्रवाह की भाँति अर्जुन का पराक्रम भी शंकर जी के अल्प प्रयास से ही निष्फल हो गया था। इस प्रकार से विचार करते हुए अर्जुन ने फिर भी विजय प्राप्ति के लिए अपने शरों का आश्रय लिया। अर्जुन के शर-प्रयोग अभ्यास और तत्सम्बन्धी अनेक गुणों के कारण चित्त को प्रसन्न करने वाले थे, सुप्रयोग शिक्षाभ्यास और गुणों के कारण हृदयानन्ददायी शब्दों के समान थे। [तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सुन्दर शब्दों से जिस प्रकार वैयाकरण लोग शब्दार्थ साधन करते हैं उसी प्रकार से अर्जुन ने भी धनुर्वेद शिक्षा और शर प्रयोग विधि के अभ्यास आदि के बल पर अपने सब प्रकार के गुणों से भरे बाणों के द्वारा विजय प्राप्त करने की कामना की] ॥१-६॥

टिप्पणी—पाँचवें श्लोक में एक पौराणिक कथा से उपमा दी गयी है। गंगा जी जिस समय आकाश से गिरी, वह चाहती थी कि हिमालय को तोड़-

फोडकर निकल जायें किन्तु शकर जी ने अपनी जटाओ में उनके वेग को ऐसा अवरुद्ध कर लिया कि उनके मनोरथ सफल नहीं हो सके। अर्जुन की इच्छा भी कुछ ऐसी ही थी किन्तु भगवान शकर ने उसे भी पूरी नही होने दी।

भूयः समाधानविवृद्धतेजा नैव पुरा युद्धमिति व्यथावान्।
स निर्ववामास्त्रममर्षं नुन्न विष महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥७॥

अन्वयः—भूयः समाधानविवृद्धतेजाः पुरा युद्धम् एव इति व्यथावान् सः *ईक्षणाभ्याम् महानागः विषम् इव अमर्षं नुन्नम् अस्र निर्ववाम ॥७॥*

अर्थ—इस प्रकार फिर से शकर जी के साथ युद्धार्थ तैयार होने पर अर्जुन का तेज बहुत वढ गया किन्तु यह सोचकर उन्हे अत्यधिक व्यथा हुई कि पहले किसी युद्ध मे ऐसी पराजय उनकी नही हुई थी। इस कारण से अपने दोनों नेत्रो से वे उसी तरह क्रोधजनित आँसू बरसाने लगे जैसे वहुत वडा सर्प अपनी आँखो से विष वरसाता है ॥८॥

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्त प्रस्नापयामास मुख निदाघः ॥८॥

अन्वयः—आहवायासविलोलमौले. संरम्भताम्रायतलोचनस्य तस्य रोषतप्तं मुख निदाघ. निर्वापयिष्यन् इव प्रस्नापयामास ॥७॥

अर्थ—युद्ध के परिश्रम के कारण विखरे हुए केश पाश से युक्त एव क्रोध के कारण तपाये हुए ताम्बे के सदृश लाल नेत्रो वाले अर्जुन के क्रोध से तमतमाते हुए मुखमण्डल को मानो धूप ने पसीना उत्पन्न करते हुए धो दिया था ॥८॥

टिप्पणी—अर्थात् उनके मुख पर पसीने की बूँद छहर उठी थी।

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स वभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः ॥९॥

अन्वय—क्रोधान्धकारान्तरितः सः घनोपरुद्ध. तिग्मरश्मिः वृष्टे. प्रभवाय तिस्रः ऊर्ध्वांशुराजी इव रणाय भ्रूभेदरेखा. वभार ॥९॥

अर्थ—क्रोधान्धकार से आच्छन्न अर्जुन ने मेघमण्डल म आच्छन्न सूर्य की भाँति भावी वृष्टि की सूचना देने वाली किरणमाला की तीन ऊर्ध्वगामिनी रेखाओ के समान रण मे फिर से शीघ्र ही प्रवृत्त होने की सूचना देने वाली अपने भ्रूभग ( भृकुटि ) की तीन टेढी रेखाएँ धारण कर ली थी ॥९॥

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चाप हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम् ।
बलानि शम्भोरिपुभिस्तताप चेतासि चिन्ताभिरिवाशरीर ॥१०॥

अन्वय —स अम्बुदनादि चाप दिङ्नाग अद्रिशृङ्गम् इव हस्तेन प्रध्वनय्य शम्भो बलानि अशरीर चेतासि चिन्ताभि इव इषुभि तताप ॥१८॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन ने मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करने वाले अपने गाण्डीव नामक धनुष को, जैसे कोई दिग्गज पर्वत शिखर को अपनी सूँड से उठा लेता है, वैसे ही हाथो से टकार कर शकर जी की सेना को अपने बाणों से इस प्रकार सन्तप्त किया जैसे कामदेव युवको के मन अपने विषय चिन्तन रूप बाणो से व्यथित करता है ॥१०॥

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते ।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्ति शराणा शितिकण्ठकाये ॥११॥

अन्वय —अभिनिविष्टबुद्धौ सद्वादिता इव विपक्षपाते गुणाभ्यसूया इव च अगोचरे वाक् इव शराणा शक्ति शितिकण्ठकाये उपरेमे ॥११॥

अर्थ—जिस प्रकार से शास्त्र ज्ञान से परिपुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य में प्रामाणिक वाणी व्यर्थ हो जाती है, अथवा दुराग्रही व्यक्ति मे हितोपदेश व्यर्थ हो जाता है, पक्षपातविहीन मनुष्य मे गुणो के प्रति ईर्ष्या व्यर्थ हो जाती है, तथा अगोचर ब्रह्म के विषय मे वाणी व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार से भगवान शकर के शरीर मे अर्जुन के बाणो की शक्ति व्यर्थ हो गयी ॥११॥

टिप्पणी—मालोपमा अलङ्कार।

उमापर्ति पाण्डुसुतप्रणुन्ना शिलीमुखा न व्यथयाम्बभूवु ।
अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥१२॥

अन्वय —पाण्डुसुतप्रणुन्ना शिलीमुखा उमापतिम अभ्युत्थितस्य अद्रिपते नितम्ब हैमनस्य अर्कस्य पादा इव न व्यथयाम्बभूवु ॥१२॥

अर्थ—पाण्डुपुत्र अर्जुन द्वारा चलाए गये बाणसमूह उमापति शकर जी को उसी प्रकार से व्यथित नही कर सके जिस प्रकार से हेमन्त काल के सूर्य की किरणें अत्युन्नत हिमालय के तट प्रदेश को नही पिघला सकती ॥१२॥

सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्र परान्रम तस्य पतिर्गणानाम् ।
विषाणभेद हिमवानसह्य वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥१३॥

अन्वय —गणाना पति तस्य पराक्रम वप्रानतस्य सुरद्विपस्य असह्य विषाण-भेद हिमवान् इव सप्रीयमाण अनुबभूव ॥१३॥

अर्थ—प्रमथो के स्वामी भगवान् शकर ने अर्जुन के उस तीव्र पराक्रम को इस प्रकार से प्रसन्न होते हुए सहन किया जिस प्रकार से तट-प्रहारकारी ऐरावत के असह्य दन्त प्रहारो को हिमालय सहन करता है ॥१३॥

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थ प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।
चिर विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ॥१४॥

अन्वय —हि तस्मै भारोद्धरणे समर्थं प्रताप बाहुम् इव प्रदास्यता कारणानाम् अपि कारणेन स अभिभव तदानीं चिर विषेहे ॥१४॥

अर्थ—पृथ्वी का भार उतारने मे समर्थ अपने प्रसाद रूपी प्रताप को भुजाबल के समान अर्जुन को वितरण करते हुए कारणो के भी कारण—ब्रह्मादि देवताओ के भी उत्पादक—शिवजी ने उस समय अर्जुन द्वारा किए गए अपने इस पराभव (अपमान) को चिरकाल तक सहन किया ॥१४॥

[ नीचे के चार श्लोको मे भगवान् शकर के अभिप्राय को प्रकट किया गया है—]

प्रत्याहतौजा कृतसत्त्ववेग पराक्रम ज्यायसि यस्तनोति ।
तेजासि भानोरिव निष्पतन्ति यशासि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥१५॥

अन्वय.—शम्भुः एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य मौलीन्दुलेखाविशदां कीर्ति विधास्यन् अनुक्रमेण पर्यायजयावसादां रणक्रिया इयेष ॥१८॥

अर्थ—भगवान् शंकर इस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वियों के बीच में अर्जुन की कीर्ति को अपने ललाट में स्थित चन्द्रलेखा के समान शुभ्र करने की इच्छा से क्रमशः जय और पराजय मिश्रित युद्ध-कौशल दिखाने के अभिलाषी हुए ॥१८॥

टिप्पणी—अर्थात् ऐसी युद्ध-चातुरी दिखाना चाहा, जिससे अर्जुन का उत्साह भंग न हो। कभी जय दिखाई पड़े, कभी पराजय, फिर कभी जय और कभी पराजय।

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः सा भूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघः।
सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥१९॥

अन्वयः—मुनेः विचित्रैः इषुभिः सः भूयान् भूतपतेः बलौघः आत्मलाभेन सह समुत्पतद्भिः जातिस्वभावैः जीवलोकः इव वशं निन्ये ॥१९॥

अर्थ—तपस्वी अर्जुन के बाणों ने भगवान् शङ्कर के उन असंख्य सैनिकों को इस प्रकार से अपने वश में कर लिया जिस प्रकार से जन्मजात स्वभाव जीवों को अपने वश में कर लेता है ॥१९॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जीव अपने जन्मजात स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते उसी प्रकार से वे प्रमथ गण भी अर्जुन के बाणों का अतिक्रमण नहीं कर सके।

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निशेमुः।
प्रदध्मतः सन्ततवेपथूनि क्षपाघनस्येव गवां कुलानि ॥२०॥

अन्वय.—त्रस्तानि सैन्यानि सन्ततवेपथूनि गवां कुलानि प्रदध्मतः क्षपाघनस्य इव शरान्धकारं तन्वतः तस्य रवं निशेमुः ॥२०॥

अर्थ—डरी हुई प्रमथों की सेना ने निरन्तर काँपते हुए अर्जुन की बाण-वर्षा के अन्धकार को विस्तारित करने वाले शब्दों को इस प्रकार से सुना जिस

प्रकार से बरसते हुए रात्रिकालीन मेघो के गभीर गर्जन को डरी हुई एव शीत से कापती हुई गौएँ सुनती हैं ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् प्रमथ-सेना केवल बाण वृष्टि का शब्द ही सुनती रही कुछ भी देखने या करने की शक्ति उसमे नही रह गयी थी ।

स सायकान्साध्वसविप्लुताना क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन ।
शशीव दोषावृतलोचनाना विभिद्यमान पृथगावभासे ॥२१॥

अन्वय—अतिसौष्ठवेन सायकान क्षिपन् स साध्वसविप्लुताना परेषा दोषावृतलोचनाना शशी इव पृथग् विभिद्यमान आबभासे ॥२१॥

अर्थ—अत्यन्त हस्तलाघव के साथ बाणो को चलाते हुए अर्जुन उन भयग्रस्त शत्रुओ को इस प्रकार से एक होकर भी अनेक दिखाई पडने लगे जिस प्रकार से काच, कामला आदि रोगो से पीडित मनुष्य एक चन्द्रमा को भी अनेक देखता है ॥२१॥

क्षोभेण तेनाथ गणाधिपाना भेद ययावाकृतिरीश्वरस्य ।
तरङ्गकम्पेन महाह्लदाना छायामयस्येव दिनस्य कर्तु ॥२२॥

अन्वय—अथ गणाधिपाना तेन क्षोभेण ईश्वरस्य आकृति महाह्लदाना तरङ्गकम्पेन छायामयस्य दिनस्य कर्तु इव भेद ययौ ॥२२॥

अर्थ—तदनन्तर प्रमथ गणो के उस क्षोभ से भगवान् शकर की मूर्ति भी इस प्रकार से विकार को प्राप्त हो गयी जिस प्रकार बडे-बडे सरोवरो मे चचल लहरो के कपन के कारण छायागत सूर्य का प्रतिबिम्ब विकृत हो जाता है ॥२२॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमण्डल मे किसी प्रकार की विकृति न रहने पर भी बडे-बड सरोवरो मे चचल तरगो के कम्पन के कारण उसका प्रतिबिम्ब काँपता हुआ दिखाई पडता है उसी प्रकार भगवान शकर यद्यपि निर्विकार थे, तथापि प्रमथगणो के विक्षोभ के कारण वे भी क्षुब्ध दिखाई पडने लगे ।

[ यदि भगवान् शकर भी विकृत हो गये तो उन्होने क्रोध क्यो नहीं किया इसका कारण बताते हुए कहते हैं—]

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः ।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥२३॥

अन्वयः—प्रसेदिवास त कोपः न आप, परस्मिन् पुरुषे विकारः कुतः । इद आकारवैषम्य च भेजे, महता वृत्तिः दुर्लक्ष्यचिह्ना हि ॥२३॥

अर्थ—अर्जुन के प्रति प्रसन्नचित्त भगवान् शकर को क्रोध नही उत्पन्न हुआ । वे परमात्मा स्वरूप थे फिर उनमे विकार आता ही कैसे ? उनकी केवल आकृति मे ही विषमता आयी थी । बडे लोगो की चित्त-वृत्ति को कोई पहचान नही सकता ॥२३॥

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य ।
भिन्नाकृतिं ज्या ददृशुः स्फुरन्ती क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥२४॥

अन्वय.—ततः भूतानि भर्त्रा भुजाभ्या विस्फार्यमाणस्य धनुरन्तकस्य स्फुरन्तीं भिन्नाकृतिं ज्या क्रुद्धस्य तक्षकस्य जिह्वाम् इव ददृशु ॥२४॥

अर्थ—तदनन्तर भूतपति शकर जी की भुजाओ से खींचे गये कृतान्त के समान उनके धनुष की काँपती हुई एव दो के रूप मे दिखाई पडती हुई प्रत्यञ्चा को लोगों ने क्रुद्ध तक्षक की जिह्वा के समान देखा ॥२४॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किराताधिपमाशशङ्के ।
पर्यायसम्पादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥२५॥

अन्वयः—पार्थः सव्यापसव्यध्वनितोग्रचाप किराताधिपम् अपराद्धः यन्ता पर्यायसम्पादितकर्णताल व्याल गजम् इव आशशङ्के ॥२५॥

अर्थ—अर्जुन बाम और दक्षिण गति से-दोनों प्रकार से अपने धनुष का टकार करते हुए किरात-सेनापति को देखकर इस प्रकार से आशकित हो उठे जिस प्रकार से कभी बाँएँ और कभी दाहिने कान को फटफटाने वाले दुष्ट हाथी को देखकर उसका उन्मत्त महावत आशकित हो उठता है ॥२५॥

निजघ्निरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥२६॥

अन्वय—हरेषुजालैः तस्य पतन्ति शिलीमुखानां वृन्दानि ऊर्जस्विभिः अम्बुराशेः यादोभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि इव निजघ्निरे ॥२६॥

अर्थ—शकर जी के शर समूहो ने अर्जुन द्वारा छोडे गये बाणो के समूहो को इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से समुद्र के भीषण जन्तु नदियो के मुहानो द्वारा आये हुए छोटे जल जन्तुओ को सफाचट कर देते हैं ॥२६॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः ।
नेतारिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरेषु शम्भुः ॥२७॥

अन्वय—अन्तः विभेदं पदवीनिरोधं विध्वंसनं च यत् यत् नेता अविदितप्रयोगः अरिलोकेषु करोति तत् तत् शम्भुः अस्य शरेषु चकार ॥२७॥

अर्थ—शकर जी के बाणो ने अलक्षित रूप से अर्जुन के बाणो को अन्तः विभेद (बीच मे ही खण्डित कर देना) मार्गावरोध तथा विनाश—इन तीनों ही उपायो के द्वारा इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से विजेता अपने शत्रुओ के लिए अलक्षित रह कर भेदनीति का प्रयोग करता है यातायात मार्ग का अवरोध करता है और दुर्ग को तोड-ताड कर उसमे आग लगा देता है ॥२७॥

टिप्पणी—श्लेष अलकार ।

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।
छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥२८॥

अन्वय—सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैः वेगितया पतद्भिः छिन्नैः अपि त्रासितवाहिनीकैः कृतार्थैः इव तस्य बाणैः पेते ॥२८॥

अर्थ—शत्रु द्वारा अपने पहले के छोडे गये बाणो के व्यर्थ हो जाने पर उनकी अपकीर्ति को सहन करने वाले अर्जुन ने पुनः अत्यन्त क्रोध से जिन

बाणो को छोडा, वे वेग के साथ चल पडे। यद्यपि शत्रु ने उन्हें भी छिन्न-भिन्न कर दिया तथापि उन्होंने प्रमथो की सेना को अत्यन्त सत्रस्त कर दिया और मानो इतने ही से उनको सफलता मिल गयी ॥२८॥

टिप्पणी—किन्तु वस्तुतः वे भी तो असफल ही रह गये ।

अलंकृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टा गतिमास्थितानाम् ।
सतामिवापर्वणि मार्गणाना भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥२६॥

अन्वय.—ऋजुतागुणेन अलकृताना गुरूपदिष्टा गति आस्थिताना मार्गणाना सताम् इव अपर्वणि सः भङ्ग. जिष्णो. धृतिम् उन्ममाथ ॥२६॥

अर्थ—सरलता रूप गुण से अलकृत अर्थात् बिल्कुल सीधे धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण द्वारा बताई गई गति से चलने वाले अपने बाणो को बिना गाँठ के ही शिव-बाणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाने से अर्जुन का धैर्य उसी प्रकार से विलुप्त हो गया जिस प्रकार से सरलता से अलकृत और धर्मशास्त्रो के द्वारा निश्चित सदाचार का अनुसरण करने वाले सज्जनो का धैर्य विपत्ति आने पर छूट जाता है ॥२२॥

बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः ।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥३०॥

अन्वय.—बाणच्छिद. ते स्मरारेः विशिखाः अवाङ्मुखीभूतफला. पतन्तः पांडवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः अखडित प्रतिकारम् आपुः ॥३०॥

अर्थ—अर्जुन के बाणो को काट गिराने वाले भगवान शंकर के उन बाणो ने, जिनके अग्रभाग नीचे हो गये थे, गिरते हुए अर्जुन के बाणो को विफल बनाने वाले अपने कर्म का तुरन्त ही अखडित प्रतीकार प्राप्त किया ॥३१॥

[अब अर्जुन के विजय का प्रसङ्ग उपस्थित होता है—]

चिच्छीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम् ।
समाकुलाया निचखान दूर बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वराति. ॥३१॥

अन्वय:—अराति: अतिलाघवेन चित्रीयमाणान् भवमार्गणाना प्रमाथिन: तान् बाणान् समाकुलाया: ध्वजिन्य: हृदयेषु दूर निचखान ॥३१॥

अर्थ—अर्जुन ने अत्यन्त हस्तलाघव के साथ आश्चर्य उपस्थित करने वाले, शिव के बाणो को खडित करने वाले अपने उन बाणो को व्याकुल प्रमथों की सेना के हृदयो मे बडी गहराई तक गाड दिया ॥३१॥

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।
हन्ता पुरा भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघ. ॥३२॥

अन्वय:—तस्य पराक्रमे अतियत्नात् अन्योन्यविशेषणेन अतिरिच्यमाने पुरा हन्ता भूरि पृषत्कवर्षं नैदाघ: मेघ: अम्बु इव निरास ॥३२॥

अर्थ—अर्जुन के उस अति प्रयत्नपूर्ण पराक्रम को, देखकर जो कि शिव जी के पराक्रम का भी अतिक्रमण करने वाला था, त्रिपुरविजयी भगवान् शकर ने निदाघकालीन मेघवर्षा की भाँति घनघोर बाणवृष्टि आरम्भ कर दी ॥३२॥

अनामृशन्त. क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणानुप्रहिता: शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादा. शरा मुने प्रीतिकरा बभूवु· ॥३३॥

अन्वय:—प्रियैषिणा शिवेन अनुप्रहिता. क्वचित् एव मर्म अनामृशन्त: शरा: सुहृत्प्रयुक्ता नर्मवादा. इव मुने: प्रीतिकरा. बभूवु. ॥३३॥

अर्थ—अर्जुन के कल्याण की इच्छा रखने वाले भगवान् शकर के बाणों ने कही पर भी मर्मस्थल का स्पर्श न करते हुए, मित्र के द्वारा कहे गए परिहासपूर्ण वचनो की तरह, दु ख न देकर तपस्वी अर्जुन को केवल आनन्द ही प्रदान किया ॥३३॥

अस्त्रै· समानामतिरेकिणी वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबल· प्रमाथो स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलि· ॥३४॥

अन्वय —अस्त्रै: समानाम् अतिरेकिणी वा तस्य इषूणाम् अपि शक्ति पश्यन् विषादवक्तव्यबल प्रमाथी इन्दुमौलि. स्व बलम् आललम्बे ॥३४॥

अर्थ—कहीं पर अपने बाणों के समान और कहीं पर उससे भी अधिक अर्जुन के बाणों की शक्ति को देखकर विषाद के कारण निन्दा को प्राप्त होने वाली सेना से युक्त कामरिपु शङ्कर जी ने पुनः अपने पराक्रम का आश्रय लिया।।३४।।

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ।।३५।।

अन्वय—ततः तपोवीर्यसमुद्धतस्य समरार्णवस्य पारं यियासोः जिष्णोः अखिलानि महेषुजालानि अर्कः पयांसि इव समाचचाम ।।३५।।

अर्थ—तदनन्तर भगवान शङ्कर ने तपस्या एवं पराक्रम दोनों से समृद्ध, युद्धरूपी समुद्र के पार जाने के इच्छुक अर्जुन के सम्पूर्ण बाणसमूहों को इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से सूर्य जल को सुखा देता है ।।३५।।

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ।।३६।।

अन्वय—अथ अर्जुनस्य पाणिः रिक्ते निषङ्गवक्त्रे अन्यद्विपापीतजले नगाश्मरन्ध्रे सतर्षं मतङ्गजस्य इव सविस्रम्भं निपपात ।।३६।।

अर्थ—शङ्कर जी द्वारा बाणों के समाप्त कर दिए जाने के अनन्तर अर्जुन का हाथ अपने बाणशून्य तरकस के मुख पर इस प्रकार से विश्वासपूर्वक दूसरा बाण निकालने के लिए गिरा जिस प्रकार से दूसरे हाथी द्वारा सम्पूर्ण जल पी लेने पर चिरपरिचित पर्वतीय दरार के मुख पर किसी प्यासे गजराज की सूँड इधर-उधर फिर रही हो ।।३६।।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि अर्जुन समझते थे कि उनके तरकस में बाण भरे हुये हैं, किन्तु शङ्कर जी ने उन्हें पहले ही समाप्त कर दिया था, अतः जब वे इस विश्वास से कि तरकस में बाण तो भरे ही हुये हैं, उसके मुख पर हाथ रखा तो उनकी वही दशा हुई जो उस गजराज की होती है, जो अपनी

पूर्वपरिचित चट्टानों की दरार में जल की आशा से उसमें मुख पर सूंड डालना है, किन्तु उसका जल किसी दूसरे हाथी द्वारा पहले ही पी लिया रहता है।

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ।
तत्कालमोघप्रणयः प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥३७॥

अन्वयः—शरार्थात् च्युते तस्मिन् ईषुधौ सहसा ध्वस्तार्थसारे बन्धौ इव तत्कालमोघप्रणयः सः निर्वाच्यताकामः इव आभिमुख्य प्रपेदे ॥३७॥

अर्थ—बाणरूपी धन से रिक्त उस तरकस द्वारा, सहसा बिना किसी कारण के ही जिसका धन नष्ट हो गया हो ऐसे बन्धु के समान, तुरन्त अपनी इच्छा के व्यर्थ हो जाने पर (भी) वह अर्जुन का हाथ मानो उसके उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिए ही उसके सम्मुख गया था ॥३७॥

टिप्पणी—जिस प्रकार से कोई कृतज्ञ व्यक्ति अपने पूर्वोपकारी धनवान मित्र के सहसा निर्धन हो जाने पर अपनी तात्कालिक प्रार्थना के असफल हो जाने पर भी उसके पास जाता ही है उसी प्रकार से अर्जुन का हाथ भी उस तरकस के सम्मुख गया था।

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्राङ्गुलिरस्य तूणौ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥३८॥

अन्वय—अस्य अग्राङ्गुलिः विधेयमार्गे उत्सुकस्य गां जिगीषोः मतिः नयप्रयोगौ इव तूणौ सावेग गतागताभ्यां आघट्टयामास ॥३८॥

अर्थ—कर्त्तव्य के अन्वेषण में समुत्सुक एवं धरती को जीतने के इच्छुक नायक की बुद्धि जिस प्रकार से नीति और उपाय दोनों का सहारा लेती है, उसी प्रकार से अर्जुन का हाथ अपने दोनों तूणीरों के मुख को वेग के साथ आते जाते हुए स्पर्श करता रहा ॥३८॥

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ।
युगान्तसशुष्कजलौ विजिह्मः पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥३९॥

अन्वयः—शून्याकृतिः अर्जुन. तौ वीतमहेषुजालौ महेषुधी बिजिह्मः लोकः युगान्तसशुष्कजलौ पूर्वापरौ अम्बुराशी इव बभार ॥३९॥

अर्थ—बाणो के समाप्त हो जाने के कारण निस्तेज अर्जुन अपने बाण-रहित उन महान तरकसो को उस समय इस प्रकार से धारण किये हुए थे जिस प्रकार से प्रलय के अवसर पर मुनसान ससार प्रलय की ज्वाला से जलरहित पूर्व एव पश्चिम के समुद्रो को धारण करता है ॥३९॥

तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयानुतेपे ।
स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ॥४०॥

अन्वय.—पार्थः तयोः रिक्ततया यथा अनुतेपे तथा तेन अनिमित्तेन न सन्तः स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नम् उपकारिपक्ष शोचन्ति हि ॥४०॥

अर्थ—अर्जुन को अपने तूणीरो के रिक्त होने का जितना शोक हुआ उतना बाणो के नष्ट हो जाने के अपशकुन से नही हुआ । सच है, सज्जन लोग अपने ऊपर आई हुई विपत्ति को भूलकर विपत्ति मे पडे हुए अपने उप-कारियो के लिए ही दुःखी होते हैं ॥४०॥

टिप्पणी—अर्थात् अपनी विपत्ति की अपेक्षा दूसरे की विपत्ति से ही सज्जनों को शोक होता है ।

प्रतिक्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः ।
पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ॥४१॥

अन्वयः—प्रतिक्रियायै विधुरः सः हस्तः पराङ्मुखत्वे अपि कृतोपकारात् तस्मात् तूणीमुखान् मित्रकुलात् आर्यः इव कृच्छ्रेण विश्लेषम् इयाय ॥४१॥

अर्थ—बदला चुकाने मे असमर्थ अर्जुन का वह हाथ उस समय पराङ्मुख हो जाने पर भी पूर्व के उपकारी उस तूणीर के मुख भाग से बडी कठिनाइयो के साथ इस प्रकार से अलग हुआ जिस प्रकार से कोई कृतज्ञ सज्जन पुरुष अपने पूर्व उपकारी किन्तु तत्काल पराङ्मुख मित्र से अलग होता है ॥४१॥

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव।
सम्भावनायामधरीकृताया पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥४२॥

अन्वयः—तदानी भर्तुः पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य उपकारिणी इव जज्ञे। पत्युः पुरः सम्भावनायाम् अधरीकृताया आसितव्य साहस ॥४२॥

अर्थ—उस समय स्वामी अर्जुन द्वारा उन दोनो तरकसो को पीछे रखना मानो उपकार जैसा ही हुआ क्योंकि स्वामी के सम्मुख अपनी योग्यता को निष्फल बना देने वाले सेवक का उपस्थित रहना उसका अनुचित साहस ही है ॥४२॥

तं शम्भुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥४३॥

अन्वयः—शभु आक्षिप्तमहेषुजाल त तत्वविचारमध्ये हृतोत्तर विपक्ष वक्ता गुरुभि दोषैः इव लोहैः शरैः मर्मसु निस्तुतोद ॥४३॥

अर्थ—शकर जी ने अर्जुन के बड़े-बडे बाणो के नष्ट हो जाने पर अपने लोहे के बाणो से उनके मर्मस्थलो पर इस प्रकार से आघात किया जिस प्रकार से तत्वविचार सम्बन्धी वाद विवाद मे प्रतिवादी के निरुत्तर हो जाने पर, विजेता वादी उसके बडे-बडे दोषो को दिखलाकर उसे व्यथित करता है ॥४३॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम्।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ॥४४॥

अन्वयः—अस्मात् अचिरेण ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेख वर्म चडः मरुत् पतङ्गात् एकनील तडित्वत अम्बुदस्य खडम् इव जहार ॥४४॥

अर्थ—( शकर जी के बाणो ने ) तुरन्त ही तपस्वी अर्जुन के शरीर से, चमकती हुई मणियो से विभासित सुवर्ण रेखाओ से युक्त कवच को भी इस प्रकार से वियुक्त कर दिया जिस प्रकार से प्रचड वायु विद्युत रेखाओ से युक्त बादलो के काले वाले टुकडो को सूर्य से अलग कर देता है ॥४४॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि उस समय भगवान् शकर की माया से कवच विहीन अर्जुन मेघ विमुक्त सूर्य के समान विभासित हो रहे थे।

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपावद्धरुष समक्ष नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ।।४५।।
विबोधितस्य ध्वनिना घनाना हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचि स भेजे ।।४६।।

अन्वय —स तनुत्रेण विना विकोशनिर्धौततनो. महासे त्वचि विच्युताया फणावत च प्रतिद्विपावद्धरुषः समक्षम् आक्षिप्तमुखच्छदस्य नागस्य च घनाना ध्वनिना विबोधितस्य शैलरन्ध्रात् अपेतस्य हरेः च निरस्तधूमस्य रात्रिवह्नेः च रुचि भेजे ।।४५-४६।।

अर्थ—उस समय कवचविहीन अर्जुन की छटा म्यान से निकली हुई सान रखी चमकती तलवार की तरह, केंचुल के दूर हो जाने पर चमकते हुए सर्प की तरह, प्रतिद्वन्द्वी गज को समुख देख क्रोध से मुख का आवरण हटाने वाले बिगड़ैल हाथी की तरह, बादलो की गरज से जगे हुए पर्वत की गुफा से निकलते सिंह की तरह, एव रात्रि मे चमकती हुई निर्धूम अग्नि की तरह दिखाई पडी ।।४५-४६।।

टिप्पणी—मालोपमा तथा निदर्शना अलकार की ससृष्टि ।

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वता प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
मही गतौ ताविषुधी तदानी विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ।।४७।।

अन्वय.—तदानीं मही गतौ तौ ईषुधी अचित्ततायाम् अपि तदीयकृच्छ्रे युक्ता नाम अनूर्ध्वता प्राप्य चेतनया इव योग विवव्रतुः ।।४७।।

अर्थ—कवच के गिर जाने के अवसर पर भूमि पर पडे हुए अर्जुन के दोनो तरकसो ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की कठिनाइयो मे मानो अपने को कुछ कर सकने मे असमर्थ पाकर नीचे की ओर मुख करके चेतनो की भाँति आचरण किया ।।४७।।

टिप्पणी—स्वामी की विपत्ति मे सहायता न कर पाना बडी लज्जा की

अन्वयः—विकार्मुकः परिच्युतोदार्यः उपचारः इव कर्मसु शोचनीयः सः शूलभृता सलीलम् अदूरपातैः पत्रिभिः दूर विचिक्षिपे ॥५३॥

अर्थ—धनुष से विहीन अर्जुन उस समय दान-विहीन सत्कार के समान रण-क्रिया मे सर्वथा अयोग्य बन गये। तदनन्तर शकर जी ने अपने अत्यन्त गाढ़ प्रहार करनेवाले बाणो से उन्हे लीलापूर्वक दूर फेंक दिया ॥५३॥

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन्वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः।
जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य ॥५४॥

अन्वय.—उपोढकल्याणफलः वीरव्रतम् अभिरक्षम् पुण्यरणाश्रमस्थ. सयतात्मा मुनि. तै. शिवस्य इषुभिः जपोपवासैः इव तेपे ॥ ५४ ॥

अर्थ—आसन्न कल्याण फल की कामना से युक्त, वीरव्रत की रक्षा करते हुए, उस पुण्य युद्ध-क्षेत्र मे स्थित सयतात्मा तपस्वी अर्जुन ने शिव जी के उन कठोर बाणो को मानो जप एव उपवासादि के समान सहन करते हुए तपस्या की ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—अर्थात् जिस प्रकार से किसी पुण्य आश्रम मे निवास करने वाला जितेन्द्रिय तपस्वी नियमो की रक्षा करते हुए उपवासादि के द्वारा तपस्या करते हुए उसके परिणाम के समीप होने पर सब प्रकार का कष्ट सहन करता है उसी प्रकार अस्त्र-लाभ-रूपी कल्याण के समीपवर्ती होने पर उस युद्ध-क्षेत्र-रूपी आश्रम मे वीरव्रत का पालन करते हुए अर्जुन ने धैर्य के साथ शिव जी के बाणो की यातना सहन की।

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानमन्यैरतिदुस्तरं सः।
तेजःश्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहङ्कारमिवाललम्बे ॥५५॥

अन्वयः—तत. अग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानम् अन्यैः अतिदुस्तर तेजःश्रियाम् आश्रयम् उत्तमासिं साक्षात् अहङ्कारम् इव स· आललम्बे ॥५५॥

अर्थ—तब अपने धनुष के लुप्त हो जाने के अनन्तर अन्तिम शरण युद्ध मे विजय की अन्तिम सीमा के समान, दूसरो से अत्यन्त असहनीय, तेज एवं

शोभा की आधारस्थली अपनी उत्तम एवं विशाल तलवार का, अर्जुन ने अपने साक्षात् अहङ्कार की भाँति, आश्रय लिया ॥ ५५ ॥

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः ।
हस्तेन निस्त्रिंशभृता स दीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ॥५६॥

अन्वयः—अनवद्यकर्मा शरान् अवद्यन् निस्त्रिंशभृता हस्तेन सार्कांशुना ऊर्मिणा वारिधिः इव दीप्तः सः प्रविचारमार्गैः चित्रं चचार ॥ ५६ ॥

अर्थ—प्रशंसनीय कर्म करने वाले अर्जुन उस क्षण (अपनी उस तलवार से) शिव के बाणों को काटते हुए हाथ में तलवार लिए हुए इस प्रकार से सुशोभित हुए जिस प्रकार से सूर्य की किरणों से उद्दीप्त तरंगों से समुद्र सुशोभित होता है ॥५६॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः ।
तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स भूतैः ॥५७॥

अन्वयः—भाभिः सहस्ररश्मिः यथा निजे वर्त्मनि छायामयः अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिः भाति तथा सः नभसि रणस्थलीषु भूतैः आशु ददृशे ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अपनी कान्तियों से युक्त सहस्त्ररश्मि सूर्य अपने मार्ग आकाश में अवस्थित होते हुए, जल के मध्य में प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से दो में रूप में दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार मानो शीघ्र गति के कारण अर्जुन को भी आकाश में तथा रण-स्थली में दो—रूप में अवस्थित उन प्रमथ गणों ने देखा ॥५७॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलंकार।

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः ।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्धनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥५८॥

अन्वय—शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् अपवर्जिताङ्गः असिः तस्य पाणेः घनस्य वप्रात् वैद्युतः अग्निः इव ज्वलन् पपात ॥५८॥

अर्थ—भगवान् शंकर द्वारा छोड़े गए बाण द्वारा अपने मुष्टि प्रदेश से कट

कर गिरी हुई अर्जुन की वह तलवार चमकती हुई इस प्रकार से नीचे गिर पड़ी जिस प्रकार से मेघ मण्डल से बिजली की अग्नि गिरती है ॥५८॥

आक्षिप्तचापावरणेषुजालश्छिन्नोत्तमासि स मृधेऽवधूतः ।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ॥५९॥

अन्वय —आक्षिप्तचापावरणेषुजाल छिन्नोत्तमासि मृधे अवधूत स उत्सादितोद्यान भूमे प्रदेश इव रिक्त प्रकाश च बभूव ॥५९॥

अर्थ—अपने धनुष, कवच एव बाणो के नष्ट हो जाने तथा उत्तम तलवार के टूट कर गिर जाने पर रण भूमि मे अभिभूत अर्जुन इस प्रकार से शून्य होकर प्रकाश युक्त हो गए जिस प्रकार से उद्यान के वृक्षो के काट देने पर उसकी भूमि का प्रदेश सूना तथा अवरोधरहित बन जाता है ॥५९॥

स खण्डनं प्राप्य परादमर्षवान्भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।
ससर्ज वर्ष्टि परिरुग्णपादपा द्रवेतरेषा पयसामिवाश्मनाम् ॥६०॥

अन्वय —परात् खण्डन प्राप्य अमर्षवान् स भुजद्वितीय अपि विजेतुम् इच्छया द्रवेतरेषा पयसाम् इव अश्मना परिरुग्णपादपा वृष्टि ससर्ज ॥६०॥

अर्थ—शत्रु से इस प्रकार की पराजय प्राप्त कर क्रोध से भरे हुए अर्जुन को यद्यपि भुजाएँ ही सहायक रह गई थी तथापि वे अपने शत्रु को जीतने की इच्छा से ओलों की वृष्टि के समान पत्थरो की इस प्रकार से बौछार करने लगे जिससे समीप के वृक्षो की शाखाएँ भग होने लगी ॥६०॥

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलाविताने ।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ॥६१॥

अन्वय —शिलाविताने भूतानाम् अधिपतिना पृषत्कै क्षय परिगमिते इन्द्रसूनु उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तराल नीरन्ध्र क्षितिरुहजाल चिक्षेप ॥६१॥

अथ—भगवान् शकर के बाणो से जब ( अर्जुन के ) पत्थरो की बौछार भी बद कर दी गई तब इन्द्रपुत्र अर्जुन ऊँचाई से आकाश एव दिगन्तो को ढँकने वाले अत्यन्त सघन वृक्षों को (उपार कर) फेंकने लगे ॥६१॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम् ।
ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तैरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥६२॥

अन्वयः—ईशानः निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः भुवम् कषायचित्राम् कुर्वद्भिः सकुसुमपल्लवैः तैः नगैः रङ्गदेवताभ्यः बलिम् इव आतेने ॥६२॥

अर्थ—भगवान शकर ने उन वृक्षो को सम्पूर्ण रूप से टुकडे-टुकडे कर उनके वल्कलो, शाखाओ तथा पत्तो को छिन्न-भिन्न कर उनके रगो से पृथ्वी को चारो ओर से चित्र-विचित्र रँग कर मानो उन कुसुम और पल्लवो से युक्त वृक्षों के द्वारा रणचण्डी की बलि-पूजा कर दी ॥६२॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥६३॥

अन्वयः—गाण्डीवी उन्मज्जन् मकरः अमरापगायाः इव बाणनद्याः वेगेन प्रतिमुखम् एत्य कनकशिलानिभं विषमविलोचनस्य वक्षः भुजाभ्याम् आजघ्ने ॥६३॥

अर्थ—तदनन्तर अर्जुन ने गगा के प्रवाह पर तैरते हुए मकर के समान शंकर जी की बाण-पक्ति-रूपी नदी के वेग के सम्मुख उपस्थित होकर सुवर्ण की चट्टान के समान त्रिलोचन शंकर जी के वक्षस्थल पर अपनी भुजाओ से कठोर आघात किया ॥६३॥

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्यो-
रसुगममरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो
रविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥६४॥

अन्वयः—कीर्तिलक्ष्म्योः उपायम् अरिसैन्यैः असुगम विक्रमम् अभिलषतः अङ्कम् अभ्यागतस्य पाण्डवस्य अविनय अपि स्मरारिः शिशुत्वे सुप्रियस्य एकसूनोः जनकः इव सेहे ॥६४॥

अर्थ—यश और लक्ष्मी के साधनभूत एवं शत्रु-सेना द्वारा दुष्प्राप्य पराक्रम के अभिलाषी, अपनी गोद में आए हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन के उस प्रहार रूपी अविनय को भी शंकर जी ने इस प्रकार से सहन किया जिस प्रकार से बचपन में अत्यन्त प्यारे, गोद में बैठे हुए एवं किसी अच्छी वस्तु की प्राप्ति की जिद करने वाले अपने एकलौते बेटे के अविनय को उसका पिता सहन करता है ।।६४।।

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य में सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ।।१७।।

—०—

# अठारहवाँ सर्ग

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥१॥

अन्वयः—ततः उदग्रे द्विरदे इव भीमभुजायुधे रणम् उपयुषि मुनौ शङ्करः सबाणधि धनुः अपास्य मुष्टिभिः घनैः इव प्रतिजघान ॥१॥

अर्थ—तदनन्तर विशाल हाथी के समान भयंकर भुजा रूपी शस्त्र धारण करने वाले तपस्वी अर्जुन के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भगवान् शकर बाणों समेत धनुष को फेंक कर लोहे के मुद्‌गरों के समान अपने मुक्कों से अर्जुन पर प्रहार करने लगे ।

टिप्पणी—द्रुतविलम्बित छन्द ।

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलितांगुलिपाणिजः ।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥२॥

अन्वयः—हरपृथासुतयोः अमृदु संवलितांगुलिपाणिजः स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः ध्वनिः उत्पतन् दरीभृतः दरीषु प्रतिननाद ॥२॥

अर्थ—भगवान् शंकर और अर्जुन के उस प्रचण्ड एवं कर्कश अंगुलियों वाले मुष्टिक युद्ध की, विशाल चट्टानों के टूटने जैसी भयंकर ध्वनि ऊपर उठकर पर्वतों की कन्दराओं में प्रतिध्वनित होने लगी ॥२॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षती सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥३॥

अन्वयः—कपिध्वजः शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षती सुखम् इव अनुबभूव । क इव नाम सत्त्ववताम् बृहन्मनसां अनुकृतेः अपि क्षमः भवेत ॥३॥

अर्थ—कपिध्वज अर्जुन ने भगवान् शकर की भुजाओ के प्रहार से होने वाले बड़े-बड़े घावो को भी सुख के समान ही अनुभव किया। सच है, पराक्रमशाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण कर भी कौन सकता है ? ॥३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि यद्यपि शिव जी के प्रहार से अर्जुन के शरीर में जो बड़े-बड़े घाव हो रहे थे, वे बड़े दु:खदाई थे, तथापि अर्जुन ने उन्हे सुख जैसा ही अनुभव किया। मनस्वियो के चरित्र का अनुकरण भी करना बड़ा कठिन है, उसका पालन तो दूर रहा। जिस मनस्वी के चित्त में रौद्र रस का आवेश हो जाता है वह सुख-दु.ख की गणना करता ही कहाँ है ?

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।
अभिनवौपसरागभृता वभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥४॥

अन्वय:—व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः उमापतिः अभिनवौपसरागभृता जलधरेण समान वभौ ॥४॥

अर्थ—शकर का पर्वत के तट प्रान्त जैसा विशाल वक्षस्थल अर्जुन के प्रहार से उत्पन्न घावो के मुखो से बहने वाले रक्त की फुहारो से व्याप्त था। उस समय वह नूतन सन्ध्या काल की लालिमा को धारण करने वाले बादल के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥५॥

अन्वय:—शूलभृतः उरसि प्रहिताः अर्जुनमुष्टयः पृथुनि सह्यमहीभृतः रोधसि भृशरयाः सिन्धुमहोर्मयः इव मुहु: प्रतिहतिं ययु: ॥ ५ ॥

अर्थ—भगवान् शकर के वक्षस्थल पर किया गया अर्जुन का मुष्टि-प्रहार इस प्रकार से बारम्बार प्रतिहत हो रहा था ( टकरा रहा था ) जिस प्रकार से विस्तृत सह्यगिरि के तट पर वेगवती समुद्र की लम्बी लहरें आकर टकराती हैं और पुनः वहीं से प्रतिहत हो जाती हैं ॥ ५ ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुप ।
त्रिचतुरेपु पदेपु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥६॥

अन्वय —अयुगचक्षुप आयते अरत्नियुगे अधिशिरोधर सम निपतिते किरीटिना मदात् इव त्रिचतुरेपु पदेपु लुलितदृष्टि चस्खले ॥ ६ ॥

अर्थ—भगवान् त्रिलोचन शकर ने अपनी दोनो वधी हुई मुट्ठियो से जब एक साथ ही अर्जुन के दोना कन्धो पर जोर से प्रहार किया तब अर्जुन मद-विह्वल की भाँति तीन-चार पग तक लडखडाते हुए दूर हट गए और उनकी आखें चकाचौंध हो गयी ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपित समभिसृत्य भृश जवमोजसा ।
युजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥७॥

अन्वय —अभिभवोदितमन्युविदीपित भृश जव समभिसृत्य ओजसा शशिकलाभरणस्य भुजद्वय भुजयुगेन विभज्य समाददे ॥ ७ ॥

अर्थ—इस प्रकार अपनी पराजय से उत्पन्न क्रोध के कारण जलते हुए अर्जुन ने बडे वेग के साथ दौडकर बलपूर्वक अपनी दोनो भुजाओ से चन्द्रशेखर भगवान शकर की दोनों भुजाओ को अलग-अलग करके उन्हें पकड लिया ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसञ्चलनाहरणो रण ।
करणशृङ्खलसङ्कुलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः ॥८॥

अन्वय —अथ महाहवमल्लयो गुरुभुजायुधगर्वितयो तयो करणशृङ्खलसङ्कुलनागुरु अचलसञ्चलनाहरण रण प्रववृते ॥ ८ ॥

अर्थ—तदनन्तर उन दोनों महान् बलशालियों के बीच, जिन्हें अपनी विशाल भुजाओं के बल पर अभिमान था, ऐसा भीषण रण होने लगा, जिसमें उनके हाथ और पैर के बन्धन ही कठिन शृखला बन गये तथा जिसके कारण हिमालय काँपने लगा ॥ ८ ॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डव स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणं ॥६॥

अन्वय—अयम् असौ भगवान् उत पाण्डव मुनिना अवाक् स्थितम्, शशिमौलिना अजेन नु समधिरूढ जिष्णुना स्वित् इति गणं वेगवशात् मुमुहे ॥ ६ ॥

अर्थ—दोनो के रण-वेग को देखकर प्रथम गण इस प्रकार के विस्मय म पड गये कि यह भगवान् शकर जी हैं अथवा पाण्डुपुत्र अर्जुन हैं। यह तपस्वी अर्जुन नीचे की ओर हैं अथवा हमारे भगवान चन्द्रशेखर हैं। यह अजन्मा शकर जी ऊपर हैं या अजुन हैं—ऐसा वितर्क वे लोग करने लगे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अर्थात् उन दोनों का युद्ध इतने वेग से हो रहा था कि कोई पहचाने नही जा सकते थे कि कौन ऊपर जा रहा है और कौन नीचे जा रहा है। भ्रान्तिमान् अलकार।

प्रचलिते चलित स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ॥१०॥

अन्वय—असहिष्णुना भूभृता अभावभयात् इव मुहुः वृषकपिध्वजयो प्रचलिते चलितम् आस्थित स्थित विनमिते नतम् उन्नतौ उन्नतम् ॥ १० ॥

अर्थ—भगवान शङ्कर और कपिध्वज अर्जुन के भार को सहन करने मे असमर्थ हिमालय मानो बारम्बार अपने विनाश के भय से उनके चलने पर चचल हो उठता था, चुपचाप स्थित रहने पर स्थिर हो जाता था और आक्रमण करने के समय नम्र हो जाता था और ऊपर उठने पर स्वयम् ऊपर उठ जाता था ॥ १० ॥

करणशृङ्खलनि सृतयोस्तयो कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतो ।
चरणपातनिपातितरोधस प्रसमृपु सरित परित स्थली ॥११॥

अन्वय—करणशृङ्खलनि सृतयो कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतो तयो चरणपातनिपातितरोधस सरित स्थली परित प्रसमृपु ॥ ११ ॥

अर्थ—हाथो और पैरो की शृखलाओ से वारम्वार छूटे हुए एव भुजाओ के मूल भाग पर ताल ठोक कर ध्वनि करने वाले उन दोनो के पैरो की चोट से जिन नदियो के तट टूट-फूट गए थे, वे अपने स्थल भाग को चारो ओर से निमज्जित करने लगी ॥ ११ ॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः ।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणा जयिन पुराम् ॥१२॥

अन्वयः—वियति वेगपरिप्लुत तिसृणा पुराम् जयिन कपिध्वज चरणानमितक्षिति रयेण समभिसृत्य अन्तरा चरणयो· निजगृहे ॥ १२ ॥

अर्थ—आकाश मे वेगपूर्वक छलांग मार कर त्रिपुर विजयी शिवजी ऊपर की ओर उछले ही थे कि कपिध्वज अर्जुन ने अपने चरणो के भार से पृथ्वी को नम्र करते हुए बडे वेग के साथ उछल कर वीच ही मे उनके दोनो पैरो को पकड लिया ॥ १२ ॥

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणा क्षयकर· परः पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ॥१३॥

अन्वयः—तेन कर्मणा सपदि विस्मित. कर्मणा क्षयकर. पर. पुमान् अवनौ क्षेप्तुकामम् अक्लम त वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष ॥ १३ ॥

अर्थ—( अर्जुन के ) इस उत्कट पराक्रम पूर्ण कार्य से तुरन्त ही विस्मित होकर मोक्षदाता परम पुरुष शकर जी ने अपने को धरती पर खींचने के लिए इच्छुक अश्रान्त अर्जुन का छाती से लगा कर गाढ आलिंगन किया ॥ १३ ॥

टिप्पणी—रथोद्धता छन्द ।

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्वमुपकारि सताम् ॥१४॥

अन्वयः—भगवान् अस्य विपुलसत्त्वतया यथा मुद ययौ तथा तपसा न । अहो सता गुणसहते. समम् अतिरिक्तम् निज सत्वम् एव उपकारि ॥ १४ ॥

अर्थ—भगवान् शकर अर्जुन के इस परम पराक्रमपूर्ण कार्य से जितने

प्रसन्न हुए उतने उनकी तपस्या से नही प्रसन्न हुए थे। सच है, सत्पुरुषो की तपस्या एवं सेवा आदि गुणो से बढकर उनका निजी पराक्रम ही उपकारक होता है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—प्रमिताक्षरा छन्द।

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुद्वीक्ष्य ननाम पाण्डवः ॥१५॥

अन्वयः—अथ हिमशुचिभस्मभूषितम् शिरसि इन्दुलेखया विराजितम् अतिमनोहरम् स्ववपुः दधतम् हरम् उद्वीक्ष्य पाण्डवः ननाम ॥ १५ ॥

अर्थ—तदनन्तर हिम के समान उज्ज्वल भस्म से विभूषित मस्तक पर चन्द्रमा से सुशोभित अतिमनोहर अपने असली स्वरूप को धारण करने वाले शिवजी को देखकर अर्जुन ने उन्हे प्रणाम किया ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अपरवक्त्र वृत्त।

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम्।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥१६॥

अन्वयः—वृषभगतिः सहशरधि निजं कार्मुकम् तथैव सवर्मितम् अतनु वपुः तथैव निहित असिम् अपि पश्यन् विस्मयम् उपाययौ ॥ १६ ॥

अर्थ—वृषभ की गति के समान गतिशील अर्जुन उस क्षण तूणीर समेत अपने गाण्डीव नामक धनुष से युक्त हो गए थे, उनका कवच भी पहले ही की तरह उनके शरीर से आ लगा था, शरीर भी पूर्ववत् स्थूल तथा बलशाली हो गया था, और वह उनकी तलवार भी पहले ही की भाँति उनके हाथ मे थी—इस प्रकार अपने को देखकर वह स्वयम् विस्मय मे पड गये ॥ १६ ॥

टिप्पणी—प्रमुदितवदना वृत्त।

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्र दिवः।
विमलरुचिं भृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ॥१७॥

अन्वयः—अम्बुवाहाः शनैः अवनिं सिषिचुः दिवः चित्रं सुरकुसुमम् इयाय अनाहतस्य दुन्दुभेः ध्वनिः विमलरुचि अखिलं नभः भृशम् आनशे ॥१७॥

अर्थ—बादल धीरे-धीरे बूंदें बरसा कर धरती सींचने लगे, आकाश से रंग-बिरङ्गे पारिजात के पुष्प गिरने लगे, बिना बजाये हुए ही दुन्दुभि की मनोहर ध्वनि सम्पूर्ण निर्मल आकाश में अत्यन्त व्याप्त होने लगी ॥१७॥

टिप्पणी—ये मंगल सूचनाएँ अर्जुन के लोकोपकारी कार्य की पूर्ति के लिए थीं।

आसेदुषा गोत्रभिदेऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य ।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ॥१८॥

अन्वयः—गोत्रभिदः अनुवृत्त्या आसेदुषां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रोचिष्णु-रत्नावलिभिः विमानैः आचिता द्यौः तारकिता इव रेजे ॥१८॥

अर्थ—इन्द्र के पीछे-पीछे आने वाले तीनों लोकों के रक्षक लोकपालों आदि के चमकते हुए रत्नों से सुशोभित विमानों से व्याप्त आकाशमण्डल उस समय इस प्रकार से सुशोभित हो रहा था मानो उसमें तारायें उगी हुई हों ॥१८॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

हंसा वहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः ।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥१९॥

अन्वयः—वहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैः अग्रपक्षैः व्योम्नः परिष्वङ्गं चक्रुः इव ॥१९॥

अर्थ—देवताओं के विमानों को ढोने वाले बड़े-बड़े हंसों के कण्ठों में जो किङ्किणी आदि आभूषण बँधे थे, वे ध्वनि कर रहे थे। उस समय आकाश में दौड़ते हुए ये हंस प्रयत्नपूर्वक फैलाए गए अपने अगले पंखों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे आकाश का आलिंगन कर रहे हों ॥१९॥

टिप्पणी—उत्प्रेक्षा अलङ्कार।

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य सान्तानिकीः ।
जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयाम्बभूवेश्वरम् ।।२०।।

अन्वयः—मरुत् जलदे इव वृषे निषेदिवांसम् ईश्वरम् मुदितमधुलिहः वितानीकृताः सान्तानिकीः स्रजः उपरि वितत्य उपसुखयाम्बभूव ।।२०।।

अर्थ—उस अवसर पर मेघ के समान वृषभ पर बैठे हुए भगवान शकर को वायु देवता ने भ्रमर पक्तियो को प्रसन्न करने वाली मन्दार के पुष्पो की माला को ऊपर चदोवे के समान फैलाकर खूब सुख पहुँचाया ।।२०।।

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना ।।२१।।

अन्वयः—अभिन्नरोमोद्गमैः गणपतिभिः उच्चकैः परिवन्दितेन इति हरेः सूनुना तपसि कृतफले कृतधृति फलज्यायसी स्तुतिः जगदे ।।२१।।

अर्थ—अर्जुन की यह सफलता देखकर प्रमथ गणो को सघन रोमाच हो गया और वे उच्च स्वर मे अर्जुन को बधाई देने लगे। तब इस प्रकार अपनी कठोर तपस्या के परिणाम स्वरूप साक्षात् भगवान् शकर के दर्शन से सन्तुष्ट होकर अर्जुन शकर जी की स्तुति करने लगे ।।२१।।

शरण भवन्तमतिकारुणिक भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः ।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम् ।।२२।।

अन्वयः—हे अजित ! भव ! अतिकारुणिक भक्तिगम्य भवन्तम् शरणम् अधिगम्य जितमृत्यवः जनाः ससुरासुरस्य जगतः भये शरण भवन्ति ।।२२।।

अर्थ—हे अपराजित ! हे भव ! अत्यन्त कारुणिक, भक्तिसुलभ, शरणदायक आप को प्राप्त करके लोग मृत्यु को जीत लेते हैं, और देवताओ तथा दानवों समेत इस निखिल ससार की, विपत्ति के अवसर पर वे स्वयमेव शरण बन जाते हैं ।।२२।।

टिप्पणी—अर्थात् वे देवताओ एव दानवों की भी रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं, अपनी और अपने परिवार की रक्षा की तो बात ही क्या। प्रमिताक्षरा छन्द ।

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसम्पदभिकामयते ।
न नमन्ति चैकपुरुष पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते ॥२३॥

अन्वय —हे ईश ! यावत् तव नतिः न क्रियते तावत् एकपुरुषम् अवसाद-करो विपत् एति कामसम्पद् च न अभिकामयते पुरुषा न नमन्ति ॥२३॥

अर्थ—हे भगवान् ! जब तक मनुष्य आप के सम्मुख प्रणत नही होता तब तक उस अकेले मनुष्य को अवसाद मे डालने वाली विपत्ति घेरती है, उसकी अभिलाषाएँ सफल नही होती तथा दूसरे लोग उसको प्रणत नही होते ॥२३॥

टिप्पणी—अर्थात् जब तक मनुष्य आप को प्रणाम नही करता तब तक उसकी न तो अनिष्ट निवृत्ति ही होती है और न इष्ट प्राप्ति ही होती है और जब वह आप को प्रणाम कर लेता है तब उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है ।

ससेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै सम्पश्यन्तो जन्मदु ख पुमासः ।
यन्नि सङ्गस्त्व फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्य केवल न स्वकार्यम् ॥२४॥

अन्वय —दानशीलाः जन्मदु खम् सम्पश्यन्त पुमासः विमुक्त्यै ससेवन्ते आनतेभ्यः नि सङ्गः त्व यत् फलसि तत् केवल कारुण्य न स्वकार्यम् ॥२४॥

अर्थ—आपके उद्देश्य से दानादि पुण्यकर्म करने वाले लोग जन्म एव मृत्यु के कष्टा को देखकर उनसे मुक्ति पाने के लिए जो आपकी आराधना करते हैं, उसमे कोई विचित्रता नही है । किन्तु आप जो अपने को प्रणाम करने वालों के प्रति नि-स्पृह होकर भी उन्हे फल देते हैं, वह आप की केवल करुणा ही है, उसमे आप का कुछ भी प्रयोजन नही है, यही विचित्रता है ॥२४॥

टिप्पणी—शालिनी छन्द ।

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय ।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्य सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ॥२५॥

अन्वय —यत् इह दूरम् अगत्वाप्राप्यते यत् अपरलोकगताय फलति भवार्णवबाह्य सार्वकामिकम् तत् तीर्थं भवत. ऋते न अस्ति ॥२५॥

अर्थ—जो तीर्थ इस लोक मे बिना दूर की यात्रा किए ही प्राप्त होता है,

जो बिना परलोक गए ही फल देता है, जो भवसागर से अतीत है एवं सभी प्रकार की कामनाओं को जो पूरा करने वाला है, वह तीर्थ आप को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं है ॥२५॥

टिप्पणी—औपच्छन्दसिक वृत्त ।

व्रजति शुचि पद त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरा गतिम् ।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् ॥२६॥

अन्वयः—हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् शुचि पद व्रजति प्रतिहतमतिः घोरा गतिम् एति । हे अनघ ! इयं परा निमित्तशक्तिः तव कचित् चित्तभेदः न ॥२६॥

अर्थ—हे वरदानी ! आपमे प्रीति रखने वाला मनुष्य कैवल्य पद की प्राप्ति करता है, और जो मन्दबुद्धि हैं वे आप से विमुख होकर घोर नारकीय यातना भोगते हैं । हे निष्कलङ्क ! यह तो अत्यन्त दुस्तर कार्य-कारण भाव से उत्पन्न होने वाली शक्ति की महिमा है, आप के चित्त मे ( भक्त और अभक्त के प्रति ) किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है ॥२६॥

टिप्पणी—अर्थात् आप से प्रेम करने वाले अपने इस पुण्यकर्म से ही कैवल्य पद प्राप्त करते हैं, और द्वेष बुद्धि रखने वाले अपने कर्म से ही घोर नारकीय यातना भोगते हैं । आप तो केवल साक्षीमात्र हैं, आप की दृष्टि मे तो सब समान हैं ।

दक्षिणां प्रणतदक्षिणमूर्त्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा ।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या सस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥२७॥

अन्वयः—हे भव ! हे प्रणतदक्षिण ! शिवकरी तव दक्षिणा मूर्ति तत्त्वतः अविदित्वा अपि रागिणा भक्त्या विहिता सस्मृतिः अभवाय भवति ॥२७॥

अर्थ—हे भव ! भक्तो पर दयालु ! आपकी कल्याणकारिणी भक्तवशानुवर्तिनी मूर्ति को यथार्थ रूप में न जान कर भी राग-द्वेष युक्त प्राणी केवल भक्ति के साथ आपका स्मरण मात्र करके संसार सागर से पार उतर जाते हैं ॥२७॥

टिप्पणी—स्वागता वृत्त ।

दृष्टा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय
प्रेक्षाकारी याति पद मुक्तमपायैः ।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वा
यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥२८॥

अन्वय.—प्रेक्षाकारी दृश्यानि दृष्टा आचरणीयानि विधाय अपायैः मुक्तं पद याति यः पर त्वा पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टि. यश्च उपास्ते सः साधु विधेय विधत्ते ॥२८॥

अर्थ—विचारशील लोग ज्ञान दृष्टि से तत्त्व को देखकर और अपने योग्य कर्त्तव्यो का अनुष्ठान कर विघ्न-बाधाओ से रहित मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। ( अर्थात् अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, क्योकि ज्ञान और कर्म से ही मुक्ति मिलती है और वे ज्ञान तथा कर्म आप के द्वारा ही प्राप्य हैं, किसी अन्य साधन से नही, क्योकि ) जो मनुष्य परम पुरुष के रूप मे आप को देखता है, उसी की दृष्टि सम्यक् है और जो आप की उपासना करता है, वही अच्छी तरह से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है ॥२८॥

टिप्पणी—मत्तमयूर छन्द ।

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजाना हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥२६॥

अन्वयः—मुनय स्वशक्त्या युक्ता हितोपदेशैः प्रजानाम् उपकारवन्त. । अचिन्त्यधामा त्वम् उपेतस्य दुरुत्तराणि कर्म्माणि समुच्छिनत्सि ॥२६॥

अर्थ—व्यास वाल्मीकि आदि मुनिजनो ने अपने योग की महिमा से स्मृति-इतिहास पुराणादि के द्वारा विधि-निषेधमय उपदेशो से लोगो का उपकार किया है किन्तु आप । आपकी महिमा अचिन्तनीय है, आप तो अपनी शरण मे आने वालो के अत्यन्त दुस्तर पाप-पुण्य कर्मों का नाश कर देने वाले हैं ॥२६॥

टिप्पणी—अर्थात् व्यास वाल्मीकि आदि लोगो के पाप-पुण्य कर्मों का नाश करने मे असमर्थ हैं, वे तो केवल उपदेष्टा हैं।

सन्निबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभय भुवनानाम्।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं बिभर्षि करुणामय मायाम् ॥३०॥

अन्वयः—अतिमायः हे करुणामय ! सन्निबद्धन् अहार्यं भूरि भुवनानां दुर्गतिभयम् अपहर्तुम् अद्भुताकृतिम् इमाम् माया बिभर्षि ॥३०॥

अर्थ—हे दयालु ! आप माया को जीतकर भी अपने पाप-पुण्य कर्मों से बँधे, दूसरो द्वारा दूर करने मे अशक्य एवं भयंकर नरक यातना को दूर करने के लिए अत्यन्त अद्भुत दिखाई पडने वाली इस लीलामयी माया ( विचित्र शरीर ) को धारण करते हैं ॥३०॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥३१॥

अन्वय.—चेतः रागि न परमा विलासिता शरीरे वधूः अस्ति मन्मथः च न अस्ति उषसि धातु. नमस्क्रिया इति इद तव ईहितम् अहो निसर्गदुर्बोधम् ॥३१॥

अर्थ—हे देव ! यद्यपि आप का चित्त राग से विहीन है तथापि आपके शरीर मे परम विलासिता दृष्टिगोचर होती है। और क्या कहूँ, आप के तो शरीर ही मे वधू है, किन्तु फिर भी कामदेव नही है। ( यद्यपि आप की वन्दना समस्त जगत् करता है, तथापि ) आप उषाकाल मे ब्रह्मा को नमस्कार करते हैं, इस प्रकार आप की यह चेष्टा सचमुच बडी जटिल है। सहज दुर्बोध है ॥३१॥

टिप्पणी—वंशस्थ वृत्त।

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्कजं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः।
स्रगास्यपंक्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥३२॥

अन्वयः—तव साङ्कज करिचर्म उत्तरीय ज्वलन्मणिः महान् अहिः सारसनम् आस्य पंक्ति स्रक् शवभस्म चन्दन हिमांशो. कला च सम चकासति ॥३२॥

अर्थ—हे देव ! रोमयुक्त गजचर्म तुम्हारा परिधान है, चमकती हुई

मणि से विभूषित महान सर्प तुम्हारी करधनी है। तुम कपालों की माला धारण करते हो, चिता का भस्म चन्दन के स्थान पर लगाते हो, (किन्तु फिर भी) तुम्हारे अग के ये सारे आभूषण चन्द्रमा की कला के समान ही शोभा पाते हैं ॥३२॥

टिप्पणी—अर्थात् तुम्हारे शरीर पर आश्रय पाकर ये अशुभ अमागलिक एव वीभत्स वस्तुएँ भी रम्य बन गई हैं। तुम्हारे लिए कुछ भी अशुद्ध एवं अमागलिक नही है।

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥३३॥

अन्वयः—अविग्रहस्य अपि अतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः तव एव जगत्सु विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता दृश्यते अन्यस्य न ॥३३॥

अर्थ—वस्तुतः आप तो अशरीरी हैं, यद्यपि किन्ही असाधारणों से स्त्री और पुरुष दोनों की (अर्धनारीश्वर) मूर्ति आप ने धारण की है। ससार मे इस प्रकार के परस्पर विरोधी स्वरूप और आभूषण के होते हुए भी आप के ही शरीर मे मनोहरता है वह किसी दूसरे के शरीर मे नही दिखायी पडता ॥३३॥

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि जो अशरीरी है उसका शरीर धारण करना एक विचित्र बात है, उस पर भी यह और भी विचित्रता है कि नर और नारी दोनों का शरीर एकत्र हो। इससे भी बढकर आश्चर्यजनक और क्या बात होगी? किन्तु यही तक भी नही है, ऐसी विरुद्ध वेश-भूषा होने पर भी आप के शरीर की जो मनोहरता है, वह अन्यत्र कही नहीं दिखाई पडती। निश्चय ही आप की महिमा अवर्णनीय है।

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसङ्घ इव न त्वमुपेतः।
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥३४॥

अन्वयः—त्व भूतसङ्घः इव आत्मलाभपरिणामनिरोधैः उपेत न असि तेन हे सर्वभुवनातिग! लोके न उपमानम् नापि उपमेयः ॥३४॥

अर्थ—हे देव ! आप अन्य सामान्य प्राणियो की भाँति जन्म, जरा और मृत्यु के बधनो से बंधे हुए नही हैं, इसीलिए इस ससार मे न तो सम्पूर्ण भुवनों का अतिक्रमण करने वाले आप की तुलना किसी अन्य से की जा सकती है और न कोई आप की तुलना कर सकता है ।।३४।।

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ।।३५।।

अन्वयः—हे देव ! त्वं स्थावरजङ्गमानाम् अन्तकः त्वया विश्वम् जगत्प्राणिति, त्वं योगिना हेतुफले रुणत्सि त्व कारणकारणाना कारणम् ।।३५।।

अर्थ—हे देव ! इस चराचर जगत के तुम ही संहार करने वाले हो। तुम्हारे ही कारण से यह सम्पूर्ण विश्व जीवन धारण करता है, तुम्ही योगियो को उनके कर्मों का फल देने वाले हो, और तुम्ही समस्त जगत के कारणो के भी परम कारण हो ।।३५।।

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा
यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।
पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे त-
न्माहात्म्य भवते नमस्क्रियायाः ।।३६।।

अन्वयः—रक्षोभिः सुरमनुजै. दितेः सुतैः वा लोकेषु यत् अविकलम् आधिपत्यम् आप्तम् तत् हे भव शरणागतार्तिहारिणे भवते नमस्क्रियायाः पाविन्याः माहात्म्यम् ।।३६।।

अर्थ—हे देव ! इस ससार मे राक्षसो ने, देवताओ ने मनुष्यो ने, अथवा दैत्यो ने जो-जो साम्राज्य प्राप्त किए है, हे भव ! उन सब का श्रेय शरणागतो की विपदा को दूर करने वाली आप के प्रति की गयी प्रणति की पावन महिमा को ही दिया जा सकता है ।।३६।।

टिप्पणी—प्रहर्षिणी छन्द ।।३६।।

[ शंकर की आठ मूर्तियां कही जाती हैं, उनमे से नीचे वायु मूर्ति की स्तुति की गयी है—]

तरसा भुवनानि यो विभर्ति ध्वनति ब्रह्म यतः परं पवित्रम् ।
परितो दुरितानि यः पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥३७॥

अन्वयः—यः तरसा भुवनानि विभर्ति यतः पवित्र परम् ब्रह्म ध्वनति यः परितः दुरितानि पुनीते हे शिव ! तस्मै पवनात्मने ते नमः ॥३७॥

अर्थ—जो वायु अपने वेग से भुवनों का प्राण सचार करने वाला है, जिसकी प्रेरणा से परम पवित्र वर्णात्मक ब्रह्म उच्चरित होता है, जो सब ओर से पापों का शोधन करने वाला है, हे शिव ! आप के उस वायु स्वरूप को मेरा नमस्कार है ॥३७॥

[ अब अग्नि स्वरूप का वर्णन है—]

भवतः स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।
दहते भवबीजसन्तर्ति शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥३८॥

अन्वयः—जयिनि ब्रह्ममये सदासने निषेदुषा भवतः स्मरता भवबीजसन्तर्ति दहते अनेकशिखाय शिखिने ते नमः ॥३८॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट, विजयी, ब्रह्मप्राप्ति के साधक योगासन पर विराजमान आप को स्मरण करने वाले योगीजनों के ससार मे जन्ममरणादि दुःखों के अनन्त कर्म-जालों का जो दहन कर देता है, आपके उस अनेक ज्वालाओं से प्रज्वल्यमान अग्नि स्वरूप को मेरा नमस्कार है ॥३८॥

[अब जल स्वरूप का वर्णन है—]

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय
प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते
बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥३९॥

अन्वय —हे भव ! बीजाना प्रभव आवाधामरणभयार्चिषा महता भवानलेन चिराय प्लुष्टेभ्य समुपगमेन निर्वाण यच्छते जीवनाय ते नम अस्तु ॥३९॥

अर्थ—हे भव ! ससार-बीज के आदि कारण ! आध्यात्मिक, आधिदैविक, एव आधिभौतिक—विविध दु खो तथा मरणादि के भय रूपी लपटो से भयकर भव रूपी अग्नि मे अनन्त काल से जले हुए जीवो को अपनी सेवा द्वारा शान्ति प्रदान करने वाली एव जीवन दान करने वाली आप की जो जलात्मिका मूर्ति है, मैं उसको नमस्कार करता हूँ ॥३९॥

[ अब आकाश स्वरूप का वर्णन है—]

य सर्वेषामावरीता वरीयान्सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठ ।
मार्गातीतायेन्द्रियाणा नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥४०॥

अन्वय —वरीयान् य सर्वेषाम् आवरीता सर्वै भावै न आवृत अनादिनिष्ट इन्द्रियाणा मार्गातीताय अविज्ञेयाय तस्मै व्योमरूपाय ते नम. ॥४०॥

अर्थ—हे भव ! जो विभु है, सम्पूर्ण जगत का आच्छादन करने वाला है, जो स्वय किसी से आवृत नही होता, जिसका न आदि है न अन्त है जो इन्द्रियो से अतीत है, अविज्ञेय है आप के उस आकाश स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४०॥

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दवीयसे ।
अतीत्य वाचा मनसा च गोचर स्थिताय ते तत्पतये नमो नम ॥४१॥

अन्वय —अणीयसे विश्वविधारिणे ते नम नम अन्तिकस्थाय दवीयसे नम वाचा मनसा च गोचरम् अतीत्य स्थिताय तत्पतये ते नम नम ॥४१॥

अर्थ—हे भव ! आप अणु से भी अधिक सूक्ष्मतर होते हुए भी निखिल विश्व के धारण करने वाले हैं, आप को मेरा नमस्कार है। आप अन्तर्यामी होने के कारण समीपस्थ हैं किन्तु इन्द्रियो से दुर्ग्राह्य होने के कारण दूरतर भी हैं,

आप को मेरा नमस्कार है। आप वचन से एव मन से अगोचर होते हुए भी वाणी और मन के अधिपति हैं, आप को मेरा नमस्कार है, नमस्कार है ॥४१॥

टिप्पणी—विरोधाभास अलकार।

असविदानस्य ममेश सविदा तितिक्षितु दुश्चरित त्वमर्हसि ।
विरोध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषा गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि ॥४२॥

अन्वय—सविदा ईश असविदानस्य मम दुश्चरितं तितिक्षितुम् त्वम् अर्हसि मोहात् विरोध्य पुन. अभ्युपेयुषा दुरात्मनाम् अपि भवान् एव गति ॥४२॥

अर्थ—हे समस्त विद्याओ के स्वामिन् ! मेरे जैसे अज्ञानी के शस्त्र-प्रयोग रूपी महान् अपराध को आप क्षमा करें। अज्ञान से विरोध पैदा कर और फिर से शरण में आने वाले दुष्ट-दुरात्माओ के भी आप ही एकमात्र शरणदाता हैं ॥४२॥

[अब अर्जुन अपनी अभिलाषा की याचना करते हैं—]

आस्तिक्यशुद्धमवत प्रियधर्म धर्मं
धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे ।
सम्प्राप्नुया विजयमीश यया समृद्धया
ता भूतनाथ विमुता वितराहवेषु ॥४३॥

अन्वय—हे प्रियधर्म ! आस्तिक्यशुद्ध धर्मम् अवत धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे हे ईश ! यया समृद्धया विजय सम्प्राप्नुया हे भूतनाथ ! आहवेषु ता विभुतां वितर ॥४३॥

अर्थ—हे धर्म की मर्यादा रखने वाले ! आस्तिक भावना से विशुद्ध वैदिक सनातन धर्म की रक्षा करने वाले हमारे अग्रज धर्मराज युधिष्ठिर के अपकारी शत्रुओ के ऊपर हे ईश ! हम जिस शस्त्रास्त्र समृद्धि के द्वारा विजय प्राप्त कर सकें, भूतनाथ ! युद्ध के लिए मुझे वही समृद्धि आप प्रदान करें। ( बस यही मेरी प्रार्थना है ) ॥४३॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः
प्रणतिशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा ।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं
धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ॥४४॥

अन्वय —इति उच्चैः निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोनः सूनुम् ईशः सादरं सान्त्वयित्वा अस्मै ज्वलदनलपरीतं रौद्रम् अस्त्रं दधानं धनुः उपपदं वेदम् अभ्यादिदेश ॥४४॥

अर्थ—इस प्रकार उच्चस्वर से निवेदन करते हुए पैरों पर पड़े इन्द्रपुत्र अर्जुन को भगवान शंकर ने आदरपूर्वक सान्त्वना देकर जलती हुई अग्नि की लपटों से चारों ओर व्याप्त शरीरधारी पाशुपत नामक अस्त्र को धारण करने वाले धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की ॥४४॥

टिप्पणी—अर्थात शंकर जी ने अपने भयंकर पाशुपत नामक अस्त्र को प्रदान कर उसके चलाने की शिक्षा भी अर्जुन को दे दी । मालिनीछन्द ।

स पिङ्गाक्षः श्रीमान्भुवमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः ।
परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ॥४५॥

अन्वय — पिङ्गाक्षः श्रीमान भुवनमहनीयेन महसा भीमां तनुं बिभ्रत त्रिगुणपरिवारप्रहरणः सः सुरगणैः स्तुतिभिः उपगीतः ईशानं त्रिः परीत्य वीरं पाण्डोः सुतं भास्वान जलदम् इव अभिययौ ॥४५॥

अर्थ—पिंगल नेत्रधारी अत्यन्त शोभायुक्त समस्त लोक द्वारा पूजनीय तेज से जाज्वल्यमान एवं भयंकर शरीर धारण किए हुए त्रिमूर्तिधारी सूर्य जिस प्रकार से मेघमण्डल में प्रवेश करता है उसी प्रकार से पीत वर्ण शोभासम्पन्न परम तेजस्विता के कारण भयंकर तीन फांक वाले त्रिशूल से सम्बन्ध रखने वाली

यह धनुर्विद्या, (पाशुपतास्त्र के प्रयोग की विद्या) देवगणो द्वारा स्तुतियो से गायन किये जाते हुए, भगवान शकर की तीन बार परिक्रमा कर वीरवर अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गई ॥४५॥

टिप्पणी—उपमा अलकार। शिखरिणी छन्द।

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य
त्रिदशपतिपुरोगा. पूर्णकामाय तस्मै।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो
विजयि विविधमस्त्र लोकपाला वितेरु ॥४६॥

अन्वय—अथ त्रिदशपतिपुरोगा लोकपाला शशधरमौले अभ्यनुज्ञाम् अवाप्य पूर्णकामाय तस्मै अवितथफलम् आशीर्वादम् आरोपयन्तः विजयि विविधम् अस्त्र वितेरु ॥४६॥

अर्थ—तदनन्तर इन्द्र प्रभृति लोकपालो ने चन्द्रशेखर शङ्कर की आज्ञा प्राप्त कर पूर्णकाम अर्जुन को अमोघ फलदायी आशीर्वाद देते हुए विजय प्रदान करानेवाले अनेकानेक अस्त्र प्रदान किए ॥४६॥

टिप्पणी—मालिनी छन्द।

असहार्योत्साह जयिनमुदय प्राप्य तरसा
धुर गुर्वी वोढु स्थितमनवसादाय जगत।
स्वधाम्ना लोकाना तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्या दीप्त दिनकृतमिवोच्चैरुपजगु ॥४७॥

अन्वय—तरसा जयिनम् उदयम् प्राप्य असहार्योत्साह जगत अनवसादाय गुर्वी धुरम् वोढु स्थित स्वधाम्ना लोकानाम् उपरि कृतस्थानम् दिनकृतम् इव तपोलक्ष्म्या दीप्त तम् अमरा उच्चैः उपजगु ॥४७॥

अर्थ—अपने बल एव वेग से विजयशील, उदयाचल को प्राप्त, दूसरो द्वारा समाप्त न होने वाले उत्साह से युक्त, ससार के कल्याण के लिए अन्धकार रूपी गम्भीर भार को उतारने के लिए उद्यत, अपने तेज से सम्पूर्ण लोको के ऊपर विराजमान सूर्य के समान अपने बल से विजयशील, पाशुपत नामक अस्त्र

की प्राप्ति से अभ्युदय को प्राप्त, दूसरो द्वारा भग न होने वाले उत्साह से पूर्ण, ससार के कल्याण के लिए दुष्ट दुरात्माओं के विनाश रूप गम्भीर कार्य को पूरा करने के लिए उद्यत, अपने अदम्य तेज से सम्पूर्ण लोक मे अद्वितीय एव तपस्या की आभा से चमकते हुए अर्जुन का देवताओं ने उच्च स्वर के साथ यशोगान किया ॥४७॥

टिप्पणी—शिखरिणी छन्द।

व्रज जय रिपुलोक पादपद्मानत स-
न्गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसङ्घैः ।
निजगृहमथ गत्वा सादर पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनु ननाम ॥४८॥

अन्वय—शिवेन व्रज रिपुलोक जय इति गदित पादपद्मानत देवसङ्घैः श्लाघित धृतगुरुजयलक्ष्मी पाण्डुपुत्र निजगृह गत्वा अथ सादर धर्मसूनुम ननाम ॥४८॥

अर्थ—भगवान् शङ्कर द्वारा यह कहने पर कि—जाओ और अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करो, उनके चरण-कमलो मे शिर झुकाकर, देवताओ द्वारा प्रशसित एव वर-प्राप्ति रूपिणी महती विजयलक्ष्मी को धारण कर पाडुपुत्र अर्जुन ने अपने घर पहुँचकर अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मपुत्र युधिष्ठिर को प्रणाम किया ॥४८॥

महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य मे अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥१८॥

किरातार्जुनीय महाकाव्य समाप्त।

—•०•—

## किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग में आये हुए कुछ बन्धों के चित्र

---

गोमूत्रिकाबन्ध :। ( १२ वाँ श्लोक )।

मा सु रो य न—वा ना गो—घ र स स्यो न रा क्ष सः

मा सु खो य न वा मो गो घ र णि स्यो हि रा ज सः

सर्वतोभद्रः। (२५वाँ श्लोक)

| दे | वा | का | नि | नि | का | वा | दे |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वा | हि | का | स्व | स्व | का | हि | वा |
| का | का | रे | भ | भ | रे | का | का |
| नि | स्व | भ | व्य | व्य | भ | स्व | नि |
| नि | स्व | भ | व्य | व्य | भ | स्व | नि |
| का | का | रे | भ | भ | रे | का | का |
| वा | हि | का | स्व | स्व | का | हि | वा |
| दे | वा | का | नि | नि | का | वा | दे |

अर्धभ्रमकः । (२७वाँ श्लोक)

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| स | स | त्व | र | ति | दे | नि | त्यं |
| स | द | रा | म | र्ष | ना | शि | नि |
| त्व | रा | धि | क | क | सं | ना | दे |
| र | म | क | त्व | म | क | र्ष | ति |

## किरातार्जुनीय महाकाव्य के श्लोकों की अकारादि-क्रमानुसार सूची


| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं | ३ | ३७ |
| अखण्डमाखण्डल | १ | २६ |
| अखिलमिदममुष्य | ५ | २१ |
| अगूढहासस्फुटदन्त | ८ | ३६ |
| अग्रसानुषु नितान्त | ६ | ७ |
| अचकमत सपल्लवां | १० | ४६ |
| अचित्ततायामपि | १७ | ४७ |
| अचिरेण परस्य | २ | ६ |
| अजन्मा पुरुषस्तावत् | ११ | ७० |
| अजिह्ममोजिष्ठममोघ | १४ | ५७ |
| अणीयसे विश्वविधा | १८ | ४१ |
| अणुरप्युपहन्ति | २ | ५१ |
| अतिपातितकाल | २ | ४२ |
| अतिशयितवनान्तर | १० | ८ |
| अतीतसंख्या विहिता | १४ | १० |
| अत्यर्थ दुरुपसदादुपेत्य | ७ | ६ |
| अथ कृतक विलोभनं | १० | १७ |
| अथ क्षमामेव | १ | ४४ |
| अथ चेदवधिः | २ | १६ |
| अथ जयाय नु मेरुमही | ५ | १ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा | १३ | २० |
| अथ दीर्घतमं तमः | १३ | ३० |
| अथ परिमलजामवाप्य | १० | १ |
| अथ भूतभव्यभवदीश | १२ | १६ |
| अथ भूतानि वार्त्रघ्न | १५ | १ |
| अथ वासवस्य वचनेन | १२ | १ |
| अथ विहितविधेयै | १६ | ६२ |
| अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं | १३ | ५ |
| अथ शशधरमौलेरभ्य | १८ | ४६ |
| अथस्फुरन्मीनविधूत | ८ | २७ |
| अथ स्वमायाकृतमन्दिरो | ८ | ८ |
| अथ हिमशुचिभस्म | १८ | १५ |
| अथाग्रे हसता साचि | १५ | ७ |
| अथापदामुद्धरणक्षमेषु | १७ | १ |
| अथाभिपश्यन्निव | ३ | ५६ |
| अथामर्षान्निसर्गाच्च | ११ | १ |
| अथोच्चकैरासनतः | २ | ५७ |
| अथो शरस्तेन मदर्थ | १४ | १७ |
| अथोष्णभासेव सुमेरु | ३ | ३२ |
| अदीपित वैद्युतजातवेदसा | ४ | २६ |
| अद्य क्रियाः कामदुघाः | ३ | ६ |
| अद्यरोचकार च विवेक | ६ | २१ |
| अधिगम्य गुह्यकगणादिति | ६ | ३८ |
| अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः | ६ | १७ |
| अनादरोपात्तधृतैक | १४ | ३६ |
| अनाप्तपुण्योपचयै | ३ | ५ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| अनामृशन्त क्वचिदेव | १७ | ३३ |
| अनायुधे सत्त्वजिघांसिते | १४ | १० |
| अनारत तेन पदेषु | १ | १५ |
| अनारत यौ मणिपीठ | १ | ४० |
| अनिर्जयेन द्विषता | ११ | ७१ |
| अनुकूलपातिनमचड | ६ | २५ |
| अनुकूलमस्य च विचिन्त्य | १२ | ४३ |
| अनुचरेण धनाधिपतेरथो | ५ | १६ |
| अनुजगुरथ दिव्य | ३ | ६० |
| अनुजानुमध्यमवसक्त | १२ | २२ |
| अनुद्धताकारतया | ३ | ३ |
| अनुपालयता मुदे | २ | १० |
| अनुभाववता गुरु स्थिर | १३ | १५ |
| अनुशासतमित्यना | २ | ५४ |
| अनुसानुपुष्पितलता | ६ | १ |
| अनुहेमवप्रमरुणै समता | ६ | ८ |
| अनेकराजन्यरथाश्व | १ | १६ |
| अनेन योगेन विवृद्ध | ३ | २८ |
| अन्तक पर्यवस्थाता | ११ | १३ |
| अन्तिकान्तिकगतेन्दु | ९ | २१ |
| अन्यदीयविशिखेन | १३ | ४६ |
| अन्यदोषमिव स स्वक | १३ | ४८ |
| अन्योन्यरक्तमनसा | ९ | ७४ |
| अपनेयमुदेतुमिच्छता | २ | ३६ |
| अपयन्धनुष शिवान्तिक | १३ | २३ |
| अपरागसमीरणे | २ | ५० |

| | सर्ग | श्लोक सख्या |
|---|---|---|
| असकलनयनेक्षितानि | १० | ५६ |
| असक्तमाराधयतो | १ | ११ |
| असमापितकृत्य | २ | ४८ |
| असावनास्थापरया | ४ | ३४ |
| असिः शरा वर्म धनुश्च | १४ | २० |
| असृड् नदीनामुपचीय | १६ | १० |
| असविदानस्य ममेश | १८ | ४२ |
| असशय न्यस्तमुपान्त | ८ | ३८ |
| असशयालोचितकार्य | ३ | ३३ |
| असहार्योत्साह् जयिन | १८ | ४७ |
| अस्त्रवेदमधिगम्य तत्वत | १३ | ६२ |
| अस्त्रवेदविदय मही | १३ | ६७ |
| अस्त्रै सभानामति | १७ | ३४ |
| अस्मितगृह्यत पिनाक | ५ | ३३ |
| अस्मिन्यश पौरुष | १६ | ६ |
| अशुपाणिभिरतीव | ६ | ३ |
| असस्थले केचिद | १६ | ३० |
| असावष्टब्धनतो | १६ | २१ |
| आकारमाशसितभूरि | ३ | २७ |
| आकीर्णं बलरजसा | ७ | ३६ |
| आकीर्णा मुखनलिनै | ७ | १८ |
| आकुमारमुपदेष्टु | १३ | ४३ |
| आकुलश्चलपतत्रि | ६ | ८ |
| आक्षिप्तचापावरणेषु | १७ | ५६ |
| आक्षिप्तसम्पातमपेत | १६ | ४१ |
| आक्षिप्यमाण रिपुभि- | ३ | ५० |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| आघट्टयामास गता | १७ | ३८ |
| आघ्राय क्षणमतितृप्य | ७ | ३४ |
| आतते घृतिमता | ६ | ३० |
| आनियेयीमयासाद्य | ११ | ६ |
| आत्मनीनमुपतिष्ठते | १३ | ६६ |
| आत्मलाभपरिणाम | १८ | ३४ |
| आदृता नखपदैः | ६ | ४६ |
| आबाधामरणभया | १८ | ३६ |
| आमत्तभ्रमरकुला | ७ | १० |
| आमोदवासितचला | ६ | ७७ |
| आयस्तः सुरसरिदोघ | ७ | ३२ |
| आरोढुं समवनतस्य | ७ | ३३ |
| आर्यसितापचिति | ६ | ४६ |
| आशु कान्तमभिसारित | ६ | ३८ |
| आसक्तभरनीकाशौ | ११ | ५ |
| आसक्ता धूरियं | ११ | ७० |
| आसन्नद्विपपदवीमदा | ७ | २४ |
| आसादिता तत्प्रथम | १६ | २७ |
| आसुरे लोकविन्यास | १५ | २८ |
| आसेदुषा गोत्रभिदो | १८ | १८ |
| आस्थितपशुद्धमवत | १८ | ४३ |
| आस्थामालम्ब्य नीतेषु | १५ | ४ |
| आस्थितः स्थगित | ६ | ६ |
| आहिते नु मधुना | ६ | ६६ |
| इच्छतां सह वधूभि | ६ | १३ |
| इतरेतरानभिभवेन | ६ | ३४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| इति कथयति तत्र | ४ | ३७ |
| इति गा विधाय विरतेषु | १२ | ३२ |
| इति चालयन्नचलसानु | १२ | ५२ |
| इति तानुदारमनुनीय | १२ | ४० |
| इति तेन विचिन्त्य चाप | १३ | १४ |
| इति दर्शितविक्रिय | २ | २५ |
| इति निगदितवन्त | १८ | ४४ |
| इति ध्रुवाणेन महेन्द्र | ३ | ३० |
| इति विविधमुदासे | १६ | ६३ |
| इति विषमितचक्षुषा | १० | ५६ |
| इति शासित सेनान्या | १५ | २९ |
| इतीरयित्वा गिरमात्त | १ | २६ |
| इतीरिताकूतमनील | १४ | २४ |
| इत्थ विहृत्य वनिताभि | ८ | ५५ |
| इत्युक्तवन्त परिरभ्य | ११ | ८० |
| इत्युक्तवन्त व्रज साधये | ३ | २४ |
| इत्युक्तवानुक्तिविशेष | ३ | १० |
| इत्युक्त्वा सपदि हित | ५ | ५१ |
| इदमीदृग्गुणोपेत | ११ | ४१ |
| इमान्यमूनीत्यपवर्जिते | ८ | २० |
| इमामह वेद न तावकी | १ | ३७ |
| इयमिष्टगुणाय रोचना | २ | ५ |
| इय च दुर्वारमहारथाना | १६ | १७ |
| इय शिवाया नियते | ४ | २१ |
| इह दुरधिगमै किचिदेवा | ५ | १८ |
| इह वीतभयास्तपोऽनुभावा | १३ | १४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| इह सनियमयोः सुराप | ५ | ४० |
| ईशार्थमम्भसि चिराय | ५ | २९ |
| उच्यता स वचनीय | ९ | ३९ |
| उज्झती शुचमिवाशु | ९ | १८ |
| उज्झन्तु सहार इवा | १६ | १६ |
| उत्फुल्लस्थलनलिनी | ५ | ३९ |
| उत्सङ्गे समविषमे सम | ७ | २१ |
| उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा | ७ | ३० |
| उदस्य धैर्यं दयितेन | ८ | ५० |
| उदारकीर्तेरुदय | १ | १८ |
| उदाहरणमाशी.षु | ११ | ६५ |
| उदितोपलस्खन | ६ | ४ |
| उदीरिता तामिति | ३ | ५५ |
| उदूढवक्ष.स्थकितैक | १४ | ३१ |
| उदगतेन्दुमविभिन्न | ९ | २४ |
| उन्मज्जन्मकर इवा | १७ | ६३ |
| उपकार इवासति | १३ | ३३ |
| उपकारकमाहृते | २ | ४३ |
| उपजापसहान्विल | २ | ४७ |
| उपपतिरदाहृता | २ | २८ |
| उपलभ्य चञ्चलतरङ्ग | ६ | १४ |
| उपलाहतोद्धततरङ्ग | ६ | १० |
| उपाधत्त सपत्नेषु | ११ | ५० |
| उपारताः पश्चिमरात्रि | ४ | १० |
| उपेयुषीणा बृहतीरधि | ८ | १२ |
| उपेयुषी विभ्रतमन्तक | १४ | ३८ |

| | सर्ग | श्लोक सख्या |
|---|---|---|
| उपैति सस्य परिणाम | ४ | २२ |
| उपैत्यनन्तद्युतिरप्य | १६ | ६१ |
| उपोढकल्याणफलो | १७ | ५४ |
| उमापति पाण्डुसुत | १७ | १२ |
| उरसि शूलभृत प्रहिता | १८ | ५ |
| उरु सत्त्वमाह विपरि | ६ | ३५ |
| ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च | १६ | ४० |
| ऋषिवशज स यदि | ६ | ३६ |
| एकतामिव गतस्य | ९ | १२ |
| एव प्रतिद्वन्द्विषु तस्य | १७ | १८ |
| ओजसापि खलु नून | ९ | ३३ |
| ओष्ठपल्लवविदश | ९ | ४७ |
| औपसातपभयादप | ९ | ११ |
| ककुदे वृषस्य कृत | १२ | २० |
| कच्छान्ते सुरसरितो | १२ | ५४ |
| कतिपयसहकारपुष्प | १० | ३० |
| कथमिव तव सम्मति | १० | ३६ |
| कथ वादीयतामर्वाड् | ११ | ७६ |
| कथाप्रसङ्गेन जनैः | १ | २४ |
| कपोलसश्लेषि विलो | ४ | ९ |
| करणशृङ्खलनिसृतयोः | १८ | ११ |
| करिष्यसे यत्र सुदुश्च | ३ | २९ |
| करुणमभिहित त्रपा | १० | ५८ |
| करोति योऽशेषजनाति | ३ | ४१ |
| करौ धुनाना नवपल्लवाकृति पयस्यगाधे | ८ | ५८ |
| करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा | ८ | ७ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| कलत्रभारेण विलोल | ८ | १७ |
| कवच स विभ्रदुपवीत | १२ | ६ |
| कषणकम्पनिरस्तमहा | ५ | ४७ |
| कान्तदूत्य इव कुकुम | ९ | ६ |
| कान्तवेश्म बहु सन्दिशती | ९ | ३७ |
| कान्तसङ्गमपराजित | ९ | ५२ |
| कान्ताजन सुरतखेद | ९ | ७६ |
| कान्ताना कृतपुलक. | ७ | ५ |
| किं गनेत नहि युक्त | ९ | ४० |
| किं त्यक्तापास्तदेवत्व | १५ | २१ |
| किमपेक्ष्य फल | २ | २१ |
| किमसामयिक | २ | ४० |
| किमुपेक्षसे कथय | १२ | ३१ |
| किरातसैन्यादुरुचाप | १४ | ४५ |
| काप्यताशु भवतानत | ९ | ५३ |
| कुररीगण कृतरवस्तरवः | ५ | २५ |
| कुरु तन्मतिमेव | २ | २२ |
| कुरु तात तपास्यमार्ग | १३ | १३ |
| कुसुमनगवनान्युपैतु | १० | ३१ |
| कुसुमितमवलम्ब्य | १० | ५३ |
| कृतधृति परिवन्दिते | १८ | २१ |
| कृतप्रणामस्य मही | १ | २ |
| कृतपुरुषशब्देन | ११ | ७२ |
| कृतवानन्यदेहेषु | ११ | २६ |
| कृतनतिर्व्याहृतगा | ३ | ३१ |
| कृतान्तदुर्वृत्त इवा | १६ | २६ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| कृतारिषड्वर्गजयेन | १ | ९ |
| कृतावधान जितबर्हि | ४ | ३३ |
| कृतोर्मिरेख शिथिलत्व | ४ | ६ |
| कृष्णद्वैपायनादेशात् | ११ | ४६ |
| कोन्विम हरितुरङ्ग | १३ | ५० |
| कोऽपवादः स्तुतिपदे | ११ | २५ |
| कान्ताना ग्रहचरितात् | ७ | १२ |
| क्रामद्भिर्घनपदवीमनेक | ५ | ३४ |
| क्रियासु युक्तैर्नृप | १ | ४ |
| क्रोधान्धकारान्तरितो | १७ | ९ |
| क्लान्तोऽपि त्रिदशवधू | ७ | २९ |
| क्व चिराय परिग्रह | २ | ३९ |
| क्षत्रियस्तनय. पाण्डोः | ११ | ४५ |
| क्षययुक्तमपि स्वभावज | २ | ११ |
| क्षितिनभ सुरलोक | ५ | ३ |
| क्षिपति योऽनुवन | ५ | ४५ |
| क्षीणयावकरसोऽप्यति | ९ | ६२ |
| क्षुभिनामिनि सृत | १२ | . ४५ |
| क्षोभेण तेनाथ गणा | १७ | २२ |
| खण्डिताशसया तेषा | १५ | ३ |
| गणाधिपानामविधाय | १४ | ५४ |
| गतवति नखलेखा | ९ | ७८ |
| गतान्पशूना सहजन्म | ४ | १३ |
| गतैः परेषामविभाग | १४ | ५२ |
| गतैः सहावै. कलहस | ८ | २९ |
| गन्धमुद्धतरजः कण | ९ | ३१ |

| | सर्ग | श्लोक सख्या |
|---|---|---|
| गभीररन्ध्रेषु भृश महा | १४ | ४६ |
| गम्यतामुपगते नयनाना | ६ | ४ |
| गुणसम्पदा समधिगम्य | ५ | २४ |
| गुणानुरक्तामनुरक्त | १ | ३१ |
| गुणापवादेन तदन्य | १४ | १२ |
| गुरुक्रियारम्भफलै | १४ | ४२ |
| गुरुस्थिराण्युत्तम | १६ | २८ |
| गुरूकुर्वन्ति ते वश्यान | ११ | ६४ |
| गूढोऽपि वपुपा राजन् | ११ | ६ |
| ग्रसमानमिवौजासि | ११ | ७३ |
| ग्रहविमानगणानभितो | ५ | १४ |
| घनपोत्रविदीर्णशाल | १३ | ३ |
| घन विदार्यार्जुन | १५ | ५० |
| घनानि काम कुसुमानि | ८ | ४ |
| चञ्चल वसु नितान्त | १३ | ५३ |
| चतमृष्वपि ते विवेकिनी | २ | ६ |
| चमरीगणैर्गणवलस्य | १२ | ४७ |
| चयानिवाद्रीनिव | १६ | ५२ |
| चलनेऽवनिश्चलति | १२ | २८ |
| चारचुञ्चुश्चिरारेची | १५ | ३८ |
| चिचोपताजन्मवता | ३ | ११ |
| चिरनिवृ तिविधापि | ६ | ७१ |
| चित्तवानसि कल्याणी | ११ | १४ |
| चित्रायमाणानति | १७ | ३१ |
| विरनियतकलोति | १० | १४ |
| विरम | | |

| | सर्ग | श्लोक-सख्या |
|---|---|---|
| च्युते स तस्मिन्निपुधौ | १७ | ३७ |
| छाया विनिर्धय तमोमयी | १६ | ३२ |
| जगतीशरणे युक्तो | १५ | ४५ |
| जगत्प्रसूतिर्जगदेक | ४ | ३२ |
| जटाना कर्णया केशै | ११ | ३ |
| जनैरुपग्राममनिन्द्य | ४ | १६ |
| जन्मवेपतपसा विरोधिनी | १३ | ६४ |
| जन्मिनोऽस्य स्थिति | ११ | ३० |
| जपत सदा जपमुपाशु | १२ | ८ |
| जयमत्रभवान्नून | ११ | १८ |
| जयारवक्ष्वेडितनाद | १४ | २६ |
| जयेन कच्चिद्विरमेदय | १४ | ६२ |
| जरतामपि विभ्राण | ११ | ७ |
| जलदजालघनैरसिता | ५ | ४८ |
| जलौघनसमूच्छनमूर्च्छित | १६ | ५६ |
| जहातु नैन कथमर्थ | ३ | १४ |
| जहार चास्मादचिरेण | १७ | ४४ |
| जहिहि कठिनता | १० | ५१ |
| जहीहि कोप दयितो | ८ | ८ |
| जिह्माशतान्युल्लस | १६ | ३७ |
| जीयन्ता दुर्जया देहे | ११ | ३२ |
| जेतुमेव भवता | १३ | ५४ |
| ज्वलतस्तव जात | २ | २४ |
| ज्वलतोऽनलादनुनि | १२ | ७ |
| ज्वलित न हिरण्य | २ | २० |
| तत उदग्र इव द्विरदे | १८ | १ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| ततः किरातस्य वचो | १४ | १ |
| तत. किराताधिपते | १६ | १ |
| तत. प्रजह्रे सममेव | १५ | ४४ |
| ततः प्रयात्यस्तमदा | १७ | १७ |
| तत. शरच्चन्द्रकरा | ३ | १ |
| ततः सकूजत्कलहंस | ४ | १ |
| ततः सदर्पं प्रतनु | १४ | २५ |
| तत. स सप्रेक्ष्य शरद्गुण | ४ | २० |
| ततः सुपर्णव्रजपक्ष | १६ | ४४ |
| ततस्तपोवार्यसमुद्धतस्य | १७ | ३५ |
| ततोऽग्रभूमि व्यवसाय | १७ | ५५ |
| ततो धरित्रीधरतुल्य | १६ | ५५ |
| ततोऽनुपूर्वायतवृत्त | १७ | ५० |
| ततोऽग्रवादेन पताकिनी | १४ | २७ |
| तत्तदीयविशिखा | १३ | ५७ |
| तत्तितिक्षितमिद | १३ | ६८ |
| तत्र कार्मुकभृत | १३ | ३५ |
| तथा न पूर्वं कृतभूषणा | ८ | ४१ |
| तथापि जिह्मः स | १ | ८ |
| तथापि निघ्न नृप | १३ | १२ |
| तदनघ तनुरस्तु | १० | ५० |
| तदभूरिवासरकृत | ६ | २६ |
| तदल प्रतिपक्ष | २ | ५ |
| तदा रम्याण्यरम्याणि | ११ | २८ |
| तदाशु कर्तुं त्वयि | १ | २५ |
| तदाशु कुर्वन्वचन | ३ | ५४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| तदुपेत्य विघ्नयत | ६ | ४३ |
| तद्गणा ददृशुर्भीम | १५ | ३५ |
| तनुमवजितलोक | १० | १५ |
| तनुवारभसो भास्वान | १५ | २३ |
| तनूरलक्तारुणपाणि | ८ | ५ |
| तपनमण्डलदीपितमेक | ५ | २ |
| तपसा कृश वपुरुवाह् | १२ | ६ |
| तपसा तथा न मुदमस्य | १८ | १४ |
| तपसा निपीडितकृश | १२ | ३६ |
| तपोबलेनैष विधाय | १४ | ६० |
| तप्तानामुपदधिरे विषाण | ७ | १३ |
| तमतनुवनराजिश्यामितो | ४ | ३८ |
| तमनतिशयनीय सर्वत: | ५ | ५२ |
| तमनिन्द्यवन्दिन इवेन्द्र | ६ | २ |
| तमाशु चक्षुः श्रवसा | १६ | ४२ |
| तमुदीरितारुणजटाशु | १२ | १४ |
| तरसा भुवनानि यो | १८ | ३७ |
| तरसैव कोऽपि भुवनैक | १२ | ३६ |
| तवोत्तरीय करिचर्म | १८ | ३२ |
| तस्मै हि भारोद्धरणे | १७ | १४ |
| तस्यातियत्नादति | १७ | ३२ |
| तस्याहवायासविलोल | १७ | ८ |
| त शम्भुराक्षिप्तमहेषु | १७ | ४३ |
| तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि | ३ | ३५ |
| तापसोऽपि विभुता | १३ | ३६ |
| तामैक्षन्त क्षण सभ्या | ११ | ५१ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| तावदाश्रियते लक्ष्म्या | ११ | ६१ |
| तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्ज | १४ | ३३ |
| तिरोहितान्तानि नितान्त | ८ | ४७ |
| तिरोहितेन्दोरथ शम्भु | १६ | ३१ |
| तिष्ठता तपसि पुण्य | १३ | ४४ |
| तिष्ठद्भि कथमपि | ७ | ४ |
| तीरान्तराणि मिथुनानि | ८ | ५६ |
| तुतोष पश्यन्कमलस्य | ४ | ४ |
| तुल्यरूपमसितोत्पल | ६ | ६१ |
| तुषारलेखाकुलितो | ३ | ३६ |
| तेज समाश्रित्य परै | १७ | ३ |
| तेन व्यातेनिरे भीमा | १५ | ४२ |
| तेन सूरिरुपकारिता | १३ | ६० |
| तेनानिमित्तेन तथा | १७ | ४० |
| तेनानुजसहायेन | ११ | ४८ |
| त्रयीमृतूनामनिला | १४ | ४८ |
| त्रासजिह्म यतश्चैता | १५ | ६ |
| त्रि सप्तकृत्वो जगती | ३ | १८ |
| त्वमन्तक स्थावरजङ्गमाना | १८ | ३५ |
| त्वया साधु समारम्भि | ११ | १० |
| त्विषा तति पाटलिता | १६ | ३३ |
| दक्षिणा प्रणतदक्षिणा | १८ | २७ |
| ददृशेऽथ सविस्मय | १३ | १७ |
| दधत इव विलासशालि | ५ | ३२ |
| दधतमाकरिभि करिभि | ५ | ७ |
| दधति क्षती परित | ६ | ७ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| दनुज.स्विदय क्षपा | १३ | ८ |
| दरीमुखैरासवराग | १६ | ४६ |
| दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिः | १६ | ३८ |
| दिवः पृथिव्याःककुभा | १४ | ५३ |
| दिव्यस्त्रीणां सचरण | ५ | २३ |
| दिशः समूहन्निव | १४ | ५० |
| दीपयन्नथ नभः | ९ | २३ |
| दीपितस्त्वमनुभाव | १३ | ३८ |
| दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा | ११ | ४७ |
| दुरासदवनज्याया | ११ | ६३ |
| दुरासदानरीनुग्रान् | ११ | २३ |
| दुर्वच तदथ मा स्म | १३ | ४९ |
| दुःशासनामर्षरजो | ३ | ४७ |
| दूनास्तेऽरिबलादूना | १५ | ३१ |
| दृश्यतामयमनोकहा | १३ | ७० |
| दृष्टावदानाद्व्यथतेऽरि | १७ | १६ |
| दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि | १८ | २८ |
| देवाकानिनि कावादे | १५ | २५ |
| द्या निरन्ध्रदतिनील | ९ | २० |
| द्युति वहन्ती वनिता | ८ | ३९ |
| द्युवियद्गामिनी तार | १५ | ४३ |
| द्यौरुन्नमेव दिशः | १६ | ३५ |
| द्रुतपदमभियातुमिच्छतीना | १० | २ |
| द्वारिचक्षुरधिपाणि | ९ | ४३ |
| द्विरदानिव दिग्वि | २ | २३ |
| द्विषतः परासिसिषु | १२ | ३४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| द्विपनामुदयः | २ | ८ |
| द्विपना विहित | २ | १७ |
| द्विपन्निमित्ता यदियं | १ | ४१ |
| द्विषा विघाताय | १ | ३ |
| द्विषा सतीर्याः प्रथमे | १४ | ५५ |
| धनुः प्रबन्धध्वनितं | १६ | २० |
| धर्मात्मजो धर्मनिबन्धि | ३ | ३४ |
| धार्तराष्ट्रैः सह प्रीति | ११ | ५५ |
| धाष्टर्यलङ्घितयथोचित | ६ | ७२ |
| धुतानामभिमुखपातिभिः | ७ | ३ |
| धुतबिसवलयावलि | १० | २४ |
| धुतबिसवलये निधाय | १० | ४७ |
| धुतहेतिरप्यधृतजिह्म | ६ | २४ |
| धुतोत्पलापीड इव | १६ | १५ |
| धैर्यावसादेन हृतप्रमादा | ३ | ३८ |
| धैर्येण विश्वास्यतया | ३ | ३४ |
| ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य | १४ | ६ |
| ध्वनिरगविवरेषु | १० | ४ |
| ध्वंसेन हृदयं सद्यः | ११ | ५७ |
| न ज्ञातं तात यत्नस्य | ११ | ४२ |
| न तेन सज्यं क्वचिदु | १ | २१ |
| न ददाह भूरुहवनानि | १२ | १६ |
| न दलति निचये | १० | ३६ |
| ननु हो मथना राघो | १५ | २० |
| न नोननुन्नो नुन्नोनो | १५ | १४ |
| न पपात सन्निहित | १२ | ४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| न प्रसादमुचित गमिता | ६ | २५ |
| न मृगः खलु कोऽप्ययं | १३ | ६ |
| नयनादिव शूलिन. | १३ | २२ |
| न रागि चेत. परमा | १८ | ३१ |
| नवपल्लवाञ्जलिभृतः | ६ | २६ |
| न वर्त्म कस्मैचिदपि | १४ | १४ |
| नवविनिद्रजपाकुसुम | ५ | ८ |
| नवातपालोहितमाहित | ४ | ८ |
| न विरोधिनी रुषमियाय | १२ | ४६ |
| न विसिस्मये न विषसाद | १२ | ५ |
| न समयपरिरक्षण | १ | ४५ |
| न सुख प्रार्थये नार्थ | ११ | ६६ |
| न स्रजो रुरुचिरे | ६ | ३५ |
| नानारत्नज्योतिषा | ५ | ३६ |
| नान्तरज्ञा श्रियो जातु | ११ | २४ |
| नाभियोक्तुमनृत | १३ | ५८ |
| नासुरोऽय न वा नागो | १५ | १२ |
| निचयिनि लवली | १० | २६ |
| निजघ्निरे तस्य हरेषु | १७ | २६ |
| निजेन नीत विजिताऽन्य | १४ | ३६ |
| निद्राविनोदितनितान्त | ६ | ७५ |
| निपतितेऽधिशिरोऽध | १८ | ६ |
| निपीयमानस्तबका | ८ | ६ |
| निबद्धनि श्वासविकम्पिता | ४ | १५ |
| निमीलदाकेकरलोल | ८ | ५३ |
| निरञ्जने साचिविलोकित | ८ | ५२ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| निरत्ययं साम न दान | १ | १२ |
| निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्व | ३ | ६ |
| निरीक्ष्यमाणा इव | ४ | ३ |
| निरीक्ष्य संरम्भनिरस्त | ३ | २१ |
| निर्याय विद्याथ दिनादि | ३ | २५ |
| निवृत्तवृत्तोरुपयोधर | ८ | ३ |
| निशम्य सिद्धिं द्विषतां | १ | २७ |
| निशातरौद्रेषु विकासतां | १४ | ३० |
| निशितासिरितोऽभीको | १५ | २२ |
| निःशेष प्रशमितरेणु | ७ | ३८ |
| निःशेष शकलित | १७ | ६२ |
| निःश्वासधूमैः स्थगितांशु | १६ | ३६ |
| निषण्णामापत्प्रतिकार | १४ | ३७ |
| निषादिसन्नाहमणि | १६ | १२ |
| निसर्गदुर्बोधमबोध | १ | ६ |
| निहते विडम्बित | १२ | ३८ |
| निहितसरसयावकै | १० | ३ |
| नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिर | ५ | ३१ |
| नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्ग | ७ | २५ |
| नीरन्ध्रं परिगमिते | १७ | ६ |
| नीलनीरजनिभे हिम | ६ | १६ |
| नुनोद तस्य स्थलपद्मिनी | ४ | ५ |
| नूनमत्रभवतः शराकृति | १३ | ४५ |
| नृपतिमुनिपरिग्रहेण | १० | ६ |
| नूपुरस्वनभिन्नः | १० | ४४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| न्यायनिर्णीतसारत्वा | ११ | ३६ |
| पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य | १४ | ४६ |
| पतन्ति नास्मिन्विशदाः | ४ | २३ |
| पतितैरपेतजलदान्न | ६ | २७ |
| पतिं नगानामिव | १७ | ५ |
| पथश्च्युताया समितौ | ३ | १५ |
| पपात पूर्वां जहतो | ४ | १८ |
| परमास्त्रपरिग्रहोरुतेज. | १३ | २६ |
| परवानर्थसंसिद्धौ | ११ | ३३ |
| परस्य भूयान्विवरे | १६ | २३ |
| पराहतध्वस्तशिखे | १६ | ५६ |
| परिकीर्णमुद्यतभुजस्य | १२ | ११ |
| परिक्षते वक्षसि दन्ति | १६ | ११ |
| परिणाममुखे गरीयसि | २ | ४ |
| परिणाहिना तुहिनराशि | १२ | २३ |
| परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदा | ४ | १४ |
| परिभ्रमल्लोहित | १ | ३४ |
| परिमोहयमाणेन | १५ | ३६ |
| परिवीतमशुभिरुदस्त | १२ | १८ |
| परिसरविषयेषु लीढ | ५ | ३८ |
| परिसुरपतिसूनुधाम | १० | २० |
| परिस्फुरन्मीनविघट्टितो | ८ | ४५ |
| परीतमुक्षावजये | ४ | ११ |
| परोऽवजानाति यदज्ञता | १४ | २३ |
| पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य | १७ | ४२ |
| पाणिपल्लवविधूनन | ६ | ५० |

| | सर्ग | श्लोक सख्या |
|---|---|---|
| पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः | १५ | ११ |
| पातुमाहितरतीन्यभि | ६ | ५१ |
| पार्थबाणाः पशुपते | १५ | ४० |
| पुरःसरा धामवता | १ | ४३ |
| पुराधिरूढः शयन | १ | ३८ |
| पुरोपनीत नृप | १ | ३९ |
| पुसः पदं मध्यममुत्त | १६ | १९ |
| पृथग्विधान्यस्त्रविराम | १६ | ३४ |
| पृथुकदम्बकदम्बकराजित | ५ | ९ |
| पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि | ६ | ४५ |
| पयःरुपर्यस्तबृहल्लता | १४ | ३४ |
| प्रकृतमनुससार नाभि | १० | ४१ |
| प्रचलिते चलितं | १८ | १० |
| प्रणतिप्रवणान्विहाय | २ | ४४ |
| प्रणतिमथ विधाय | ६ | ४७ |
| प्रणिधाय चित्तमथ | ६ | ३९ |
| प्रणिधाय तत्र विधि | ६ | १९ |
| प्रतप्तचामीकरभासुरेण | १६ | ४० |
| प्रतिक्रियायै विधुरः | १७ | ४१ |
| प्रतिघ्नतीभिः कृत | १६ | ४३ |
| प्रतिदिशमभिगच्छता | १० | २१ |
| प्रतिदिश प्लवगाधिप | १४ | ६४ |
| प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न | ६ | १२ |
| प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषार | ७ | १५ |
| प्रत्याहतौजाः कृत | १७ | १५ |
| प्रनृत्तशववित्रस्त | १५ | २६ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| प्रपित्सोः किं च ते मुक्ति | ११ | १६ |
| प्रबभूव नालमवलोकयितु | ६ | ६ |
| प्रभवति न तदा परो | १० | ३५ |
| प्रभवः खलु कोश | २ | १२ |
| प्रमार्ष्टुमयशःपङ्क | ११ | ६७ |
| प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि | ८ | १४ |
| प्रयुज्य सामाचरित | १४ | ७ |
| प्रलीनभूपालमपि | १ | २३ |
| प्रववृतेऽथ महाहव | १८ | ८ |
| प्रवालभङ्गारुणपाणि | ८ | २१ |
| प्रविकर्षनिनादभिन्न | १३ | १६ |
| प्रविततशरजालच्छन्न | १४ | ६५ |
| प्रविवेश गामिव | १२ | १० |
| प्रवृत्तनक्तंदिव | १६ | ४७ |
| प्रवृद्धसिन्धूर्मिचय | १६ | ६० |
| प्रशान्तधर्माभिभवः | ८ | २८ |
| प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि | ७ | ३५ |
| प्रसक्तदावानल | १६ | २६ |
| प्रसह्य योऽस्मासु परैः | ३ | ४४ |
| प्रसादरम्यमोजस्वि | ११ | ३८ |
| प्रसादलक्ष्मी दधत | ३ | २ |
| प्रसेदिवासेन तमाप | १७ | २३ |
| प्रस्थानश्रमजनितां | ७ | ३१ |
| प्रस्थिताभिरधिनाथ | ६ | ३६ |
| प्रहीयते कार्यवशा | १६ | २२ |
| प्राञ्जलावपि जने | ६ | १० |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| प्राप्तोऽभिमानव्यसनाद | ३ | ४५ |
| प्राप्यते गुणवतापि | ६ | ५८ |
| प्राप्यते यदिह दूर | १८ | २५ |
| प्रियेऽपरा यच्छति | ८ | १५ |
| प्रियेण सग्रथ्य विपक्ष | ८ | ३७ |
| प्रियेण सिक्ता चरमं | ८ | ५४ |
| प्रियेषु यैः पार्थ विनोप | ३ | ५२ |
| प्रियैः सलील करवारि | ८ | ४६ |
| प्रीते पिनाकिनि मया , | ११ | ८१ |
| प्रेरितः शशधरेण करौघः | ६ | २८ |
| प्लुतमालतीसितकपाल | १२ | २४ |
| वदरीतपोवननिवास | १२ | ३३ |
| वद्धकोपविकृतीरपि | ६ | ६४ |
| वभार शून्याकृति | १७ | ३६ |
| वलवदपि वल मिथो | १० | ३७ |
| वलवानपि कोपजन्मनः | २ | ३७ |
| वलशालितया तथा तथा | १३ | १२ |
| वहुधा गता जगति | ६ | ४२ |
| वहु वहिचन्द्रकनिभ | ६ | ११ |
| वहुश- कृतसत्कृतेर्विधातु | १३ | १० |
| वाणच्छिदस्ते विशिखाः | १७ | २० |
| विभराम्वभूवुरपवृत्त | १२ | ४६ |
| वृहद्‌द्वहन्जलदनादि | १२ | ४२ |
| भयङ्करः प्राणभृता | ११ | १७ |
| भयादिवाश्लिप्य झयाहते | ८ | ४६ |
| भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रम | ६ | ५४ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| भर्तृ पूपसखि निक्षिप | ६ | ६६ |
| भवतः स्मरता सदा | १८ | ३८ |
| भवद्भिरधुनाराति | १५ | १७ |
| भवन्तमेतर्हि मनस्वि | १ | ३२ |
| भवन्ति ते सभ्यतमा | १४ | ४ |
| भवभीतये हतबृहत्तम | ६ | ४१ |
| भवादृशेषु प्रमदा | १ | २८ |
| भव्यो भवन्नपि मुने | ५ | ४६ |
| भित्त्वेव भाभिः सवितु | १६ | ५१ |
| भुजगराजसितेन | ५ | ४ |
| भूभर्तुः समधिकमादधे | ७ | २७ |
| भूयः समाधानविरुद्ध | १७ | ७ |
| भूरिप्रभावेण रमाभि | १७ | २ |
| भूरेणुना रासभधूसरेण | १६ | ७ |
| भृशकुसुमशरेष | १० | ६१ |
| भ्रू विलाससुभगाननु | ६ | ५६ |
| मग्ना द्विषच्छद्मनि | ३ | ३६ |
| मणिमयूखचयांशुक | ५ | ५ |
| मतिभेदनमस्तिरो | २ | ३३ |
| मतिमान्विनयप्रमाथि | २ | ५२ |
| मथिताम्भसो रयविकीर्ण | १२ | ५१ |
| मदमानसमुद्धतं | २ | ४६ |
| मदसिक्तमुखैर्मृ गा | २ | १८ |
| मदस्तुतिश्यामित | १६ | २ |
| मधुरैरवशानि | २ | ५५ |
| मध्यमोपलनिभे लसदशा | ६ | २ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| मनसा जपैः प्रणतिभिः | ६ | २२ |
| मन शिलाभङ्गनिभेन | १६ | ४५ |
| मनोरमं प्रापितमन्तरं | ४ | ७ |
| मन्दमस्यन्निपुलता | १५ | १३ |
| मया मृगान्हन्तुरनेन | १४ | २५ |
| मरुत. शिवा नवतृणा | ६ | ३३ |
| मरुता पति स्विद | १२ | १५ |
| महता मयूखनिचयेन | १२ | १३ |
| महते फलाय तदवेक्ष्य | ६ | २८ |
| महत्त्वयोगाय महा | ३ | २३ |
| महर्षभस्कन्धमनून | १४ | ४० |
| महानले भिन्नसिताभ्र | १६ | ५७ |
| महारथाना प्रतिदन्त्य | १६ | १४ |
| महास्त्रदुर्गे शिथिल | १६ | ३६ |
| महिपक्षतागुरुतमाल | १२ | ५० |
| महीभृता पक्षवतेव | १६ | १३ |
| महीभृता सच्चरितै | १ | २० |
| महेषुजलधौ शत्रो | १५ | ३२ |
| महौजसो मानधना | १ | १९ |
| मा गमन्मदविमूढ | ९ | ७० |
| मा गाच्चिरायैकचरः | ३ | ५३ |
| मानिनीजनविलोचन | ९ | २६ |
| मा भूवन्नपथहृतस्तवे | ५ | ५० |
| माया स्विदेषा मति | १६ | १८ |
| मार्गणैरथ तव | १३ | ५९ |
| मा विहासिष्ट समरं | १५ | ८ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| माहेन्द्र नगमभितः | ७ | २० |
| मित्रमिष्टमुपकारि | १३ | ५१ |
| मुकुलितमतिशय्य | १० | २७ |
| मुक्तमूललघुरुज्झित | ६ | ५ |
| मुखैरसौ विद्रुमभङ्ग | ४ | ३६ |
| मुच्यतीशे शराञ्जिष्णौ | १५ | ३४ |
| मुदितमधुलिहो वितानी | १८ | २० |
| मुनयस्ततोऽभिमुख | १२ | २५ |
| मुनिदनुतनयान्विलोभ्य | १० | १६ |
| मुनिमभिमुखता | १० | ४० |
| मुनिरस्मि निरागसः | १३ | ७ |
| मुनिरूपोऽनुरूपेण | ११ | २ |
| मुनीषुदहनातप्ता | १५ | ३० |
| मुनेर्विचित्रैरिषुभि. | १७ | १६ |
| मुनेः शरौघेण तदुग्र | १४ | ५६ |
| मुहुरनुपतता विधूय | १० | ३३ |
| मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनी | १६ | ५३ |
| मूलं दोषस्य हिंपादे | ११ | २० |
| *मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः* | १४ | १५ |
| मृणालिनीनामनुरञ्जितं | ४ | २७ |
| मृदितकिसलय. सुराङ्गना | १० | ६ |
| यच्छति प्रतिमुखं | ६ | १४ |
| यथा निजे वर्त्मनि | १७ | ५७ |
| यथाप्रतिज्ञं द्विषता | ११ | ७४ |
| यथायथ ताः सहिता | ८ | २ |
| यथास्वमाशंसित | १४ | ४३ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| यदवोचत वीक्ष्य | २ | २ |
| यदात्थ कामं भवता | १४ | १८ |
| यदा विगृह्णाति हृतं | १४ | २४ |
| यदि प्रमाणीकृतमार्य | १४ | ११ |
| यदि मनसि शमः किमङ्ग | १० | ५५ |
| यमनियमकृशीकृत | १० | १० |
| यया समासादित | ३ | २२ |
| यशसेव तिरोदधन्मुहु | ३ | ५८ |
| यशोऽधिगन्तु सुख | ३ | ४० |
| यष्टुमिच्छसि पितृन्न | १३ | ६५ |
| यस्मिन्ननैश्वर्यकृत | ३ | १६ |
| यः करोति वधोदर्का | ११ | १६ |
| यः सर्वेषामावरीता | १८ | ४० |
| या गम्याः सत्यसहायाना | ११ | २२ |
| यातस्य ग्रथिततरङ्ग | ७ | १६ |
| युक्तः प्रमाद्यसि हिता | ११ | २६ |
| युक्ता. स्वशक्त्या मुनयः | १८ | २६ |
| युयुत्सुनेव कवच | ११ | १५ |
| येनापविद्धसलिलः | ५ | ३० |
| योगं च त योग्यतमाय | ३ | २६ |
| योषितः पुलकरोधि | ६ | ४१ |
| योषिदुद्धतमनोभव | ६ | ६८ |
| रक्षोभिः सुरमनुजः | १८ | ३६ |
| रत्नेषु राजतनयस्य | १२ | १२ |
| रञ्जिता नु विविधा | ६ | १५ |
| रणाय जत्रः प्रदिशन्निव | १४ | २८ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| रथाङ्गसक्रीडितमश्व | १६ | ८ |
| रम्या नवद्युतिरपैति | ५ | ३७ |
| रयेण सा संनिदधे | १७ | ५२ |
| रहितरत्नचयान्न शिलो | ५ | १० |
| रागकान्तनयनेषु | ९ | ६३ |
| राजद्भिः पथि मरुता | ७ | ६ |
| रात्रिरागमलिनानि | ९ | १६ |
| रामाणामवजितमाल्य | ७ | ७ |
| रिक्तो सविस्रम्भमथा | १७ | ३६ |
| रुचिकरमपि नार्थ | १० | ६२ |
| रुचिरपल्लपुष्पलता | ५ | १९ |
| रुचिराकृति. कनकसानु | ६ | १ |
| रुजन्महेपून्बहुधा | १५ | ५१ |
| रुन्धती नयनवाक्य | ९ | ६७ |
| लघुवृत्तितया भिदा | २ | ५३ |
| लभ्यमेकसुकृतेन | १३ | ५२ |
| लभ्या धरित्री तव | ३ | १७ |
| लिलिक्षतीव क्षयकाल | १६ | ५४ |
| लेखया विमलविद्रुम | ९ | २२ |
| लोकं विधात्रा विहितस्य | ३ | ४१ |
| लोचनाधरकृता | ९ | ६० |
| लोलदृष्टि वदनं | ९ | ४७ |
| वदनेन पुष्पितलतान्त | १२ | '४१ |
| वनान्तशय्याकठिनी | १ | ३६ |
| वनाश्रयाः कस्य मृगाः | १४ | १३ |
| वनेऽवने वनसदा | १५ | १० |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| वपुरिन्द्रियोपतपनेषु | १२ | ३ |
| वपुषा परमेण भूधरा | १३ | १ |
| वय मव वर्णाश्रमरक्षणो | १४ | २२ |
| वरं कृतध्वस्तगुणा | १५ | १५ |
| वरोरुभिर्वारणहस्त | ८ | २२ |
| वसूनि वाञ्छन्न वशी | १ | १३ |
| वशलक्ष्मीमनुद्धृत्य | ११ | ६६ |
| वशोचितत्वादभिमान | १७ | ४ |
| वाजिभूमिरिभराज | १३ | ५५ |
| वाससां शिथिलतामुप | ६ | ६५ |
| विकचवारिरुहं दधतं | ५ | १३ |
| विकसितकुसुमाधरं | १० | ३२ |
| विकार्मुकः कर्मसु शोच | १७ | ५३ |
| विकाशमीयुर्जगतीश | १५ | ५२ |
| विकोशनिर्धौततनो | १७ | ४५ |
| विगणय्य कारणमनेक | ६ | ३७ |
| विगाढमात्रे रमणीभिः | ८ | ३१ |
| विचकर्ष च संहितेषु | १३ | १८ |
| विचित्रया चित्रयतेव | १६ | ३ |
| विच्छिन्नाभ्रविलायं | ११ | ७६ |
| विजहीहि रणोत्साहं | ११ | ३१ |
| विजिगीषते यदि जगन्ति | १२ | ३० |
| विजित्य यः प्राज्य | १ | ३५ |
| विततशीकरराशिभिः | ५ | १५ |
| वितन्वतस्तस्य शरा | १७ | २० |
| विदिताः प्रविश्य विहितो | ६ | ३० |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| व्यथितमपि भृश मनो | १० | २२ |
| व्यथितसिन्धुमनीरशनै. | ५ | ११ |
| व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्च | ५ | ३५ |
| व्यपोहितु लोचनतो | ८ | १६ |
| व्यानशे शशधरेण | ९ | १७ |
| व्याहृत्य मरुता पत्या | ११ | ३७ |
| व्रज जय रिपुलोक | १८ | ४८ |
| व्रजति शुचि पद त्वयि | १८ | २६ |
| व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्र | १३ | २१ |
| व्रजन्ति ते मूढधिय | १ | ३० |
| व्रजाजिरेष्वम्बुदनाद | ४ | १६ |
| व्रणमुखच्युतशोणित | १८ | ४ |
| व्रीडानतैराप्तजनोप | ३ | ४२ |
| शक्तिरर्थपतिषु स्वय | १३ | ६१ |
| शक्तिवैकल्यनम्रस्य | ११ | ५९ |
| शङ्किताय कृतबाष्प | ९ | ४६ |
| शतशो विशिखानवद्यते | १५ | ४८ |
| शमयन्धृतेन्द्रियशमैक | ६ | २० |
| शरण भवन्तमति | १८ | २२ |
| शरदम्बुधरच्छाया | ११ | १२ |
| शरवृष्टि विधूयोर्वी | १५ | ४१ |
| शरानवद्यन्ननवद्य | १७ | ५६ |
| शशधर इव लोचनाभि | १० | ११ |
| शम्भोधनुर्मण्डलत | १५ | ४९ |
| शाखावसक्तकमनीय | ७ | ४० |
| शान्तता विनययोगि | १३ | ३७ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| शारतां गमिया शशि | ९ | २९ |
| शिरसा हरिन्मणिनिभः | ६ | २३ |
| शिलापर्नैनविसदा | ८ | ३२ |
| शिवध्वजिन्यः प्रतियोध | १४ | ५८ |
| शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन | १७ | ५८ |
| शिवमुआहृतिभिन्न | १८ | ३ |
| शिवमौपयिक गरी | २ | ३५ |
| शीधुपानविधुरासु | ९ | ४२ |
| शीधुपानविधुरेषु | ९ | ७३ |
| शुक्लैर्मयूखानिचयैः | ५ | ४२ |
| शुचि भूपपति श्रुत | २ | ३२ |
| शुचिरप्सु विद्रुमलता | ६ | १३ |
| शुचिवल्कवीततनुरन्य | ६ | ३१ |
| शुभाननाः साम्बुरुहेषु | ८ | ४२ |
| शून्यामाशीर्नतामेति | ११ | २७ |
| श्च्योतन्मयूखेऽपि हिम | ३ | ८ |
| श्रद्धेया विप्रलब्धारः | ११ | ३५ |
| श्रियः कुरूणामधिपस्य | १ | १ |
| श्रियं विकर्षत्यपहन्त्य | ३ | ७ |
| श्रिया हसद्भिः कमलानि | ८ | ४४ |
| श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरा | ७ | ३० |
| श्रीमद्भिः सरथगजै. | ७ | १ |
| श्रीमल्लताभवनमोषधय. | ५ | २८ |
| श्रुतमप्यधिगम्य | २ | ४१ |
| श्लिष्यगुरुमुरवीश्लिष्ट | १० | १८ |
| श्वेतश्री नव नवाभ्राणां | ११ | ११ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| श्रेयसोऽप्यस्य ते तात | ११ | ४४ |
| श्लिष्यतः प्रियवधूरुप | ६ | २७ |
| श्वसनचलितपल्लवा | १० | ३४ |
| श्वस्त्वया मुखसवित्तः | ११ | ३४ |
| स किसखा साधु न | १ | ५ |
| सक्ति जवादपनयत्न | ५ | ४६ |
| स क्षत्रियस्त्राणसहः | ३ | ४८ |
| स खण्ड प्राप्य पराद | १७ | ६० |
| सखा स युक्तः कथितः | १४ | २१ |
| सखि पितमिहानयेति | १० | ४७ |
| सखीजन प्रेम गुरुकृता | ८ | ११ |
| सखीनिव प्रीतियुजो | १ | १० |
| स गतः क्षितिमुष्ण | १३ | ३१ |
| सचकितमिव विस्मया | १० | ७ |
| स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य | ६ | १५ |
| सजलजलधर नभो | १० | १६ |
| सज्जनोऽसि विजहीहि | १३ | ६६ |
| सज्य धनुर्वहति यो | १३ | ७१ |
| स ततार सैकतवतीरभितः | ६ | १६ |
| स तदोजसा विजित | १२ | २६ |
| स तमालनिभे रिपौ | १३ | २४ |
| स तमाससाद घननाल | १२ | ५३ |
| सदृशमतनुमाकृतेः | १० | १३ |
| सद्यना विवचनाहित | ६ | ३४ |
| सद्वादितेवाभिनिविष्ट | १७ | ११ |
| स धनुर्महेषुधि | १२ | २७ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| सरोजपत्रे नु विलीन | ८ | ३५ |
| सललितचलित | १० | ५२ |
| सलीलमासक्तलता | ८ | १६ |
| सलेशमुल्लिखितशात्रवे | १४ | २ |
| स वशस्यावदातस्य | ११ | ७५ |
| सविनयमपराभिसृत्य | १० | ५७ |
| स वृषध्वजसायकावभिन्न | १३ | २८ |
| सव्यलीकमवधीरित | ६ | ४५ |
| सव्यापसव्यध्वनितो | १७ | २५ |
| सव्रीडमन्दरिव | ३ | ४६ |
| ससत्त्वरतिदे नित्य | १५ | २७ |
| स समुद्धरता विचिन्त्य | १३ | ३४ |
| स सम्प्रधार्यैवमहार्ये | १६ | २५ |
| स सायकान्साध्वस | १७ | २१ |
| स सासि सासुसू | १५ | ५ |
| ससुरचापमनेकमणि | ५ | १२ |
| सहशरधि निज तथा | १८ | १६ |
| सहसा विदधीत | २ | ३० |
| सहसोपगत स | २ | ५६ |
| सक्रान्तचन्दनरसा | ८ | ५७ |
| सन्तत निशमयन्त | १३ | ४७ |
| सन्निबद्धमपहर्तु | १८ | ३० |
| सम्पश्यतामिति | १५ | ५३ |
| सम्प्रति लब्धजन्म | ५ | ४३ |
| सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव | १७ | १३ |
| सम्भितामविरलपातिभि | ७ | २३ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| सरोजपत्रे नु विलीन | ८ | ३५ |
| सललितचलित | १० | ५२ |
| सलीलमासक्तलता | ८ | १६ |
| सलेशमुल्लिखितशात्रवे | १४ | २ |
| स वशस्यावदातस्य | ११ | ७८ |
| सविनयमपराभिसृत्य | १० | ५७ |
| स वृषध्वजसायकावभिन्न | १३ | २८ |
| सव्यलीकमवधीरित | ६ | ४५ |
| सव्यापसव्यध्वनितो | १७ | २५ |
| सव्रीडमन्दरिव | ३ | ४६ |
| ससत्त्वरतिदे नित्य | १५ | २७ |
| स समुद्धरता विचिन्त्य | १३ | ३४ |
| स सम्प्रधार्यैवमहार्य | १६ | २५ |
| स सायकान्साध्वस | १७ | २१ |
| स सासि सासुसू | १५ | ५ |
| ससुरचापमनेकमणि | ५ | १२ |
| सहशरधि निज तथा | १८ | १६ |
| सहसा विदधीत | २ | ३० |
| सहसोपगत स | २ | ५६ |
| सक्रान्तचन्दनरसा | ८ | ५७ |
| सन्तत निशमयन्त | १३ | ४७ |
| सन्निबद्धमपहर्तु | १८ | ३० |
| सम्पश्यतामिति | १५ | ५३ |
| सम्प्रति लब्धजन्म | ५ | ४३ |
| सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव | १७ | १३ |
| सम्भिन्नामविरलपातिभि | ७ | २३ |

| | सर्ग | श्लोक संख्या |
|---|---|---|
| सुलभैः सदानयवता | ५ | २० |
| सुहृद सहृआ | २ | ४५ |
| सृजन्तमाजाविषु | ३ | २० |
| सेतुत्व दधति पयोमुचा | ७ | १६ |
| सोढवान्नो दशामन्त्या | ११ | ५३ |
| सोढावगीतप्रथमा | १७ | २८ |
| सोत्कण्ठैरमरगणै | ७ | २ |
| स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय | १४ | ५ |
| स्थिरमुन्नते तुहिन | १२ | २१ |
| स्थित विशुद्धे नभसीव | १७ | ४८ |
| स्थितस्थितिकान्तिशीरूण | ११ | ५४ |
| स्नपितनवलतातरु | ५ | ४४ |
| स्पृहणीयगुणैर्महा | २ | ३६ |
| स्फुटता न पदैरपा | २ | २७ |
| स्फुटपौरुषमापपात | १३ | ३२ |
| स्फुटबद्धसटोन्नति | १३ | २ |
| स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीक | १५ | ३९ |
| स्मयते तनुभृता सनातन | १३ | ४२ |
| स्यन्दना नो चतुरगा | १५ | १६ |
| स्वकेतुभि पाण्डुर | १६ | ५८ |
| स्वगोचरे सत्यपि चित्त | ८ | १३ |
| स्वधर्ममनुरुन्धते | ११ | ७८ |
| स्वय सर श्वेव शरमद | १० | ६३ |
| स्वादितः स्वयमथैधित | ६ | ५५ |
| हताहतत्युद्धनभीम | १६ | ५ |
| हरपृथासुतयो | १८ | २ |
| हरसैनिका प्रतिभये | १२ | ४८ |
| हरिन्मणिश्याममुदग्र | १४ | ४१ |
| हंसा बृहन्त सुरसद्म | १८ | १९ |
| हृता गुणैरस्य भयेन | १४ | ६१ |
| हृतोत्तरीया प्रसभ | ११ | ४९ |
| हृदाम्भसि व्यस्तवधू | ८ | ४३ |
| ह्रीतया गलितनीवि | ९ | ४८ |
| ह्रेपयन्नहिमतेजस | १३ | ४१ |